चन्द्रगुप्त

अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दि

आलोचनात्मक अध्ययन

चन्द्रगुप्त समीक्षा

(चन्द्रगुप्त का सर्वांगपूर्ण आलोचनात्मक विशद विवेचन)

नवीन परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण

Mukesh K. Soodan

लेखक:

डा० कृष्णदेव शर्मा

प्रकाशक :



अशोक प्रकाशन

नई सड़क दिल्ली-६

प्रकाशक
जगदीश चन्द्र गुप्त
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-110006
फोन : 3262976

नवीन संस्करण : 1996
मूल्य : 30.00

लेजर कम्पोजिंग
जय कम्प्यूटर, नकुल गली, दिल्ली-32 फोन : 2411483
मुद्रक :
ग्लोब आफसेट प्रैस, दिल्ली-110006

• पुरावृत्ति-पुनरावृत्त

- 'चन्द्रगुप्त समीक्षा' नाम्नी पुस्तक का नवीन परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण नवीन रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत है। प्रस्तुत पुस्तक की अल्पावधि में ही समाप्त हो जाना, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि छात्रों ने इससे समुचित लाभ उठाया है; यह इसकी लोक प्रियता का परिचायक है।

- 'चन्द्रगुप्त समीक्षा' में 'चन्द्रगुप्त उद्देश्य', 'चन्द्रगुप्त : राष्ट्रीयता की भावना' 'चन्द्रगुप्त : सुखान्त अथवा दुःखान्त' 'चन्द्रगुप्त : काल योजना और चन्द्रगुप्त : नामकरण' नामक पांच नवीन अध्याय और जोड़ दिये गए हैं। कुछ अध्यायों को पुनः नवीन रूप से लिखा गया है। चन्द्रगुप्त में आये सभी महत्त्वपूर्ण गीतों एवं व्याख्येय स्थलों की व्याख्या भी इस बार दे दी गई है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता-महत्ता निश्चय ही बढ़ गई है।

- प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने जो अपने अमूल्य सुझाव भेजे थे, उन्हें यथा स्थान पुस्तक में समाविष्ट कर दिया है। लेखक इसके लिए उन सब विद्वानों का हृदय से आभारी है।

- विश्वास है, छात्रगण पूर्व की भांति इसे भी अपनायेंगे।

७३, गौतमनगर, नई दिल्ली

विनीत
कृष्णदेव शर्मा

अनुक्रमणिका

: १ :

चन्द्रगुप्त : कथासार

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य—तक्षशिला गुरुकुल में नाटक के पाँच प्रमुख पात्रों का दर्शन होता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण अलका, आम्भीक इन पाँचों की चारित्रिक विशेषताएँ यहाँ संकेत में मिल जाती हैं। चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण के साथ वार्तालाप करके राष्ट्र के ऊपर आने वाली भावी संकटकालीन स्थिति की ओर संकेत करता है। उस समय की राजनैतिक-शिक्षा सम्बन्धी एवं राजनीति में स्त्रियों की स्थिति के विषय में भी हमें आभास मिलता है। इसी दृश्य में ब्राह्मणत्व पर गर्व रखने वाले चाणक्य की राजनैतिक दूरदर्शिता, उद्देश्य की रूपरेखा एवं बुद्धि की कुशलता के भी दर्शन होते हैं। सिंहरण के ये वाक्य कि 'शीघ्र भयानक विस्फोट होगा', 'आर्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।' "विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है।", 'गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा ही शिरोधार्य होती है, अन्य आज्ञायें अवज्ञा के कान से सुनी जाती है राजकुमार!' 'और वीर हृदय मयूर-से नाचेंगे! तब आओ, देवी स्वागत।' उस वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि के सूचक होने के साथ-साथ उस समय के विद्यार्थियों का राजनीति में भाग लेने की स्थिति का भी आभास होता है। वीर चन्द्रगुप्त का कथन 'प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतन्त्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता है।' 'आत्म सम्मान के लिए ही मर-मिटना ही दिव्य जीवन है', उसका गौरवादर्श एवं आत्मसम्मान व आत्मविश्वास का द्योतक है। इसके साथ ही साथ सिंहरण के प्रति अलका के प्रेम का आकर्षण, उसकी निष्कपटता और राष्ट्रीय भावना का संकेत भी मिलता है। आम्भीक के ये शब्द 'बस बस दुर्धर्ष युवक! बता तेरा अभिप्राय क्या है? तुम सब कुचक्र में लिप्त हो; 'चुप रहो अलका, ऐसी

बात नहीं है जो यों ही उड़ा दी जाय। उसकी उद्दण्डता, दुर्विनीतता, देशद्रोह की भावना एवं अलका के विचारों से विषमता के द्योतक हैं। घटनारूप में सिंहरण और आम्भीक के साथ झड़प, चाणक्य और आम्भीक की बातचीत, चन्द्रगुप्त का सिंहरण के प्रति मित्रता का व्यवहार, अलका और सिंहरण का स्निग्धतापूर्ण वार्तालाप मुख्य घटनाएँ हैं।

द्वितीय दृश्य—इस दृश्य में मगध सम्राट् नन्द के विलास कानन का दृश्य उपस्थित किया गया है। विलासी नन्द वसन्तोत्सव पर अपनी विलासी प्रवृत्ति का नग्न चित्र उपस्थित करता है। मदिरापान की अधिकता एवं राग-रंग की बहुतायत से ऐसा प्रतीत होता है मानो मगध का प्रख्यात शासक नन्द पूर्ण रूप से आमोद-प्रमोद एवं विलास के पंक में निमज्जित है, जो उसके विनाश की पूर्व सूचना ही है। इसी दृश्य में कलाकुशल, संगीत-प्रेमी राक्षस की कुलीनता का भी परिचय होता है और वह अमात्य पद के लिए चुन लिया जाता है। सुवासिनी असहाय होकर नृत्य संगीत को अपने निर्वाह के लिए चुनकर नन्द के आश्रय में रहने लगती है और राक्षस के प्रति उसके प्रेम का सूत्रपात यहीं होता है। सम्राट् नन्द के वाक्य—'तुम सुन्दरी हो; परन्तु तुम्हारे यौवन का विभ्रम अभी संकोच की अर्गला से जकड़ा हुआ है, मैं ब्रह्मशस्त्र से अधिक इन सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ, मेरी मगध की नागरिकाओं का शासन मेरे ऊपर है।'' उसकी 'विलासिता एवं उसके पतनोन्मुख चरित्र की सीमा है, यह नाश का पूर्व संकेत है।

तृतीय दृश्य—पाटलिपुत्र में एक भग्न कुटीर में चाणक्य अकेला दिखाया जाता है। भावुक चाणक्य अपने जन्म-स्थान को देखकर एवं अपने पिता तथा शकटार के वंश पर राजकीय विपत्तियों का संकेत पाकर भविष्य की दिशा का दृढ़ निश्चय करता है। राज्य उलट देने का उसका आवेश एवं उदासीन होकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय ये दोनों प्रवृत्तियाँ उसके मानसिक द्वन्द्व की सूचक हैं। शैशव काल की स्मृति उसकी हार्दिक भावना का संकेत देती है। घरों को 'पशु की खोह' कहकर उसका संकोच, बौद्ध धर्मानुयायी नन्द की ब्राह्मण जाति के प्रति उसकी उपेक्षा की प्रवृत्ति चाणक्य के हृदय में विरोध एवं प्रतिकार की भावना का बीजारोपण करती है।

चतुर्थ दृश्य—कुसुमपुर के सरस्वती मन्दिर के उपवन के पथ में राक्षस और सुवासिनी मिलते हैं और अपने जीवन के मधुमय भविष्य की रूपरेखा एक दूसरे के समक्ष रखते हैं। सुवासिनी अपना अविचल प्रेम राक्षस के प्रति प्रकट करती है। राक्षस पहले तो नन्द और सुवासिनी के बीच का रोड़ा बनने में राजकोप का अनुभव करके भयभीत होता है। बाद को, प्रेम की बलिवेदी पर मर-मिटने के लिए दृढ़ निश्चयी होकर सुवासिनी के कथनानुसार ही बौद्धमत का समर्थक बनने को तत्पर हो जाता है तभी राजकुमारी कल्याणी अपनी सखी नीला के साथ आती है जो उसे तक्षशिला से लौटे हुए स्नातकों की सूचना देती है। साथ ही नन्द की क्रूर और विलासिनी प्रवृत्ति का संकेत भी मिलता है। उसी उपवन में दो ब्रह्मचारियों का प्रवेश होता है। उनके वार्तालाप भी मगधराज की अत्याचारी प्रवृत्ति और विलासिता की ही पुष्टि करते हैं। साथ ही, स्वतन्त्र गणतन्त्रों में प्रजा की खुशहाली का भी संकेत देते हैं। उनके जाने के पश्चात् अहेरी चीते के भाग निकलने की घटना से विद्याध्ययन करके लौटे हुए चन्द्रगुप्त का साक्षात् भी, ऐसी विपन्नावस्था में राजकुमारी कल्याणी से होता है।

पंचम दृश्य—इस दृश्य का स्थान मगध में नन्द की राजसभा है। अमात्य राक्षस के साथ-साथ नन्द को तक्षशिला से लौटे हुए स्नातकों के शिक्षा पूर्ण करने की सूचना मिलती है। वरिष्ठ मन्त्री वररुचि की तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रति सम्मानपूर्ण भावना प्रकट होती है। उसी सभा में चाणक्य का प्रवेश होता है जो राज्य को आने वाले संकट की चेतावनी देता है। वह ब्राह्मण-धर्म की पुष्टि करता हुआ बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार और राष्ट्ररक्षा के लिए अधूरी बतलाता है। उसने यह भी बताया कि उसने तक्षशिला विद्यालय में अध्यापक का कार्य करके मगध राज्य का सम्मान बढ़ाया है। इसी समय वह अपने साहस एवं दूरदर्शिता से नन्द को बतलाता है कि आने वाले यवन आक्रमण में मगध को पर्वतेश्वर को सहयोग प्रदान करना चाहिए। कल्याणी के कथन से यह बात ज्ञात होती है कि पर्वतेश्वर ने कल्याणी के साथ शूद्रवंशी और वृषल होने के कारण विवाह सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। वह इस अपमान का बदला लेना चाहती है। अन्त में, चाणक्य के उद्धत कथनों से नन्द उसे विद्रोही ब्राह्मण कहकर निकालने की आज्ञा देता है। चन्द्रगुप्त गुरु के सम्मान की रक्षा करना

चाहता है। नन्द चाणक्य की चोटी खिचवा कर सभा से निकलवाता है, तभी चाणक्य नन्द कुल के उन्मूलन की प्रतिज्ञा करता हुआ वहाँ से निकलता है।

षष्ठ दृश्य—इस दृश्य में सिन्धु तट पर अलका, मालविका और सिंहरण मंच पर आते हैं। मालविका उद्भाण्ड का एक चित्र अलका को देती है। उसी को छीनने के लिए एक यवन गुप्तचर आता है, पर अलका प्राण-पण से उसे न देने का दृढ़ निश्चय करती है। जैसे ही यवन सैनिक शक्ति प्रयोग करना चाहता है, सिंहरण का प्रवेश होता है। हल्का-सा असि-कौशल दिखाया जाता है, सिंहरण घायल होता है, पर यवन सैनिक सिंहरण के प्रबल पराक्रम से अभिभूत होकर भाग जाता है। तभी पूर्व योजना के अनुसार सिंहरण चित्र व मालविका को साथ लेकर पुल की ओर चला जाता है। पुन: यवन सैनिक के साथ कई और सैनिक आते हैं और अलका को राजद्रोही सिद्ध करके बन्दिनी बनाना चाहते हैं, पर अलका स्वत: ही बन्दिनी होकर गांधार नरेश के पास जाती है।

सप्तम दृश्य—स्थान मगध का बन्दीगृह है। राष्ट्र-कल्याण एवं सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के गौरव की रक्षा में चिन्तित बन्दी चाणक्य दिखाया जाता है। बन्दी अवस्था में वह पिंजड़े में बन्द सिंह और घायल सर्प के समान ही आत्मगत फूत्कारें ही करता है। इस अवस्था में उसका यह प्रण कि 'दया न किसी से माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा' उसकी कठोरता एवं परिस्थितिजन्य निष्ठुरता का द्योतक है। बन्दीगृह में ही यह सोच कर कि बन्दीगृह में पड़ा हुआ चाणक्य झुक जायेगा, वररुचि और अमात्य राक्षस समझाने के लिए आते हैं। पर वह अपनी दूरदर्शिता से कह देता है कि—'जाना तो चाहता था तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं और सुनो पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।' पुन: वररुचि के साथ उसका हल्का-सा विवाद होता है और वह वैय्याकरण होने से अधिक जीवन में कमठ होना पसन्द करता है। उसी समय चन्द्रगुप्त आकर चाणक्य को बन्धन-मुक्त करता है।

अष्टम दृश्य—स्थान गांधार नरेश का प्रकोष्ठ है। राजा, अलका, आम्भीक तीनों ही मंच पर आते है और अपनी-अपनी मनोवृत्ति की झलक

दिखाते हैं। अलका बंदिनी रूप में राजा (अपने पिता) से न्याय कराने के लिए आती है। वह कहती है कि "मैं अपराधिनी हूँ, दण्ड मिलना चाहिए।" अन्त में, अलका राष्ट्रप्रेम की चिंगारी की अभिव्यक्ति करती हुई और अपने भाई को कुलद्रोही बतलाती हुई राष्ट्र रक्षा के लिए पिता से आज्ञा मांग कर घरबार छोड़कर चल देती है।

नवम दृश्य--इस दृश्य का स्थान पर्वतेश्वर की राजसभा है। इसमें केवल चाणक्य और पर्वतेश्वर का वार्तालाप ही है। चाणक्य बड़े बुद्धि-कौशल से पर्वतेश्वर को बता देता है कि आने वाली विपत्ति सम्पूर्ण आर्यावर्त के लिए हानिकारक है और कुमार चन्द्रगुप्त शुद्ध क्षत्रिय रक्त का है। आर्य क्रियाओं के लोप हो जाने से ही पिप्पली कानन के मोर्यों को वृषलत्व मिला है। उसे यह भी विश्वास है कि ब्राह्मण में व्यक्ति को देखकर उसके संस्कार करने की भी क्षमता है। चाणक्य की उद्धत बातों से उद्दीप्त होकर पर्वतेश्वर चाणक्य को अपनी राज्य सीमा से निकल जाने को कह देता है।

दशम दृश्य—स्थान कानन पथ है। प्रारम्भ में अलका और सिल्यूकस की भेंट होती है। 'इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं।' इस कथन में अलका की स्वदेश-भक्ति टपक रही है। सिल्यूकस द्वारा 'निकल गई' कही जाने पर उसकी वासनात्मक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। पुनः चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। पुनः व्याघ्र की घटना से चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस का साक्षात् कराया है। व्याघ्र से अपनी रक्षा सिल्यूकस द्वारा हुई जानकर चन्द्रगुप्त उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त को यवन सेनापति के साथ-साथ बातें करते हुए देखकर अलका के मन में सन्देह होता है और वह बड़ी ही अन्यमनस्क होकर महात्मा दाण्डायन के आश्रम में जाती है।

एकादश दृश्य—यह इस अंक का अन्तिम दृश्य है। स्थान सिन्धुतट पर महात्मा दाण्डायन का आश्रम है। भारतीय महान् दार्शनिक दाण्डायन अपनी कुटिया के आगे बैठे हुए प्रकृति से बातें करते हैं, तभी यवन सैनिक एनिसा-क्रीटीज का प्रवेश होता है। दोनों की बातचीत होती हैं। महात्मा दाण्डायन सिकन्दर के प्रभाव और शक्ति से अभिभूत नहीं होते। वे यवन सैनिक को ऐसी

शिक्षा देते हैं जिससे उसे मालूम हो जाय कि भारतीय कितने बड़े दार्शनिक और साहसी होते हैं। वे निर्भीकता से सिकन्दर के पास न जाने को कह देते हैं। तभी अलका, चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रवेश होता है। अलका अपनी शंका प्रकट करती है। चन्द्रगुप्त 'कृतज्ञता का बन्धन अमोघ होता है' कहकर उसकी शंका का समाधान करता है। पुनः सिकन्दर के साथ सिल्यूकस, कार्नेलिया और एनिसाक्राटीज का प्रवेश होता है। उसके साथ हुए वार्तालाप से भी महात्मा दाण्डायन की साहसी एवं निडर प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। चन्द्रगुप्त को देखकर 'तेजस्वी युवक' सिकन्दर के लिए स्वाभाविक ही है। अन्त में, दाण्डायन भारत के भावी सम्राट् के विषय में भविष्यवाणी करते हैं और दृश्य समाप्त हो जाता है।

सम्पूर्ण अंक का सिंहावलोकन—सम्पूर्ण नाटक में तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं--(१) अलक्षेन्द का आक्रमण, (२) नन्दकुल का उन्मूलन, (३) सिल्यूकस का पराभव। इन इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं में से प्रथम का उल्लेख इस अंक में हुआ है। तक्षशिला गुरुकुल में युवकों की एक ऐसी मण्डली मञ्च पर आती है, जो तत्कालीन राजनैतिक क्रांति की ज्वाला को प्रज्वालत करने में प्रयत्नशील है। प्रथम दृश्य में ही मैत्री, प्रेम और विरोध का बीजांकुर दिखाई देता है। क्रमानुसार विरोधी दलों का सामना होता है, संघर्ष प्रबल होता है और नाटकीय घटनाओं में जटिलता बढ़ती है। विकास मन्थर गति से आगे बढ़ता है। कथानक मगध से लेकर गांधार तक फैल जाता है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य नन्दकुल की जड़ में संघर्ष जमा देते हैं और बीज को ऊष्मा व जल देने लगते हैं। इधर घटनाओं के दूसरे केन्द्र स्थल गान्धार राज्य में, सिंधु तट पर भी अलका और सिंहरण की प्रेरणा से संघर्ष प्रारम्भ होता है। उचित समय पर चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस का परिचय होता है। अन्त में, दाण्डायन के आश्रम में सिकन्दर भी चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व से प्रभावित होता है। इन सब घटनाओं के साथ ही ऐतिहासिक सत्य भी सामने आते हैं और राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति का परिचय भी मिलता है। पर्वतेश्वर और गांधार नरेश के बद्धमूल वैर नाटक के विकास में महत्त्वपूर्ण हैं। उधर चाणक्य की बुद्धिकुशलता से नन्दकुल और पर्वतेश्वर में नाटकीय

ढंग से विषमता जम जाती है। सर्वत्र यह जिज्ञासा बनी रहती है कि अब आगे क्या होगा ?

कुछ खटकने वाली बातें—(१) प्रथम दृश्य में ही प्रान्तीयता के रूप में संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय मिलता है—पर चाणक्य के विपरीत कथन में गुरुकुल में ही असि का कोष से बाहर आना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

(२) तीसरा और चौथा दृश्य कथा-विकास में पूर्ण रूप से बाधा उपस्थित करता है। इन दृश्यों को किसी अन्य दृश्य में मिलाया जा सकता था। अभिनेयता के लिए ये बाधक ही हैं।

(३) दूसरे दृश्य के इतने लम्बे-लम्बे गीत कथा-विकास में बाधक हैं। इनकी भाषा दुरूह हो गयी है।

(४) चाणक्य द्वारा हर स्थान पर 'ब्राह्मण' शब्द का पाठ पढ़ना अधिक स्वाभाविक नहीं लगता।

(५) अचेत चन्द्रगुप्त के पास भयंकर व्याघ्र को बैठा देना अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

(६) भोले-भाले बच्चे की तरह सिल्यूकस को चकमा देकर अलका का ओझल होना हास्यजनक है।

(७) दसवाँ दृश्य कथा-संगठन की दृष्टि से महत्त्वहीन है।

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य—इस दृश्य में फिलिप्स और सिल्यूकस और कार्नेलिया, चन्द्रगुप्त और सिकन्दर आदि कई विपक्षी हैं, जिनका परिचय हमें प्रथम अंक के सभी दृश्यों में मिल चुका है। प्रारम्भ में एकाकिनी कार्नेलिया सिन्धु के किनारे ग्रीक शिविर में बैठी है। उसका हृदय भारत की प्राकृतिक शोभा से विमुग्ध है। वह भारत-भक्ति का गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' बड़ी तल्लीनता से गाती है। उसी समय दुष्प्रवृत्ति वाला फिलिप्स शिविर में प्रवेश करता है। वह अपनी कलुषित मनोवृत्ति को अभिव्यक्त करता है। कार्नेलिया उसे ठुकराती है। अन्त में वह कामाग्निभूत होकर उसके ऊपर अत्याचार करना चाहता है। तभी चन्द्रगुप्त प्रवेश करके उसका त्राण करता है। पुनः मंच

पर सिकन्दर आता है, जो चिन्तामग्न दिखाई देता है। तभी फिलिप्स, आम्भक, सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। चन्द्रगुप्त को अपनी सहायता का लोभ देना चाहता है, पर वह स्वाभिमानी, साहसी, वीर क्षत्रिय शत्रु के शिविर में ही 'मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवनों लुटेरों की सहायता से नहीं,' लूट के लोभ से हत्याव्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर साहसी कहना, रण कला का उपहास करना है,' 'अनार्य! देशद्रोही! आम्भीक! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।' अन्त में वह आम्भीक, फिलिप्स, एनिसाक्रीटीस को घायल करता हुआ शिविर से बाहर हो जाता है।

द्वितीय दृश्य—स्थान झेलम तट का वन पथ है। पहले चन्द्रगुप्त, चाणक्य और अलका का प्रवेश होता है। ये तीनों सिंहरण की प्रतीक्षा करते हुए बातचीत करते हैं। चाणक्य का सिंहरण के आगमन पर पूर्ण विश्वास है। इसी समय सिंहरण गांधार नरेश को सहारा देते हुए लाता है। अलका का अपने पिता से साक्षात् होता है। पुनः भावी योजना के विषय में चाणक्य बताता है कि "सिंहरण और अलका को नट-नटी एवं चन्द्रगुप्त को सपेरा और ब्रह्मचारी बनना होगा तथा पर्वतेश्वर की सेना में तुम सबका कार्य-व्यापार होगा। उसी सेना में मगध-राजकुमारी कल्याणी पुरुष वेष धारण करके अपनी पृथक् छावनी डाले हुए है। वहीं पुरुष वेश में कल्याणी और पर्वतेश्वर की बातचीत होती है। पुनः नट, नटी और सपेरे के वेश में सिंहरण, अलका और चन्द्रगुप्त की बातचीत पर्वतेश्वर से होती है। ये यवन सेना के विषय में कुछ सूक्ष्म संकेत करके कल्याणी के शिविर की ओर जाते हैं, जहाँ कल्याणी और चन्द्रगुप्त आपस में एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। यहीं दृश्य समाप्त होता है।

तृतीय दृश्य—स्थान युद्ध क्षेत्र है। पर्वतेश्वर का सेनापति से यह कहना "मैं स्वयं गज सेना का संचालन करूँगा' युद्ध की संघर्षता को प्रकट करता है। उसी समय वेश बदले चन्द्रगुप्त और कल्याणी प्रवेश करते हैं। उनके वार्तालाप से केवल यह प्रकट होता है कि कल्याणी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है और चन्द्रगुप्त को देश की दुर्दशा के प्रति चिन्ता है। वे पुनः युद्ध करते हैं।

सिल्यूकस और पर्वतेश्वर का प्रवेश, पर्वतेश्वर की अपनी शूरवीरों की ओज भरी वक्तृता देना युद्ध के अनुकूल ही है। पर थोड़ी ही देर पश्चात् वह सिकन्दर से सन्धि स्वीकार कर लेता है। पर्वतेश्वर के पतन में सहायक न होने पर राजकुमारी कल्याणी छद्म-वेष उतार कर यह कहते हुए चली जाती है— "तुम्हारे पतन में सहायक न हो सकी, बड़ी निराश हुई।" अन्त में घायल सिंहरण और अलका को आम्भीक आकर बन्दी बनाता है और उन्हें सिकन्दर की सहमति से पर्वतेश्वर के शिविर में रखा जाता है।

चतुर्थ दृश्य—स्थान मालव में सिंहरण के उद्यान का एक अंश है। प्रारम्भ में कोमल-कल्पनामयी मालविका और अतृप्त चन्द्रगुप्त की बातचीत होती है। चन्द्रगुप्त स्निग्ध भावना से यह कहकर कि "रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ, तो कोई हानि नहीं होगी" प्रकट होता है। तभी चाणक्य का प्रवेश होता है। वह चन्द्रगुप्त को ऐसी कोमल और असामयिक बातों से वर्जित करके यवन-सेना की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता है। यहीं यह ज्ञात हो जाता है कि मगध की कई लाख सेना को सुनकर सिकन्दर के सिपाही विद्रोह कर देते हैं और आगे बढ़ने के लिए प्रतिकार करते हैं। इधर चाणक्य की ओर से मालवों को अपनी ओर मिलाने का पूर्ण प्रयत्न हो रहा है। चन्द्रगुप्त क्षुद्रकों की सेना का सेनापति बनता है। अन्त में, मालविका और चन्द्रगुप्त के वार्तालाप से दृश्य समाप्त होता है।

पंचम दृश्य—स्थान बन्दीगृह है। घायल सिंहरण और अलका का वार्तालाप होता है। अलका सिंहरण को यह बता देती है कि उनका बंदी होना आचार्य चाणक्य को ज्ञात है। मालवों पर आक्रमण होने से निश्चिन्तता इसलिए प्रकट होती है, क्षुद्रकों और मालवों में सन्धि हो गई है। उन दोनों की सम्मिलित सेना का सेनापति चन्द्रगुप्त आक्रमण का प्रतिरोध करेगा। वीर हृदय सिंहरण युद्ध की बात सुनकर हर परिस्थिति में वहाँ पहुंचने के लिये लालायित होता है। वह अलका से कोई युक्ति निकालने के लिए कहता है। यहाँ यह भी सूचना मिल जाती है कि पर्वतेश्वर और आम्भीक में सन्धि हो गई है। सिंहरण के इस कथन से कि 'अलका ! तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी

बनोगी ! अच्छा होता कि इससे पहले मैं न रह पाता ।' उसके अलका के प्रति प्रेम का भी व्यक्तीकरण हो जाता है । अन्त में, अलका पर्वतेश्वर के साथ, चाणक्य की आज्ञा से प्रणय का स्वांग रचकर उसे सिकन्दर को भावी आक्रमण में सहायता न देने के लिए बाध्य कर देती है और वह अपने इसी कपटपूर्ण प्रेम के बल पर सिंहरण को मुक्त करा देती है ।

षष्ठ दृश्य—इस दृश्य में मालवों के स्कन्धावार में युद्ध-परिषद् का आयोजन होता है । मालव और क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का सेनापति प्रारम्भ में नागदत्त आदि के विरोध करने पर भी सिंहरण की अभिलाषानुसार चन्द्रगुप्त बनाया जाता है । व्यास पीठ से चाणक्य का वक्तृता और ओजपूर्ण व्याख्यान होता है जिसमें यह भी संकेत मिल जाता है कि 'यवन सहायता के लिए पर्वतेश्वर की सेना नहीं आयेगी' । यवन सेना में विद्रोह भी हो गया है ।

सप्तम दृश्य—यह दृश्य बहुत ही छोटा है । पर्वतेश्वर के प्रासाद में अलका और पर्वतेश्वर दिखाई पड़ते हैं । पर्वतेश्वर अपनी विषम समस्या को अलका के सम्मुख रखता है क्योंकि वह अपनी प्रेयसी अलका के सम्मुख तो मालव युद्ध में भाग लेने के लिए प्रतिश्रुत हो चुका है, उधर सिकन्दर ने आठ सहस्र अश्वारोही माँगे हैं । ऐसी स्थिति में ही अलका समझा देती है कि सिकन्दर के साथ सन्धि नही हुई, पराधीनता को स्वीकार किया गया है । पर्वतेश्वर एक हजार अश्वारोहियों को लेकर सिकन्दर की ओर जाने की योजना बनाता है उसी समय अलका वहाँ से निकल भागने की योजना निश्चित कर लेती है ।

अष्टम दृश्य—रावी के तट पर सैनिकों के साथ मालविका और चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है । बातचीत में युद्धानुकूल वातावरण की शीघ्रता प्रकट होती है । इसी समय सिंहरण का प्रवेश होता है । चन्द्रगुप्त उससे यवनों की जलसेना पर आक्रमण करने को इसलिए कहता है जिससे उनकी सामग्री नष्ट हो जाय । मालविका उसी समय अलका को यह आकर सूचना देती है कि पर्वतेश्वर प्रतिज्ञा भंग करके सिकन्दर की सहायता को आया है । सिकन्दर के दूत को निरादृत करके सिंहरण लौटा देता है । अन्त में, सिंहरण और चन्द्रगुप्त के वार्तालाप से भारतीय राजनीति की यवन राजनीति से श्रेष्ठता सिद्ध होती है और

इस समय चन्द्रगुप्त सिंहरण को यवन राजनीति से लड़ने के लिए सलाह देता है ।

नवम दृश्य—कल्याणी आर्य चाणक्य से मगध लौटने की आज्ञा माँगती है, पर मनोविज्ञान का पण्डित चाणक्य उसे चन्द्रगुप्त के प्रेमपूर्ण हृदय को ठेस लगने का भय दिखाकर रोक लेता है । उसी समय राक्षस का प्रवेश होता है, उसे वह भावी भय की आशंका दिखाकर उसकी राज्य भक्ति अथवा मगध के प्रति प्रेम को उत्तेजित करते हुए एवं आशंका उत्पन्न करके रोक लेता है । इन दोनों के यहाँ रहने में ही उसे लाभ होने की सम्भावना है ।

दशम दृश्य—यह द्वितीय अंक का अन्तिम दृश्य है । मंच पर मालव दुर्ग का भीतरी दरवाजा दिखाया जाता है । अलका और मालविका का वार्तालाप होता है । दोनों स्त्रियों की बातचीत से स्त्री-सुलभ प्रवृत्तियाँ प्रकट होती हैं । अलका में पुरुषोचित पौरुष विद्यमान है, तभी तो वह आयुध रखने के लिए आग्रह करती है । मालविका का हृदय कोमलता और दया से परिपूर्ण है तभी तो वह कहती है—"मैं डरती हूँ, रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका, मैंने सेवा-व्रत लिया है ।' तभी शीघ्रता से सिकन्दर और सिंहरण एक-दूसरे पर वार करते हुए प्रवेश करते हैं । यवनराज सिंहरण के भयानक प्रत्याघात से घायल होकर गिरता है । सिंहरण सिकन्दर को प्राणदान देकर छोड़ देता है । पीछे से यवन,सेना दुर्ग-द्वार तोड़ती हुई भीतर प्रवेश करती है । सिंहरण वीरता एवं उत्साहपूर्वक मालवों को विश्वास कराता है । उसी समय चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस का प्रत्याघात करते हुए प्रवेश होता है । अन्त में, कृतज्ञता का बोझ हलका करने के लिए चन्द्रगुप्त उसे भी छोड़ देता है ।

सम्पूर्ण अंक का सिंहावलोकन—द्वितीय अंक में सीमा प्रान्त की राजनीति का यथातथ्य उद्घाटन हुआ है । चन्द्रगुप्त फिलिप्स के कामुक व्यवहार से कार्नेलिया की रक्षा करता है । साथ ही, वह कार्नेलिया का प्रेम-भाजन और आकर्षण का केन्द्र बनकर सिकन्दर के मुख पर अपमान की थाप लगाकर उसके शिविर से निर्भय होकर आता है । सिकन्दर और पुरु में युद्ध और तत्पश्चात् सन्धि होती है । चाणक्य का बुद्धि कौशल सूत्र रूप में सम्पूर्ण पश्चिमी सीमा तट में फैला रहता है और उसी के प्रभाव से अलक्षेन्द्र क्षुद्रकों और मालवों से लड़ने के पश्चात् पुनः अपने देश को परावर्तित हो जाता है । यहाँ

क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलित सेना का सेनापति चन्द्रगुप्त बनता है और वह इस पद का शक्तिपूर्वक निर्वाह करता है। इसी समय अलका के चक्र में पड़कर पर्वतेश्वर भी सिकन्दर के युद्ध में योग देता है। यह कृत्य उसकी देश भक्ति में बट्टा लगाता है। यहाँ विशेष बात यह हुई कि जिस मगध का चाणक्य को उन्मूलन करना है, उसकी राजकुमारी कल्याणी और अमात्य राक्षस भी चाणक्य के कार्य में योग देते हैं। मालविका और अलका की तत्परता भी सराहनीय है। अन्त में, चन्द्रगुप्त का सिल्यूकस को और सिंहरण का सिकन्दर को चंगुल में फँसे होने पर भी छोड़ देना उनकी वीरोचित उदारता और भारतीय कृतज्ञता के सूचक हैं। यहाँ चन्द्रगुप्त का स्वावलम्बी व्यक्तित्व भी देखने को मिलता है।

कुछ खटकने वाली बातें—(१) पहले दृश्य में चन्द्रगुप्त के निकल भागने पर सिकन्दर द्वारा सिल्यूकस से पूछे जाने पर कि 'यह क्या है ? उत्तर में 'आपका अविवेक' उचित प्रतीत नहीं होता। उस पर भी यह उत्तर सिल्यूकस का है जिसके लिए सिकन्दर कुछ देर पहले ही कह चुका है—'तुम अपने को विचाराधीन समझो।' इसमें शिष्टाचार की हीनता ही प्रकट होती है।'

(२) दूसरे दृश्य में हास्यास्पद यह है कि सिकन्दर से सामना करने वाले पर्वतेश्वर को मगध सेना के आगमन की सूचना ही नहीं मिल पाई।

(३) पाँचवें दृश्य में सिंहरण के सोने के लिए जाने के पश्चात् पर्वतेश्वर का अलका के एकान्त कक्ष में आना उसके चरित्र को गिराता है।

(४) छठे दृश्य में उन्हीं संकेतों की पुनरावृत्ति है, जिनका संकेत चौथे और पाँचवें दृश्यों में मिलता है।

(५) छठे दृश्य में नागदत्त का आचार्य चाणक्य की वक्तृता के पश्चात् विरोध का यह स्वर 'ऐसा नही हो सकता' और एक क्षण पश्चात् ही 'समझ गया, चन्द्रगुप्त को ही सम्मिलित सेना का सेनापति बनाना श्रेयस्कर होगा' उसको यह विरोध और स्वीकृति हास्यास्पद हैं।

(६) अलका के मुख से राजकुमारी मालविका जा, परन्तु सिंहरण को शीघ्र भेज दे' कहना कुछ शिष्ट प्रतीत नहीं होता।

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य—स्थान पश्चिमी सीमा तट ही है। राक्षस एकाकी भाव से भावों में खोया हुआ दिखाया जाता है। उसी समय एक चर का प्रवेश होता है, जो चाणक्य की योजना के अनुसार बतलाता है कि नन्द ने आपसे मिलकर कुचक्र रचने के कारण सुवासिनी को अभियुक्त बनाकर कारागार में डाल दिया है और विद्रोह के अपराध में राक्षस को बन्दी बनाकर लाने वाले को पुरस्कार की घोषणा कर दी है। पुनः राक्षस राजसेवा को विश्वासघातिनी बताता हुआ धिक्कारता है। इसी समय, पूर्व योजना के अनुसार एक सैनिक आकर बन्दी बनाने का प्रयत्न करता है। तत्क्षण पूर्व सैनिक का वर्णन करते हुए अन्य कई सैनिक आते हैं और राक्षस के शरीर की रक्षा करते हैं। राक्षस चाणक्य की विलक्षण बुद्धि से पराभूत होता है। उसे सक्षेप रूप में बताया जाता है कि रावी तट पर विशाल शिविर में सिंहरण और अलका का विवाह होगा और सिकन्दर ने भी उस वीर रमणी एवं आम्भीक की बहन को देखने के लिए निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है।

द्वितीय दृश्य—स्थान रावी तट पर उत्सव शिविर में है। पर्वतेश्वर एकान्त में अलका द्वारा किये गये अपमान पर खीझता है और मृत्यु का वरण करना चाहता है। उसी समय चाणक्य आकर उसे आत्महत्या-रूप घृणित कार्य करने से रोकता है। यहीं पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त की महत्ता स्वीकार करता है। साथ ही, पर्वतेश्वर में यवनों से प्रतिरोध लेने के लिए आशा का संचार होता है। अपनी बेटी अलका का शुभ विवाह अपनी बूढ़ी आँखों से देखने के लिए गान्धार नरेश का प्रवेश होता है। वहीं पर कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त की दो-दो बातें हो जाती हैं। फिलिप्स प्रवेश करके चन्द्रगुप्त से अभिभूत होता है। राक्षस और चाणक्य की बातचीत होती है और वह राक्षस के कोमल अंग पर प्रहार करके वाक्-चातुर्य से उनकी अंगुलीय मुद्रा ले लेता है। कल्याणी मगध की ओर प्रस्थान करती है।

तृतीय दृश्य—रावी के तट पर यवन सेनापति सिकन्दर को विदा करने के लिए चाणक्य, पर्वतेश्वर, सिंहरण, अलका, मालविका, आम्भीक आदि उपस्थित होते हैं। सिकन्दर चन्द्रगुप्त को सम्राट् होने से पूर्व बधाई देता है।

अन्त में चाणक्य को धन्यवाद प्रदान करता हुआ सिकन्दर यह कहता है, "मैं तलवार खींचे भारत में आया और हृदय देकर जाता हूं।" चाणक्य की मंगल-कामना के साथ दृश्य समाप्त होता है।

चतुर्थ दृश्य—पथ में राक्षस को यथातथ्य वस्तुस्थिति का भान होता है। चाणक्य का रचा हुआ यह सब षड्यन्त्र वह समझ लेता है। सिंहरण और अलका का प्रवेश भी मगध शासन की चिन्ता में होता है। पर्वतेश्वर स्वप्रतिज्ञानुसार मगध जाने के लिए तैयार होता है। दूर की सूझ रखने वाला चाणक्य चन्द्रगुप्त को मगध जाने से रोक देता है। उसी समय फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध के लिए चन्द्रगुप्त को आह्वान मिलता है। अन्त में, चाणक्य सभी को आश्वस्त कर देता है।

पंचम दृश्य—नन्द की रंगशाला। नन्द और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। नन्द का हृदय भी आशंकित हो रहा है, इसलिए दुःखी है। उसके कथन से यह सूचना मिलती है कि उसने सेनापति मौर्य को आजीवन अन्धकूप का दण्ड दिया है। नन्द को राक्षस का अभाव खटकता है। इसलिए मदिरा पान करके वह उन्मत्त होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुवासिनी प्रत्यक्ष रूप से राक्षस को प्रेम करती है। नन्द के घृणित विचारों की सीमा में वह नहीं आ सकती। संकट के समय पर प्रेमी आगात्य राक्षस अन्त में सुवासिनी की रक्षा करता है।

षष्ठ दृश्य—इस दृश्य में कुसुमपुर के प्रान्त भाग में मगध के शासन के परिवर्तन का परोक्ष प्रयत्न दिखाई देता है। चाणक्य मालविका को नृत्यकला के आश्रय से नर्तकी बनाकर नन्द की, रंगशाला की और राक्षस की मुद्रा से मुद्रित जाली पत्र भेजता है। चाणक्य को मगध के विजय करने में पूर्ण विश्वास है। कुसुमपुर को देखकर उसकी बाल-स्मृतियाँ सजग हो उठती हैं और वह एक लम्बा स्वगत कथन कर डालता है। वहीं पर एक सुरंग तोड़कर अन्धकूप से शकटार का निष्कासन होता है। शकटार की वेदना भरी अभिव्यक्ति के बाद शकटार और चाणक्य मगध शासन को उलट देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होते है।

सप्तम दृश्य—राजमन्दिर के प्रकोष्ठ में विचारमग्न नन्द एकाकी दिखाया

जाता है। उसी समय वररुचि के साथ चन्द्रगुप्त की माता अपने पति और पुत्र के प्रति न्याय की याचना नन्द से करने आती है, पर वह उसकी नहीं सुनता। रोष भरी सेनापति मौर्य की पत्नी नन्द को 'जारज पुत्र' और रक्त रंगे हाथों से महापद्म नन्द को 'हत्यारा' कहती है। नन्द उसे अपमानित करना चाहता है। वररुचि उसकी रक्षा करना चाहता है, तभी नन्द उन दोनों को भी षड्यन्त्रकारी समझ कर बन्दी करवा देता है। इसी समय आमात्य राक्षस की मुद्रा वाला जाली पत्र प्राप्त होने की सूचना मिलती है। इसी आरोप में मालविका भी बंदिनी की जाती है। अन्त में 'नन्द विचलित भाव से सोचता हुआ मंच पर रह जाता है।

अष्टम दृश्य—कुसुमपुर के प्रान्त भाग के पथ में पर्वतेश्वर सीमाप्रान्त की सूचना चाणक्य को देता है। द्वन्द्व युग में फिलिप्स मारा गया और समस्त उत्तरापथ में उसके मारे जाने से नवीन उत्साह फल गया है। सिकन्दर के मरने की सूचना भी मिलती है। उसी समय अलका आकर नन्द के प्रकोष्ठ में हुई घटनाओं की सूचना चाणक्य को देती है। अलका अवसर पाकर नगर भर में नन्द के अत्याचारों के विरोध में जनता में उत्तेजना भरती है। सभी बंदीजन गुफा के गुप्त द्वार से निकल कर चाणक्य से मिलकर प्रतिरोध की दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं। उसी समय घटना स्थल पर चन्द्रगुप्त भी आ जाता है। उसी समय नन्द के राक्षसी अत्याचारों से उत्तेजित नागरिक प्रवेश करते हैं। शकटार की रक्षा का भार चन्द्रगुप्त लेता है। दृश्य के अन्त में वररुचि और चाणक्य की परिस्थितिजन्य बातें होती हैं।

नवम दृश्य—नन्द की रंगशाला में बन्दी वेश में राक्षस और सुवासिनी प्रवेश करते हैं। पत्र के सम्बन्ध में राक्षस नन्द को विश्वास दिलाता है कि यह पत्र उसका लिखा नहीं है। पर मुद्रा दिखा कर नन्द उसका मुख बन्द कर देता है। उसी समय सारे नागरिक उत्तेजित होते हैं। नन्द के ऊपर अनेक अपराधों के प्रबल आरोप लगाये जाते हैं। चाणक्य आकर अपनी खुली हुई शिखा दिखाता है। अन्त में, नन्द अपनी प्यारी बेटी कल्याणी को सामने देख कर क्षमा माँगता है, पर इतने में ही शकटार उसका बध कर देता है। उसी समय सर्वसम्मति से चन्द्रगुप्त सिंहासन पर मूर्धाभिषिक्त किया जाता है।

सम्पूर्ण अंक का सिंहावलोकन—इस अंक में सम्पूर्ण कार्य-व्यापारों का

क्षेत्र मगध बनता हैं, सारे घात-प्रतिघात नन्दकुल के उन्मूलन की ओर प्रवृत्त होते हैं। चाणक्य का केन्द्र-बिन्दु अब मगध का शासक और शासन ही बनता है। चाणक्य के द्वारा राक्षस का विश्वास अर्जित करना, पर्वतेश्वर को आत्म-हत्या से बचना, ये सब उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन स्वरूप हैं। पर्वतेश्वर सिंहरण का विघ्न न बने, इसलिए उसे अपने साथ मगध ले जाता है। इधर उचित घटना पर ही, जबकि नन्द सुवासिनी पर अत्याचार करना चाहता है, राक्षस वहाँ पहुंचता है। नागरिकों को उत्तेजित करके मगध का शासन परिवर्तित किया जा सकता है और वही चाणक्य ने किया। नन्द के ऊपर जनता की ओर से अनेक अपराध घोषित किये जाते हैं। अन्त में उत्ते-जित शकटार उसका वध कर देता है। इसी समय लोग एकस्वर होकर चन्द्रगुप्त को शासक स्वीकार करते हैं।

कुछ खटकने वाली बातें—(१) द्वितीय दृश्य में कार्नेलिया के द्वारा बातें करते हुये सुनकर भी, उसे एकाकिनी समझते हुए फिलिप्स का प्रवेश करना।

(२) अलका और सिंहरण के विवाह-उत्सव के समय ऐन मौके पर ही वृद्ध गांधार नरेश का प्रवेश करना।

(३) राक्षस द्वारा चाणक्य को शत्रु समझते हुए भी अंगुलीय मुद्रा प्रदान करना।

(४) क्षण-क्षण गिरते-पड़ते शकटार के मुंह से लम्बे-लम्बे वाक्य बुलवाना।

(५) पांचवें दृश्य में मगध सम्राट नन्द की रंगशाला में राक्षस का बे-रोक-टोक प्रवेश कराना भी पाठकों को खटकता है।

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य—प्रारम्भ में मगध के राजकीय उपवन में विचार निमग्न कल्याणी प्रवेश करती है। उसी समय मद्यप की सी चेष्टा करता हुआ पर्वते-श्वर भी प्रवेश करता है। उन दोनों का विषमताजन्य वार्तालाप होता है। पर्वतेश्वर की नीच प्रवृत्तियों के प्रतिक्रिया स्वरूप कल्याणी उसका वध कर देती है। तभी चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। कल्याणी अपने पिता के विरोधी

से प्रणय नहीं कर सकती, इसलिए वह मृत्यु का वरण करती है। उसी समय चाणक्य अपने निष्ठुर पर दृढ़ चरित्र का परिचय देता है।

द्वितीय दृश्य—पथ में राक्षस और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। पिता की प्राप्ति होने पर सुवासिनी पुनः उनकी संरक्षता में जाने के लिए उत्सुक दिखाई देती है। इस पर राक्षस को चाणक्य के प्रति उसकी शंका होती है। नेपथ्य से आने वाली गान की प्रतिक्रियास्वरूप वह चाणक्य का विरोध करने के लिए कटिबद्ध होता है।

तृतीय दृश्य--यह मगध की आयोजित परिषद् का दृश्य है। राक्षस चाणक्य द्वारा विजयोत्सव न मनाने की आज्ञा का विरोध कलापूर्ण ढंग से परिषद् के सदस्यों में उकसाता है और तटस्थ बने रहने की प्रवृत्ति अपनाता है। मौर्य सेनापति और उसकी पत्नी प्रत्यक्ष ही उत्सव न मनाने का कारण चाणक्य से पूछते हैं। वह उसका उत्तरदायित्व समझते हुए प्रतिकार कर देता है। अपने को परतन्त्र समझने की प्रवृत्ति ही मौर्य एवं उसकी पत्नी को राज्य छोड़ देने के लिए बाध्य कर देती है। चाणक्य और सुवासिनी का वार्तालाप होता है जो चाणक्य में हृदय पक्ष का द्योतन करता है। चर के आगमन से सिल्यूकस के पुनः आक्रमण की सूचना मिलती है। मालविका से ज्ञात हुआ कि दक्षिणापथ में चन्द्रगुप्त को अपूर्व सफलता मिली है। साथ ही यह भी पता चलता है कि सुदूर दक्षिण में जाने के लिए उसे चाणक्य का आज्ञा नहीं थी।

चतुर्थ दृश्य—राज प्रकोष्ठ में चन्द्रगुप्त और कोमल कुमारी मालविका का वार्तालाप होता है। उन दोनों की बातों से उनके हार्दिक पक्षों का अभिव्यक्तीकरण होता है। मालविका के इस कथन से कि 'आज शयन में घातक आएंगे।' उसके जीवन के प्रति पाठक चिन्तित और व्यथित होने लगते हैं।

पंचम दृश्य—राज मन्दिर के प्रान्त भाग में विचारमग्न चन्द्रगुप्त दिखाई देता है। इसी उद्विग्नता का निवारण करने के लिए वह तत्काल चाणक्य को बुलवाता है। चाणक्य से चन्द्रगुप्त अपने माता-पिता के निर्वासित होने का कारण पूछता है। जब चन्द्रगुप्त यह कहता है—"यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं ?" तभी चाणक्य का ब्राह्मणत्व जाग उठता है और वह अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव करते हुए वहां से चला जाता है। उसी

समय सिहरण मालविका की हत्या की सूचना चन्द्रगुप्त को देता है और चाणक्य के चले जाने की सूचना पाकर वह भी वहाँ से चल देता है।

षष्ठ दृश्य—इस दृश्य में पुनः घटना केन्द्र पश्चिमी सीमा तट बनता है। प्रारम्भ में सिन्धु तट पर एक पर्णकुटी में चाणक्य और कात्यायन में स्थिति-विषयक वार्तालाप होता है। यह सूचना भी मिलती है कि राक्षस अब सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने का कार्य करता है। चाणक्य कात्यायन को मगध जाने की सलाह देता है जिससे शीघ्र ही चन्द्रगुप्त घटना-स्थल पर आ जाये। चाणक्य अब भी विशाल साम्राज्य का स्वप्न देखने के लिए प्रयत्नशील है। कात्यायन यह भी सूचना देता है कि यवन बाला कार्नेलिया पूर्ण रूप से आर्य संस्कृति में निष्णात है। चाणक्य और आम्भीक के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि आम्भीक अपने किए हुए दोष की कालिमा पश्चात्ताप के जल से प्रक्षालित करते हुए प्रतिशोध लेने की सामर्थ्य समेटे हुए है। उसी समय देशद्रोह की असि से कलंकित आम्भीक की राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत अग्नि अलका नागरिकों की भीड़ में प्रसिद्ध राष्ट्रीय गान "हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती" गाती हुई आती है। अलका और आम्भीक की बातचीत से प्रकट होता है कि अब आम्भीक सुपथ पर आ गया है। अन्त में, वही खड्ग खोलकर कर्त्तव्य से च्युत न होने की सौगन्ध खाता है। सुवासिनी के वहाँ आने पर चाणक्य को पता चलता है कि चन्द्रगुप्त उनकी खोज के लिए उत्सुक है। चाणक्य सुवासिनी को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जाने की आज्ञा देता है और राक्षस से प्रेम निर्वाह एवं विवाह करने के लिए बल देता है। सजल नेत्रों से अपने हृदय के एक कोने को आज अन्तिम बार चाणक्य अपने उद्देश्य-पूर्ति के लिए कर्त्तव्य की बलि चढ़ा देता है।

सप्तम दृश्य—प्रारम्भ में कपिशा के एलेक्जेंड्रिया के राजमन्दिर में कार्नेलिया और राक्षस की बातचीत होती है। कार्नेलिया राक्षस को देशद्रोही बताती है। पर वह अपना व्यक्तिगत प्रतिशोध अपने विपक्षी से लेने के लिए कहता है। उसी समय राक्षस के चले जाने पर कार्नेलिया सिल्यूकस से देशद्रोही एवं राक्षस-तुल्य राक्षस से पढ़ने से स्पष्ट इन्कार कर देती है। वह भी अपनी प्यारी बेटी की प्रसन्नता को ऐसा करने के लिए अनुमति दे देता है।

अष्टम दृश्य— पथ में चन्द्रगुप्त और सैनिक का प्रवेश होता है। वह स्वयं ही सम्राट् से सैनिक बनना स्वीकार करता है, क्योंकि सिंहरण ने

बलाधिकृत का पद सम्भालने से मना कर दिया है। अतः वह पद भी चन्द्रगुप्त लेकर और शकटार के नाम एक पत्र लिखकर एक सैनिक को मगध भेज देता है।

नवम दृश्य—ग्रीक शिविर में कार्नेलिया की सहायता से उसकी सखी एलिस का वार्तालाप—तत्पश्चात् बंदिनी रूप में आई हुई सुवासिनी कार्नेलिया की सहायता से उसकी सखी बन जाती है। विवाहित स्त्रियों के सम्बन्ध में उसकी राय तथा यौवन और प्रेम के क्षेत्र में उसकी अनुमति जन्य भावना काव्य के साथ दार्शनिकता लेकर प्रकट हुई है। सुवासिनी स्मृति को 'प्रेम का प्राण' और कार्नेलिया निष्ठुर मानती है। अपने पिता के मुख से चन्द्रगुप्त की सेना पर आक्रमण की बात सुनकर कार्नेलिया उसका विरोध करती है। पर सिल्यूकस उसे यह कहकर कि "मैं हत्यारा नहीं हूं विजेता सिल्यूकस हूँ" सन्तुष्ट कर देता है। अन्त में, सुवासिनी के गाने के साथ दृश्य समाप्त होता है।

दशम दृश्य—प्रारम्भ में युद्ध-क्षेत्र के समीप चाणक्य और सिंहरण का वार्तालाप होता है। सिंहरण से यह सूचना मिलती है कि चन्द्रगुप्त ने प्रचण्ड आक्रमण किया है जिससे यवन सेना थर्रा उठी है, पर वीर हृदय सिंहरण अब युद्ध में सम्मिलित होने से अपने को रोकने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। इसलिए चाणक्य से आज्ञा माँगता है। इस समय चाणक्य भविष्य की सभी घटनाओं की सूचना देकर सिंहरण को विदा देता है। पुनः युद्धरत सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। अपना प्रतिशोध लेते हुए सिल्यूकस के आघातों से आम्भीक की मृत्यु होती है। अवसर पर सिंहरण चन्द्रगुप्त की सहायता करता है।

एकादश दृश्य—शिविर के एक भाग में राक्षस और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। भयभीत सुवासिनी को लेकर राक्षस वहाँ से भाग निकलता है। चन्द्रगुप्त ने ग्रीक शिविर के भीतरी भाग पर भी आक्रमण किया है। कार्नेलिया को पता चलता है कि विजेता सिल्यूकस भी चन्द्रगुप्त के हाथों पराजित हो गया है। चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को सुरक्षित स्थान में पहुंचा कर बन्धन मुक्ति की घोषणा करते हुए प्रस्थान करता है। कार्नेलिया उसकी ओर देखती रहती है।

द्वादश दृश्य—साइर्वटियस और मेगास्थनीज के वार्तालाप से पता चलता है कि समस्त ग्रीक शिविर वन्दी है। मालव और तक्षशिला की सेना घेरा डाले हुए है। उधर सिल्यूकस के "सीरिया पर मैंटिगोनस ने आक्रमण किया है। इस परिस्थिति में सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि के लिए बाध्य किया जाता है। भारत के लिए कन्या का दान सिल्यूकस के लिये असम्भव है। फिर भी चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का पूर्व-परिचय सम्भावना प्रदान करता है। साथ ही, सिल्यूकस यह बताता है कि कार्नेलिया ने इस युद्ध में अनेक बाधाएं उपस्थित की हैं। पर अन्त में, जब सिल्यूकस उसी के मुख से यह सुन लेता है कि "मैं स्वयं पराजित हूं" तब उसे कार्नेलिया के प्रेम का परिचय हो जाता है, तभी वह अपनी प्यारी बेटी से कह देता है कि 'तू भारत की सम्राज्ञी होगी।'

त्रयोदश दृश्य—दाण्डायन के तपोवन में ध्यानस्थ चाणक्य के निकट राक्षस और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। सुवासिनी सत्परामर्श एवं तपोवन के पवित्र वातावरण के प्रभाव से राक्षस चाणक्य से अपने अपराधों की क्षमा माँगने को तैयार हो जाता है। चाणक्य का स्वगत कथन प्रकृति के संस्पर्श से आनन्द सागर में डूबा हुआ-सा प्रतीत होता है। उसी समय सेनापति मौर्य अपने प्रतिशोध और चन्द्रगुप्त के निष्कंटक राज्य के लिए चाणक्य की हत्या करना ही चाहता था कि सुवासिनी ने इस प्रकार का घृणित कार्य करते हुए उसका हाथ पकड़ लिया। सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने गुरु के सम्मान में अपने पिता को अपराध का दण्ड देना चाहता है पर विशाल-हृदय चाणक्य उसको क्षमा करा देता है। इसी समय वह मन्त्रिपद राक्षस को प्रदान करता है। चाणक्य को छोड़कर सबका राजप्रसाद की ओर प्रस्थान।

चतुर्दश दृश्य—इस अन्तिम दृश्य में नाटक के फल को भोगने वाले चन्द्रगुप्त को निष्कंटक सिंहासनारूढ़ दिखाया गया है और सन्धि की शर्तों में सिल्यूकस सहर्ष अपनी पुत्री कार्नेलिया को भारत सम्राज्ञी बनाने के लिए सम्मति प्रदान करता है। जैसे ही बुद्धिसागर आर्य साम्राज्य के महामन्त्री चाणक्य को सिल्यूकस देखने की इच्छा प्रकट करता है, वैसे ही चाणक्य प्रवेश करता है और मंगल-कामना करता हुआ ग्रीक गौरव लक्ष्मी कार्नेलिया को

भारत की कल्याणी बनाने के लिए प्रार्थना करता है। सिल्यूकस सहर्ष स्वीकार करता है। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का पाणिग्रहण होने के पश्चात् मुदित हुए चाणक्य का प्रस्थान होता है।

सम्पूर्ण अंक का सिंहावलोकन—चाणक्य की प्रतिज्ञा के अनुसार तृतीय अंक के पश्चात् चन्द्रगुप्त के राज्य को निष्कंटक बनाना और उसे साम्राज्य का स्वरूप प्रदान करना शेष रह जाता है। इस अंक के प्रारम्भ में ही चन्द्रगुप्त के दो कंटक—कल्याणी और प्रणबद्ध पर्वतेश्वर की हत्या आवश्यक हो जाती है। इस समय कल्याणी विषकन्या का बौद्धिक रूप धारण करके पर्वतेश्वर की हत्या करती है। साथ ही, अपनी हत्या कर लेती है। चन्द्रगुप्त की दक्षिण विजय के उपलक्ष्य में चाणक्य विजयोत्सव, पाटलिपुत्र के षड्यन्त्र का केन्द्र होने के कारण एवं यवनों के भावी आक्रमण के कारण नहीं होने देता। कृत्रिम रोष दिखाकर चाणक्य वहाँ से सीमा प्रान्त की ओर चला जाता है और धीरे-धीरे सभी आवश्यक व्यक्तियों को उधर खींच लेता है। चन्द्रगुप्त की हत्या-योजना में मालविका मारी जाती है। राक्षस भी भागकर ग्रीक शिविर में शरण लेता है। चाणक्य की आज्ञानुसार ग्रीक शिविर में सुवासिनी अपना कौशल दिखाती है। इधर चन्द्रगुप्त पूर्ण तैयारी से यवन आक्रमण का विरोध करने में तत्पर है। चाणक्य के आदेश से निश्चित समय पर सिंहरण और आम्भीक भी चन्द्रगुप्त की सहायता करते हैं। सिल्यूकस की पराजय होती है। फिर भी चन्द्रगुप्त उसे मुक्त कर देता है। दाण्डायन के आश्रम में सभी प्रमुख पात्र एकत्र होते हैं और चाणक्य राजनीति से तटस्थता ग्रहण करता है। राक्षस सुवासिनी के विवाह की सूचना के साथ मगध राज्य का मन्त्रिपद भी संभालता है। यहाँ आकर अन्तःकलह पूर्णतः शान्त हो जाता है। कार्नेलिया के विवाह के प्रस्ताव के साथ चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की स्थायी मित्रता स्थापित होती है। अन्त में कार्नेलिया का पाणिग्रहण होता है और मन मुदित चाणक्य प्रस्थान करता है।

कुछ खटकने वाली बातें—(१) प्रथम दृश्य में चाणक्य का चन्द्रगुप्त के प्रति यह कथन कि 'अब तुम निष्कंटक हुए' स्वाभाविक नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कल्याणी की मौत का रास्ता देख रहा हो।

(२) छठे दृश्य में अपने दुष्कर्मों के प्रति प्रायश्चित करते हुए आम्भी। चाणक्य का यह कथन कि 'मनुष्य साधारण धर्मापशु है'—परिस्थितिज प्रतीत नहीं होता।

(३) बारहवें दृश्य में यवन सम्राट् को उसके सहचरों के शिविर में न दिखा कर पथ में दिखाना उचित प्रतीत नहीं होता और ऐसे ही स्थल पर कार्नेलिया के प्रेम की परीक्षा के लिए सिल्यूकस का तैयार होना भी अनुचित ही है।

: २ :

चन्द्रगुप्त : शास्त्रीय अध्ययन

यद्यपि शास्त्रीय अध्ययन की, नाटक के क्षेत्र में, परिपाटी 'आधुनिक समीक्षा-सिद्धान्तों के कारण विलुप्त-सी होती दिखाई दे रही है तथापि आलोचकों का कहना है कि जब आधुनिक विषयों को लेकर नाटकों का सृजन हो रहा है तो नवीन कसौटियों पर उनका निखार और सौन्दर्य देखना चाहिए। फिर भी चन्द्रगुप्त नाटक आधुनिक समय में लिखा जाकर भी ऐतिहासिक कथानक को समेटे हुए है और भारतीय नाट्य शैली की मान्यताओं से अत्यधिक प्रभावित है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से कार्य-अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों आदि की कसौटी पर भी इसका अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

फल की प्राप्ति की दृष्टि से लिए गए नाटक में कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं। इनमें कार्य का क्रमिक विकास ही दृष्टिगत होता है। दशरूपककार ने उन्हें इस प्रकार श्लोक में बद्ध कर दिया है—

'अवस्था पञ्चकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भ यत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागमाः॥'

(१) **आरम्भ**—दशरूपककार ने 'औत्सुक्यमात्रमारम्भः'—'उत्सुकता मात्र' को आरम्भ कहा है तथा 'फल लाभ' उसका उद्देश्य है। तात्पर्य यह है कि कार्य की इस अवस्था में कथानक का प्रारम्भ होता है जिसमें फल प्राप्ति के लिए उत्सुकता बनी रहती है। चन्द्रगुप्त नाटक में आरम्भ प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही हो जाता है परन्तु प्रारम्भ वहाँ तक समझना चाहिए जहाँ तक कि नाटक की घटनाओं और पात्रों के जीवन के लक्ष्य का परिचय प्राप्त होता है। इस नाटक में आरम्भ अंश उस सीमा तक है जहाँ तक कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य के क्रोध और अपमान का इतिवृत्त चलता है। नन्द के द्वारा चाणक्य को अपमानित करना, पर्वतेश्वर द्वारा चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहना तथा चाणक्य को तिरस्कृत

करके निष्कासित करना आदि नाटक के आरम्भ के बीज-बिन्दु हैं। इन्हीं घटनाओं से प्रेरित होकर नाटक के ये दोनों प्रमुख पात्र आगे चलकर फलागम की ओर प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। इसी के आरम्भ में दाण्डायन के मुख से चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने की बात सुनते हैं तो इस फलागम की ओर उत्सुकता बनी रहती है।

(२) **यत्न**—कार्यावस्था में इच्छाविशेष या प्रतिज्ञाविशेष की स्फूर्ति के लिए नाटक के प्रमुख पात्र प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही नाटक में अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'फलप्राप्ति' की ओर प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रयत्न में उन्हें कई बार कठोरताओं तथा निराशाओं का सामना भी करना पड़ा है। जैसे प्रयत्न प्रारम्भ होते ही कानन-मार्ग में चलते-चलते चन्द्रगुप्त के शरीर में शिथिलता का अनुभव होना, प्यास लगने के कारण उसे मूर्च्छा आना आदि; पर वह कहीं भी निराश नहीं हुआ। इसी प्रयत्न काल में उसने सिल्यूकस और कार्नेलिया से मैत्री स्थापित की, ग्रीकों के शिविर में रहकर उनके युद्ध-सम्बन्धी विधान का ज्ञान प्राप्त किया और अपनी निर्भीकता का परिचय सिकन्दर को देते हुए वहाँ से निकल आया। पुनः नट रूप धारण करके उचित अवसर पर पर्वतेश्वर को युद्ध में सहायता करने के लिए वह चेष्टित होता है। इस प्रयत्न पक्ष में चाणक्य भी चुप नहीं बैठा रहता। उसकी ही कूटनीति से चन्द्रगुप्त गणतन्त्रों का सेनापति बनता है तथा सिकन्दर से लोहा लेता है। चाणक्य भी राक्षस जैसे कुशल मन्त्री की मुद्रा प्राप्त करके तथा पर्वतेश्वर जैसे वीर को अपने अनुकूल बनाकर सिद्धि की ओर अभिमुख दिखाई देता है। ये दोनों मिलकर ही मगध में क्रान्ति फैलाकर प्रजा को अपने अनुकूल बना लेते हैं।

(३) **प्राप्त्याशा**—यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कथानक और पात्र फलप्राप्ति की निश्चय ही आशा करने लगते हैं। तात्पर्य है कि फलोपलब्धि की संभावना बन ही जाती है। मार्ग में खड़े हुए विघ्न स्वयं शान्त होते हुए दिखाई देते हैं। लक्ष्य का प्रत्यक्ष स्वरूप आँखों के समक्ष नाचने लगता है। जब मगध की प्रजा वीर और कुशल चन्द्रगुप्त को अपना शासक चुन लेती है तो उसी के नेतृत्व में एवं चाणक्य की कृपा-छाया में रहकर यवन निष्कासन रूप फल प्राप्ति की

'आशा' दृढ़तर होती जाती है क्योंकि राज्य-शक्ति मिल जाने पर अथवा नन्द जैसे शक्तिशाली राजा का नाश कर लेने पर इस निश्चय की आशा हो ही जाती है कि चन्द्रगुप्त निर्विघ्न साम्राज्य स्थापित कर सकेगा, यवनों के पुनराक्रमण की संभावना को समूलोच्छेदित करने में समर्थ हो सकेगा। प्रेक्षकों अथवा पाठकों के साथ ही नायक चन्द्रगुप्त को भी अपने प्रयत्नों के परिणामस्वरूप फलप्राप्ति की आशा होती है।

(४) **नियताप्ति**—कथानक के विकास की इस चौथी श्रेणी में पहुचते-पहुंचते फल-प्राप्ति की आशा अथवा सम्भावना विश्वास में परिणत हो जाती है और फल-प्राप्ति के निकट ही दिखाई देती है। चन्द्रगुप्त नाटक में जब कथानक विकसित होते हुए इस अवस्था तक पहुँच चुकता है तब तक मगध के आधे राज्य के अधिकारी पर्वतेश्वर और नन्दकुल के अवशेष कल्याणी की हत्या हो चुकती है और गृहकलह उत्पादक राक्षस एवं मौर्य अनुकूल वन चुकते हैं। चाणक्य अपनी दूरदर्शिता एवं कौशल से, अलका का आदर्श सम्मुख रखकर आम्भीक को भी अपने अनुकूल बना लेता है। तब इन समस्त बाधाओं के निराकरण होने पर फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है जब विरोधी आम्भीक के दृढ़प्रतिज्ञ होकर मगध सेना का सैनिक बनने को उत्कण्ठित होता है, वह स्थल नियताप्ति की सिद्धि है।

(५) **फलागम** – कथानक विकास की अन्तिम परिणति है फलागम में। यहाँ पर पहुँच कर नाटककार अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। नाटक के अन्तिम दृश्य में फल की प्रत्यक्ष प्राप्ति होती है। भारतीय नाट्य-परम्परा में नाटक को सुखान्त दिखाने की परिपाटी है। इसी के अनुसार चन्द्रगुप्त नाटक भी सुखान्त नाटक है जिसमें चन्द्रगुप्त का सम्राट् होना, आन्तरिक कलह का शमन होना, शत्रु यवनों का निष्कासन होना तथा चाणक्य का प्रसन्नचित्त होकर पुनः आश्रम की ओर गमन करना आदि सुखदायक अनुभूतियाँ ही पाठक को अन्त में अनुभूत होती हैं।

यूरोपीय समीक्षा शास्त्र में कार्य की छः अवस्थाएँ मानी गई हैं, वे भी 'चन्द्रगुप्त' में उपलब्ध होती हैं। वे निम्न प्रकार से हैं—(१) व्याख्या (Exposition)—इसमें कथानक का प्रारम्भ होता है। (२) प्रारम्भिक

संघर्षमय घटना (Initial Incident)—इस स्थिति में प्रयत्न होना प्रारम्भ हो जाता है। संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। (३) कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action)—इस स्थिति में पहुँच कर द्वन्द्व, संघर्ष एवं नाटकगत समस्याएँ स्पष्टता को पहुँच जाती हैं और विकास स्थिति आशापूर्ण होती है। (४) चरमसीमा (Crisis)—विकास के इस बिन्दु पर संघर्ष अन्तिम सीमा पर पहुंच जाता है। इस स्थिति में फल की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता स्पष्ट दिखाई देने लगती है। (५) कार्य की ओर झुकाव (Falling Action or Denoument)—यहाँ पहुंचते-पहुंचते कथानक में एक पक्ष का ह्रास और दूसरे पक्ष का विकास दिखाई देने लगता है। यह स्थिति फल-प्राप्ति के बहुत ही निकट की होती है। (६) केटस्ट्रोफी (Catastrophe)—नाटक में इसको फल-प्राप्ति कहते हैं। यूरोपीय दृष्टि से यह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी, पर भारतीय नाट्य परम्परा में यह सदैव अच्छा ही होता है। कम-अधिक, स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप ये सभी बिन्दु 'चन्द्रगुप्त' नाटक में मिल जाएँगे। हाँ, संघर्ष की, वह भी आन्तरिक संघर्ष की, उतनी मान्यता इसमें नहीं है जितनी यूरोपीय नाटक रचना में है। इस प्रकार इन मिलती-जुलती कार्यावस्थाओं की कसौटी पर भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक कुशलता से खरा उतर सकता है।

चन्द्रगुप्त नाटक का प्रारम्भ और फल-प्राप्ति—नाटक का प्रारम्भ बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। नाट्य कला की दृष्टि प्रारम्भिक दृश्य में वे सभी तत्त्व विद्यमान होने चाहिएँ, जिनकी ओर सामान्य एवं विशेष सभी पाठक एवं प्रेक्षक आकृष्ट हो सकें। इस दृष्टि से नाटक का प्रथम दृश्य महत्त्वपूर्ण है। तक्षशिला गुरुकुल का प्राकृतिक सौंदर्य एवं प्राचीन भारत का सांस्कृतिक महत्त्व दोनों ही भव्यता लिए हुए हैं। उस पर भी जगत्-प्रसिद्ध चाणक्य-जैसा आचार्य, सिंहरण और चन्द्रगुप्त-जैसे वीरों का संयोग पाठकों के स्नायुओं में प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। इस दृश्य के कथोपकथन में राजनैतिक गाम्भीर्य है, युवकों में उत्तेजना भरने वाला ओजस्वी संवाद है, साथ ही तलवारों की चमक भी चकाचौंध उत्पन्न करने वाली बन पड़ी है। प्रारम्भ से ही कथा-विकास में सक्रियता दिखाई देती है। साथ ही चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे प्रतापी सम्राट् के प्रार-

भिक जीवन को देखकर मन मुग्ध हो जाता है। अन्य पात्रों का कौलीन्य एवं चारित्रिक विशेषताओं का संकेत रूप में ही परिचय प्राप्त होता है। भविष्य के कार्यक्रम की रूपरेखा की ओर भी संकेत मिल जाता है और मिल जाती है लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा। सारांश रूप में, अपने मूलरूप में नाटक के मैत्री प्रेम और विरोध के अंकुर इसी दृश्य में उपलब्ध हो जाते हैं। नाटक का मुख्य लक्ष्य तो प्रथम अंक के पंचम दृश्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है जिसमें नन्दकुल का उन्मूलन रूप कार्य भी मौर्य साम्राज्य की स्थापना रूप लक्ष्य का ही सहायक है। दोनों में साध्य-साधन का सम्बन्ध है।

नाटक का अन्त बहुत ही कलापूर्ण ढंग से किया गया है। मौर्य साम्राज्य की दृढ़ स्थापना, जो राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है, पाठकों और प्रेक्षकों के हृदयों को मोदित कर देती है। अन्तःकलह पूर्णरूपेण शान्त हो चुकता है। सीमा-प्रान्तों में मौर्यशासन का पूर्ण नियन्त्रण हो चुकता है। इन्हीं विरोधों को शान्त करने के लिए ही तृतीय अंक के अन्त में चन्द्रगुप्त का राजतिलक हो चुकने पर भी नाटक की समाप्ति नहीं की गई। चौथे अंक में अपनी मर्यादा-निर्वाह के लिए सिल्यूकस के पराभव के साथ-साथ यवन आक्रमण के अवशेषों को भी शेष नहीं रहने दिया गया और चन्द्रगुप्त के विरोधी अथवा सम्भाव्य विरोधी पर्वतेश्वर और कल्याणी की हत्या कराई गई है और सन्धि स्थिर रखने के लिए कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त का विवाह कराया जाता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त नाटक का अन्त नाट्यकला एवं प्रभाव दोनों की दृष्टि से श्रेष्ठ बन पड़ा है।

अर्थ प्रकृतियाँ

अर्थ-प्रकृतियों को 'दशरूपक' के टीकाकार धनिक ने 'प्रयोजनसिद्धि हेतवः' अर्थात् अर्थ-प्रकृतियाँ प्रयोजन सिद्धि हेतु, अपना अस्तित्व रखती हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के वे चमत्कारपूर्ण अंग हैं जो कथानक को कार्य की ओर अग्रसर कराते हैं। कार्यावस्थाओं की भाँति ही ये भी पाँच ही हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु; (३) पताका; (४) प्रकरी; और (५) कार्य।

(१) **बीज**—जिस प्रकार बीजावस्था कार्य की प्रथमावस्था अथवा मूलावस्था होती है उसी प्रकार नाटक में बीज अर्थ प्रकृति कथानक का मूल लिए होती है जिसको देखकर या पढ़कर फलप्राप्ति की ओर अनुमान किया

जा सकता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में सिंहरण के इस कथन में—'आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।' तथा चाणक्य ने इस कथन में—'क्या तुम नहीं देखते कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के साथ स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे—और आर्यावर्त का सर्वनाश होगा।' इसी के अनन्तर उत्तरस्वरूप चन्द्रगुप्त का यह कथन— गुरुदेव, विश्वास रखिए, यह सब कुछ नहीं होने पायेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।' संकेत रूप से ये ही कथन नाटक के बीज स्थल हैं। इन्हीं कथनों के कारण भावी व्यापारों में क्रिया-शीलता आती है। नन्द की राजसभा में चाणक्य के अपमानित होने तक यही बीज अंकुरावस्था में चलती है।

(२) **बिन्दु**—बिन्दु से अर्थ है बिन्दु विशेष जो प्रारम्भ में लघु रूप दिखाई देता है पर तत्पश्चात् फैलकर छा जाता है। इसका साम्य तैल-बिंदु से समझना चाहिये जो पानी के तल पर पड़ते ही तत्काल उसके ऊपर तल को छू लेती है। नाटक के कथानक में बिन्दु वह घटना कहलाती है जो फैलकर अपने विस्तृत प्रभाव के कारण सभी घटनाओं और सम्पूर्ण पात्रों के ऊपर प्रभाव रूप में छा जाती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक से 'चाणक्य का कारावास' 'सिंहरण और सिल्यूकस का विरोध','दाण्डायन की भविष्यवाणी' चन्द्रगुप्त की 'कार्नेलिया और सिल्यूकस से मैत्री' तथा 'सिकन्दर से संघर्ष' ये घटनाएँ संकेत रूप में नाटक की बिन्दु हैं जिसका व्यापक प्रभाव नाटक के सम्पूर्ण कथानक पर दिखाई देता है। इन घटनाओं के स्वाभाविक विकास में साध्य लक्षित होता रहता है। द्वितीय और तृतीय अंक की कार्य-घटनाओं का प्रसार बिन्दु अर्थ प्रकृति का ही प्रसार समझना चाहिए। नाटक में इस अर्थ प्रकृति की समाप्ति का कोई निश्चित स्थल नहीं है। सम्पूर्ण नाटक में इसी का विस्तार दिखाई देता है।

(३, ४) **पताका और प्रकरी**—इन अर्थ प्रकृतियों में अवान्तर अथवा प्रासंगिक कथाएँ रहा करती है जो मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। प्राप्त्याशा और नियताप्ति कार्य अवस्थाओं का मेल पताका और प्रकरी अर्थ-प्रकृतियों से ही नहीं खाता। प्रारम्भ, यत्न और फल प्राप्ति का साम्य,

बीज, बिन्दु और कार्य अर्थ-प्रकृतियों से, देखने को मिलता है। चन्द्रगुप्त नाटक में सिंहरण और पर्वतेश्वर का कथांश, 'सिंहरण और अलका का प्रसंग' पताका अर्थ प्रकृति का उदाहरण है। पताका के लिए शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है कि उसकी समाप्ति गर्भ या विमर्श सन्धि में हो जाय। परन्तु सिंहरण का कथांश बीच में विलुप्त नहीं होता, आगे तक चलता है। पर उसका अपना कोई लक्ष्य नहीं, चन्द्रगुप्त के लक्ष्य की सिद्धि ही उसका लक्ष्य है। अतः उसकी कथा पताका अर्थ प्रकृति के अन्तर्गत आती है। पर्वतेश्वर की कथा का अंश अवश्य ऐसा है जो बीच से उठकर गर्भ तथा विमर्श सन्धियों में जाकर विलुप्त हो जाता है और उसका लक्ष्य चन्द्रगुप्त के लक्ष्य से पृथक् नहीं रह जाता। वह इतिहास प्रसिद्ध वीर भी है अतः पर्वतेश्वर को ही नाटक का पताका नायक समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटक की अन्य छोटी-छोटी घटनाएँ जैसे 'फिलिप्स और कार्नेलिया', 'चन्द्रगुप्त और मालविका', 'कल्याणी और पर्वतेश्वर' 'मालवदुर्ग में सिकन्दर और उसका युद्ध'—ये सब प्रकरी अर्थ प्रकृतियाँ ही हैं। कथा प्रवाह रूप में ये प्रसंग मंच पर आते रहते हैं और अपना अस्तित्व लक्ष्य की सिद्धि विलीन करते हुए यथास्थान समाप्त होते जाते हैं। जब आम्भीक भी अपनी विरोधी भावना का परित्याग करके मगध सेना की पंक्ति में खड़ा होता है और राक्षस अपना विरोध भुलाकर पुनः मगध साम्राज्य को अपनी सेवा अर्पित करता है तब कार्य नाम की अर्थ प्रकृति निकट ही समझनी चाहिए।

(५) **कार्य**—कार्य अर्थ प्रकृति 'फलागम' कार्य अवस्था के ही समान है। इसमें नाटक के कार्य की उपलब्धि होती है। सिल्यूकस के पराजित होने पर, सीमा प्रान्त में विरोध शमन होते ही मौर्य साम्राज्य के अधीन होने पर, और भविष्य में किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका न रहने पर तथा अन्त में यवनों से कार्नेलिया को स्थायी सन्धि के प्रतीक रूप में लेने पर कार्य नाम की अर्थ-प्रकृति दिखाई देती है। 'मेघ रहित चन्द्र' के समान चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर आरूढ़ देखकर चाणक्य जैसी प्रेरक शक्ति भी तटस्थ हो जाती है। उसी समय नाटक का कार्य सम्पन्न हो जाता है।

सन्धियाँ—'सन्धि' शब्द का अर्थ है मेल या जोड़। नाटक में भी इनकी स्थिति कार्य अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों के सन्धि स्थल पर ही होती है।

कार्य अवस्था जहाँ पर समाप्त होती है, वही पर सन्धि विशेष अर्थ प्रकृति से मेल करा देती है। 'दशरूपकार' ने 'सन्धि' का लक्षण इस प्रकार दिया है---

'अर्थप्रकृतयः पच पंचावस्था समन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या पंचसंधयः॥'

अर्थात् जहाँ पंच अर्थ प्रकृतियाँ यथाक्रम रूप से समन्वित हों वहाँ क्रमशः मुखादि पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं। 'साहित्यदर्पणकार' ने प्रायः ऐसी ही परिभाषा के साथ 'इतिवृत्तस्य भागाः' जोड़कर सन्धियों को कथानक का भाग कहा है। सन्धियाँ कार्य अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों के अनुसार ही संख्या में पाँच ही है यथा—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. विमर्श, और ५. निर्वहण अथवा उपसंहार। दशरूपकार ने इन्हीं सन्धियों के पाँच उद्देश्य बताए हैं—

'इष्टस्याऽर्थस्य रचना, गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम्।
रागः प्रयोगस्याऽश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः॥'

अर्थात् (१) इष्टार्थ की रचना; (२) गोपनीय आशंका, गोपन; (३) प्रकाश्य अंश का प्रकाशन; (४) राग-प्रयोग; (५) आश्चर्य उत्पन्न करना। इस प्रकार कार्य-अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों और सन्धियों में दृष्टिकोण का भेद है। अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कार्य-सिद्धि के साधनों से है। अवस्थाएँ कार्य-सिद्धि की श्रेणियों से सम्बन्ध रखती हैं। सन्धियाँ कथानक भाग से अपना सम्बन्ध रखती है।

संधियों के स्थलनिर्देश चन्द्रगुप्त नाटक में आवश्यकीय हैं। जब सिंहरण और चाणक्य के संवाद से नाटक में आरम्भ कार्य अवस्था होती है। उसी समय बीज अर्थप्रकृति चन्द्रगुप्त के आर्यावर्त के उद्धार संकल्प से प्रारम्भ होती है उसी स्थल पर मुख सन्धि की स्थिति समझनी चाहिए। और यह 'मुख सन्धि' चाणक्य के पर्वतेश्वर के यहाँ सहायता—याचना के लिए जाने तक लगभग प्रथम अंक के आठवें दृश्य तक रहती है। तदुपरांत अनुकूल अवस्था में झूलती हुई प्रतिमुख सन्धि अग्रसर होती है। पर्वतेश्वर द्वारा चाणक्य को तिरस्कृत करके निकालना प्रतिकूल अवस्था है और दाण्डायन द्वारा चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने की भविष्यवाणी अनुकूल अवस्था है। यहीं पर 'प्रतिमुख' सन्धि का अवस्थान है क्योंकि प्रधान फल का प्रमुख इतिवृत्त कहीं प्रकट दिखाई देता है कहीं प्रच्छन्न

दिखाई देता है। ये पक्ष-विपक्ष की बातें सिकन्दर के लौटने तक चलती हैं क्योंकि प्रतिमुख सन्धि में बीच कुछ अलक्षित रूप में दिखाई देता है। 'गर्भ' सन्धि इसको इसलिए कहते हैं कि इसके अन्तर्गत फल छिपा रहता है। उपाय आवृत दिखाई देने के कारण कार्य विस्तार विस्तृत दिखाई देने लगता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है। चन्द्रगुप्त नाटक में कार्य बनने या बिगड़ने के रूप में द्विधा का अंश नन्द की मृत्यु और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तक चलता है। गर्भ सन्धि में प्राप्त्याशा कर्म ही दिखाई देता है। 'अवमर्श' सन्धि में नियताप्ति प्रकरी का सन्धिस्थल होता है। इसमें कार्यसिद्धि के मार्ग में नई बाधा उठी हुई दिखाई देती है। चन्द्रगुप्त के सिंहासन पर बैठते ही सिल्यूकस का आक्रमण मौर्य साम्राज्य की स्थापना का बाधक रूप ही है। चन्द्रगुप्त के इस कथन में अवमर्श सन्धि का स्थल ही तो झलकता है कि "पिता गए, माता गई, गुरुदेव गये, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर-सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा।" 'अवमर्श' सन्धि की यह स्थिति क्रोध और असन्तोष के कारण उत्पन्न हुई है। 'निर्वहण' संधि में कार्य और फलागम का योग होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है। जब आम्भीक अपनी विरोधी भावना को परित्यक्त करके मागधों से मिल जाता है तथा राक्षस अपनी प्रतिद्वन्द्विता का परित्याग मित्रता में कर देता है, साथ ही अन्य सम्पूर्ण विघ्न शान्त दिखाई देते हैं और कार्नेलिया को देकर स्थिर संधि के साथ सिल्यूकस पराभूत होता है। उस समय कार्य सिद्धि के रूप में 'निर्वहण' संधि भी सम्मुख होती है। इस प्रकार इन तीनों की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' नाटक सफल समझना चाहिए।

अर्थोपक्षेपक—नाटक के अन्तर्गत आई हुई सामग्री दो प्रकार की होती है। एक तो वह जो मंच पर घटित होती हुई दिखाई देती है उसे 'दृश्य श्रव्य' कहते हैं। दूसरी वह जो घटित होती हुई न दिखाकर पात्रों द्वारा किसी प्रकार सूचना दिला दी जाती है जिससे कथानक की पूर्ति हो सके। इसे सूच्य सामग्री कहते हैं। मंच पर वर्जित दृश्यों जैसे मृत्यु, क्रांति, स्नान, भोजन आदि को मंच पर नहीं दिखाया जाता क्योंकि ये दृश्य इसके विरोधक होते हैं। कुछ दृश्य अभिनय के योग्य होते अथवा गौण होते हैं परन्तु मुख्य कथा का सूत्र

मिलाये रखने के लिए आवश्यक होते हैं, अतः उनकी उपेक्षा सम्भव नहीं है। इस प्रकार जो सामग्री मंच पर अभिनीत की जाती है उसे अंकों और दृश्यों में विभाजित करके रख दिया जाता है परन्तु जिन घटनाओं की मात्र सूचना ही दी जाती है उन्हें दृश्य के अन्त में कोष्ठक में रखा जाता है। इसी सूच्य सामग्री की सूचना देने के लिए अर्थोपक्षेपक होते हैं। ये निम्न पाँच हैं—

(१) **विष्कम्भक**—विष्कम्भक में पहले हो जाने वाली अथवा बाद में होने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। यह कथोपकथन दो पात्रों के मध्य में होता है पर ये दोनों पात्र प्रधान नहीं होते। इस दृश्य की स्थिति नाटक के आरम्भ में अथवा दो अंकों के मध्य में होती है। पात्रों की उत्तमता के अनुसार ही विष्कम्भक के भी शुद्ध और संकर दो भेद होते हैं। शुद्ध विष्कम्भक में पात्र शुद्ध भाषा एवं अपने परिष्कृत जीवन का परिचय देते हैं। मध्यम या निम्न श्रेणी के पात्र अशुद्ध भाषा में चलाऊ ढंग से घटना की सूचना असंस्कृत रूप में देते हैं। इस प्रकार का कथोपकथन संकर विष्कम्भक कहलाता है। पर अब इस प्रकार के दृश्य का ऐतिहासिक महत्त्व अथवा नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना भर के लिए अवशेष रह गया है वैसे आधुनिक हिन्दी नाटकों के पात्रों को उच्च एवं निम्न श्रेणी के रूप में विभाजित करना सम्भव नहीं है। चन्द्रगुप्त नाटक में इस प्रकार का विष्कम्भक नहीं मिलता। हाँ, नन्द की वाटिका में दो विद्यार्थियों द्वारा मगध साम्राज्य की क्रूरता का कुछ संकेत भर मिलता है पर वह विष्कम्भक की कोटि में नहीं आता।

(२) **चूलिका**—जिस कथा भाग की सूचना पर्दे के पीछे से अथवा नेपथ्य से दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में शास्त्रीय दृष्टि से खरी उतरने वाली 'चूलिका' की उपलब्धि भी नहीं होती है। हाँ, प्रथम अंक में राजा के अहेरी चीते के छूट जाने की सूचना पर्दे के पीछे से कराई है तथा तृतीय अंक में पर्वतेश्वर द्वारा यवन पराभव की सूचना चाणक्य को दिलाई गई है, पर ये चूलिका के शुद्ध उदाहरण नहीं हैं।

(३) **अंकास्य**—अंक के अन्त में मंच से बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा जब अगले अंक की सूचना दिलाई जाती है उसे अंकास्य कहते हैं। चन्द्रगुप्त

नाटक में कहीं-कहीं चाणक्य द्वारा दृश्य के अन्त में अथवा अंक के मध्य में कहीं भी अग्रिम कथा की ओर संकेत भर कर दिया गया है, पर शास्त्रीय अंकास्य कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

(४) **अंकावतार**—नाटक में प्रवेशक द्वारा घटनाओं की सूचना दिलाई जाती है। चाहे वह अंक के अन्त में अथवा दृश्य के मध्य में हो परन्तु विष्कम्भक में नाटक के आरम्भ में अथवा दो अंकों के मध्य में ही सूचना दिखाई जाती है। प्रवेशक द्वारा सूचना देने वाले पात्र सभी निम्न श्रेणी के होते हैं और असंस्कृत भाषा बोलते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक प्रवेशक का भी अभाव ही है। इन अर्थोपक्षेपकों से नाटककार को नाटक सृजन करने में तथा निर्देशक को नाटक का अभिनय करने में बड़ी सहायता मिलती है, इसमें रसोत्पादन की क्षमता नहीं होती क्योंकि ये विवरणात्मक ही होते हैं।

कथोपकथन—नाटक में तीन प्रकार के कथोपकथन रहते हैं सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य। पहला कथोपकथन वह होता है जो सभी के सुनने के लिए होता है। चन्द्रगुप्त में प्रायः सभी कथोपकथन इसी प्रकार के हैं। दूसरा अश्राव्य कथन यद्यपि किसी को सुनाने के लिए नहीं होता फिर भी मुखरित होने से प्रेक्षक सुन लेते हैं। यह स्वगत-कथन का ही एक रूप होता है क्योंकि यह स्वगत-कथन की भाँति लम्बा नहीं होता, पर स्वगत-कथन की भाँति भावावेश में व्यक्त किया जाता है। हिन्दी नाटकों में इसकी अस्वाभाविकता मिटाने के लिए किसी आत्मीय अथवा विश्वासपात्र सखा की सृष्टि कर ली जाती है जिसके सम्मुख भली प्रकार आत्म विश्लेषण किया जाता है। चन्द्रगुप्त नाटक में अलका, मालविका एवं चाणक्य के कुछ कथन इसी कोटि में आते हैं। तीसरा, नियतश्राव्य वह कथन होता है पर प्रेक्षक सब कुछ सुन ही लेते हैं। यह दो प्रकार का होता है—अपवारित और जनान्तिक। अपवारित में जिस पात्र में बात छिपानी है उसकी ओर से मुँह फेर दूसरे पात्र से बात कही जाती है। 'जनान्तिक' में अंगूठा और छोटी अंगुली को छोड़कर तीन अंगुलियों से आवरण-सा बनाकर मुँह की ओर ले जाते हुए पात्र विशेष को छोड़कर अन्य पात्र अथवा पात्रों से बात कही जाती है। विश्लेषणीय नाटक में यह तीसरे प्रकार का कथोपकथन नहीं पाया जाता।

कथोपकथन का एक प्रकार और है जिसे 'आकाश भाषित' कहते हैं। इसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुँह करके कल्पित व्यक्ति अथवा भावनामय होकर बात करता हुआ दिखाया जाता है। बन्दीगृह में पड़े हुए चाणक्य का कथन इसी प्रकार कहा जा सकता है।

विदूषक—नाटक में हास्य के स्थल लाने के लिए संस्कृत नाटककारों ने विदूषक पात्र का सृजन किया है। जितना भी नाटक में हास्य-विनोद दिखाई देता है वह सब इसी पात्र के चारों ओर चक्कर काटता दिखाई देता है। विदूषक पात्र ब्राह्मण होता था जिसका चरित्र 'पेटू' या 'खाऊ' में रहता था पर वह राजा का विश्वासपात्र एवं अंतरंग सखा होता था। सम्भव है सलाह-कार के पद पर रखने के कारण उसे ब्राह्मण रहना पड़ता हो। अपनी अंतरंगता के कारण ही वह अन्तःपुर में भी प्रवेश पाने का अधिकारी था। राजा उसे 'वयस्क' एवं 'मित्र' कहकर सम्बोधित करता था। अंग्रेजी नाटकों का 'क्लाउन' विदूषक का ही प्रतिरूप है।

प्रसाद जी की प्रकृति प्रारम्भ से ही अधिक गम्भीर एवं दार्शनिक रही है जो हास-परिहास के सर्वथा प्रतिकूल पड़ती है। अतः इस प्रकार का संघर्षपूर्ण मस्तिष्क किस प्रकार विदूषक जैसे पात्रों का सृजन करके नाटकों के वातावरण को हास-परिहास से परिपूर्ण करके शिथिल बना सकता था; पर ऐसी बात नहीं है कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों में विदूषक जैसे पात्रों के असृजन की सौगन्ध खा रक्खी हो। उन नाटकों में, जिनमें कथा-व्यापार का वेग इतना तीव्र होता है कि विश्राम लेने का अवसर ही नहीं मिलता, ऐसे पात्रों की अव-तारणा तो दूर रही, गन्ध भी नहीं आ सकी है जैसे चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी नाटकों में ऐसा कोई पात्र नहीं है। पर किसी-किसी नाटक में संस्कृत नाटकों की भाँति ही स्वतन्त्र रूप से विदूषक का भी सृजन किया है जैसे 'अजातशत्रु' नाटक में वसन्तक 'स्कन्दगुप्त' में मुद्गल। इनकी चारित्रिक विशेषतायें भी प्राचीन नाटकों जैसी ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य नाटकों में प्रसाद जी ने पात्र-विशेषों को ही विनोदी प्रकृति का बनाकर विदूषक का कार्य निकाला है जैसे महापिंगल विकटघोष, काश्यप आदि, ये सभी राजाओं के अन्तरंग मित्रों के रूप में हैं जिनकी प्रकृति आलोचना करना, अभीष्ट सिद्धि में योग देना, छूटे हुए कथांशों को सूत्र बद्ध करते जाना, दूतत्व करने के रूप में एवं अपने विनोद

पूर्ण व्यंग्यों से पाठकों और प्रेक्षकों को प्रसन्न करते चलना—इनका मुख्य धर्म है। पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक विदूषक सृष्टि की दृष्टि से अभागा ही रहा।

अंक एवं दृश्य—चन्द्रगुप्त नाटक चार अंकों में विभाजित है। प्रथम अंक में ग्यारह, द्वितीय में दस, तृतीय में नौ दृश्य हैं तथा चतुर्थ में चौदह दृश्य हैं। इस प्रकार चारों अंकों में ४४ दृश्य हैं। सिद्धान्ततः नाटक में पाँच अंक होने चाहिएँ—जिस प्रकार स्कन्दगुप्त नाटक में अन्य नाटकों में तीन ही अंक दिखाई देते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में तो और ही विशेषता है कि उसमें चार अंक हैं। अनुमानतः प्रसाद जी की इच्छा इस नाटक को भी पाँच ही अंकों में विभाजित करने की रही होगी, पर किन्हीं कारणों से उन्होंने पंचम अंक को भी चतुर्थ अंक में समाहित कर दिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है कि नाटकों में दृश्य संख्या क्रमशः घटती जाती है। पर चन्द्रगुप्त के चतुर्थ अंक में सर्वाधिक दृश्य संख्या हैं। चतुर्थ अंक और पंचम अंक का विभाजन स्वतन्त्र रूप से भी हो सकता था। चाणक्य और सिंहरण के चले जाने पर एकाकी चन्द्रगुप्त को स्वावलम्बी रूप में छोड़कर ही चतुर्थ अंक की समाप्ति की जा सकती थी और इससे चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का निखार भी खूब होता तथा पाँचवाँ अंक सिल्यूकस के अभियान और उसके पराभव से परिपूर्ण हो सकता था।

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त में तो क्या, किसी भी नाटक में सूच्य-दृश्य और दृश्य-दृश्यों का पृथक्-पृथक् विभाजन नहीं किया, पर उनके कार्य-व्यापार को देखकर उनका भेद किया जा सकता है। अभिनय करते समय चन्द्रगुप्त के कई दृश्य तो ऐसे हैं जो हटाये जा सकते हैं अथवा दूसरे दृश्य में समन्वित किए जा सकते हैं। किसी-किसी दृश्य की सिद्धि उनकी सूचनामात्र से ही हो सकती है जैसे प्रथम अंक का तृतीय दृश्य पाटलिपुत्र का भग्न 'कुटीर' द्वितीय अंक का पाँचवाँ दृश्य 'घायल सिंहरण और अलका', छठा दृश्य 'मालवों की स्कन्धावार में युद्ध-परिषद्', तृतीय अंक का प्रथम दृश्य 'राक्षस को बन्दी बनाने की चेष्टा' जिसमें है। इस प्रकार यह निश्चित है कि यदि विधिपूर्वक दृश्यों का पुनर्विभाजन किया जाता तो निश्चित ही विस्तार में लाघव होता तथा नाटक की अभिनेयता बढ़ती। पर विषय-संगठन की दृष्टि से विचार किया जाय तो

प्रसाद जी की विषय-विभाजक पटुता स्पष्ट ही दिखाई देती है। यह वे भली प्रकार जानते हैं कि किस घटना से अङ्क अथवा दृश्य आरम्भ किया जाय जिससे अर्थ-ध्वनि एवं प्रभाव सर्वाधिक पड़ सके। दृश्यों के अन्तर्गत घटनाओं के उतार-चढ़ाव एवं कार्य-शृंखलाओं की कसावट 'चन्द्रगुप्त नाटक में पर्याप्त मात्रा में है। अङ्कों अथवा दृश्यों के आरम्भ में मुख्य विषय का स्पष्ट निवेदन उल्लिखित रहता है जिसका सभी परिस्थितियों में क्रमिक विकास दिखाई देता है। प्रत्येक अङ्क के अन्त में पूर्ण प्रभावान्वित बनी रहती है। उनके अन्त में साहित्यिक पटुता का भी समावेश बना रहता है। प्रथम अङ्क की समाप्ति दाण्डायन के आश्रम के अलौकिक प्रभाव से भर गई है। द्वितीय अङ्क के अन्त में उत्कर्ष का सुन्दर स्वरूप देखने को मिल रहा है। तृतीय अङ्क की समाप्ति नन्द के पराभूत होने एवं चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के कारण आनन्दपूर्ण बन पड़ी है। चतुर्थ अङ्क का अन्त तो सर्वातिशय उत्कर्ष का द्योतक है। इस प्रकार प्रबन्ध-पटुता की दृष्टि से नाटककार प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पूर्णरूपेण सफल दिखाई देते हैं।

: ३ :

चन्द्रगुप्त : इतिहास और कल्पना

चन्द्रगुप्त नाटक में, कदाचित् प्रसाद जी के सभी नाटकों में, उनके इतिहास-ज्ञान की गरिमा सर्वाधिक अभिव्यक्त हुई है। आपने सिकन्दर के आक्रमण सम्बन्धी, नन्दकुल के विनाश से सम्बन्धित, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की इतिहास सम्बन्धी वे सभी बातें और घटनाएँ ऐतिहासिक सत्य के रूप में संकलित करके चुन ली हैं, जो या तो इतिहास में प्रसिद्ध हैं अथवा जन समाज में सत्य के रूप में दोहराई जाती हैं। इस नाटक में उन सत्यों की विवेचना भी है जिनमें इतिहासकार मतभेद रखते आये हैं। वैसे तो इन सभी विवादग्रस्त ऐतिहासिक तथ्यों का पुनराख्यान प्रसाद जी ने नाटक की भूमिका में कर दिया, पर अपने नाटक की कथावस्तु को साहित्यिक परिवेश में ऐसा सुसम्बद्ध किया है कि उस समय का पूर्ण इतिहास आँखों के सामने घूम जाता है। नाटककार का दृष्टिकोण इतिहास-क्षेत्र में सर्वत्र ही खोजपूर्ण रहा है और उन्होंने मौर्यवंश और तत्कालीन भारत-दशा के ऊपर पड़े हुए जन-श्रुतियों एवं अज्ञानता के आवरण को हटाकर प्रकाश में लाना चाहा है। कहीं भी उन्होंने ऐतिहासिक घटना अथवा सत्य को लोक प्रसिद्धि से पोषित अथवा ग्रन्थित करके समन्वय का झूठा प्रयास नहीं किया। विशेषता यह है कि ऐतिहासिकता निभाई है पर समाज, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता आदि स्तम्भों का गला घोटकर नहीं। पात्रों के चरित्र का विकास ऐतिहासिकता के परिवेष्टन में ही हुआ है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के पात्र अधिकांश में ऐतिहासिक ही हैं। भारतीय पात्रों में नन्द, राक्षस, वररुचि, शकटार चन्द्रगुप्त, चाणक्य, आम्भीक और पर्वतेश्वर तथा यवन पात्रों में सिकन्दर, सिल्यूकस, फिलिप्स, मेगास्थनीज ये सभी इतिहास के प्रसिद्ध नाम हैं। स्त्री पात्रों में नन्द और सिल्यूकस की एक-एक कन्या की चर्चा भी इतिहास में मिलती है, प्रसाद जी ने उन्हीं का कल्याणी और कार्नेलिया नाम रखा है। घटनाएँ तो अधिकांश में ऐतिहासिक हैं ही। विवादग्रस्त विषयों

पर प्रसाद जी ने स्वयं भूमिका में लिख दिया है। उनकी भूमिका में वर्णित उल्लेखनीय तत्त्व निम्न हैं—

(१) भारत में इससे ८०० वर्ष पूर्व एक क्रांति हुई थी, जिसमें, जिन जातियों को अपने कुल की क्रमागत वंश मर्यादा विस्मृत हो गई थी वे याज्ञिक पवित्र ब्राह्मणों के अर्बुदगिरि वाले महान् यज्ञ से सुसंस्कृत होकर चार जातियों में विभक्त हो गईं। सभी का नाम 'अग्निकुल' प्रसिद्ध हुआ। धीरे-धीरे अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा और वीरतापूर्ण पराक्रमों से इनकी गणना श्रेष्ठ क्षत्रियवंश में होने लगी। इस कुल की अनेक शाखाएँ हैं पर मौर्यशाखा लोकविश्रुत है। इनकी प्रमुख राजधानी पिप्पली कानन थी।

(२) नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' कहकर सम्बोधित किया है। इससे तत्कालीन हिन्दी काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुतः 'वृषल' शब्द में तो उनका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है···जो क्षत्रिय वैदिक क्रियाओं से उदासीन हो जाते थे, वे धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व को प्राप्त होते थे। वस्तुतः वे जाति के क्षत्रिय थे।

(३) इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है—यह अधिक सम्भव है कि नन्दों और मौर्यों का कोई रक्त-सम्बन्ध न था।

(४) मैक्समूलर भी लिखते हैं—मौर्य की उत्पत्ति मुरा से हुई। यह कथन प्रमाणित नहीं कहा जा सकता।

(५) अर्द्ध कथा, स्थिविरावली, कथा सरित-सागर और ढुंढि कहते हैं कि जब नन्द बहुत विलासी हुआ तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ गई—प्राचीन मन्त्री शकटार को बन्दी करके वररुचि नामक ब्राह्मण को उसने अपना मन्त्री बनाया।

(६) ग्रीक इतिहास-लेखक भी सहमत हैं कि चन्द्रगुप्त को राजक्रोध के कारण पाटलिपुत्र छोड़ना पड़ा था।

(७) ग्रीक ग्रन्थकार कहते हैं कि कूटनीतिक चतुर सिकन्दर ने १००० टेलेंट (लगभग ३८ लाख रुपया) देकर लोलुप देशद्रोही तक्षशिलाधीश को अपना मित्र बनाया।

(८) जस्टिन लिखता है—चन्द्रगुप्त ने अपनी असहनशीलता के कारण

सिकन्दर को असन्तुष्ट किया। वह सिकन्दर का पूर्ण विरोधी बन गया। सिकन्दर ने उसके वध की आज्ञा दी, पर चन्द्रगुप्त भाग गया।

(९) पुरु के युद्ध में जगद्विजयी सिकन्दर को कहना पड़ा—'आज हमें बराबरी का पराक्रमी शत्रु मिला।' इस युद्ध में सिकन्दर का अश्व 'बूका फेलस' हत हुआ और स्वयं सिकन्दर भी घायल हुआ।

(१०) जस्टिस कहता है—चन्द्रगुप्त ने यवनों के पीठ फेरते ही उनके भारतीय प्रदेशवासियों को स्वतन्त्र कर दिया और कुछ समय पश्चात् जिन्हें स्वतन्त्रता प्रदान की थी, उन्हें अपने अधीन कर लिया।

(११) इतिहास से पता चलता है कि सिल्यूकस से चन्द्रगुप्त का युद्ध सिन्धु तट पर हुआ था।

(१२) बौद्धधर्म तथा पुराणों की कथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि चाणक्य के वेद धर्मावलम्बी, कूट राजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान्, हठी और चन्द्रगुप्त की उन्नति का मूल कारण है।

इस प्रकार उपरोक्त ऐतिहासिक उल्लेखों को आधार मानकर तथा अपनी साहित्यिक प्रतिभा से उनमें श्रृंखला आरोपित करके प्रसाद जी ने प्रस्तुत नाटक को जो स्वरूप प्रदान किया है उसमें चाहे नाटककार ने कल्पना का कितना ही उपयोग किया हो, पर इसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है। यहाँ हम नाटक में वर्णित घटनाओं और भाग लेते पात्रों के माध्यम से नाटक की ऐतिहासिकता का विवेचन करेंगे। नाटक के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रसाद जी का मत इतिहासकारों द्वारा व्यक्त चन्द्रगुप्त मौर्य, विष्णुगुप्त चाणक्य सम्बन्धी तथ्यों से मेल खाता है। प्रस्तुत नाटक में निम्नलिखित घटनाएँ तथा ऐतिहासिक तथ्य सर्वथा इतिहास सम्मत हैं—

(१) चन्द्रगुप्त क्षत्रिय है। इसके लिए प्रसाद जी ने भूमिका में विष्णु पुराण का उदाहरण दिया है। 'वृषल' कहने का तात्पर्य केवल यही है कि उसके वंश में आर्य-संस्कारों की तुष्टि एवं सम्वृद्धि नहीं हो सकी। इतिहासकारों ने भी उसे क्षत्रिय प्रमाणित किया है और पिप्पलीकानन का मौर्य राजकुमार बतलाया है। (२) नाटक में नन्द को कामुक, विलासी और अत्याचारी बतलाया है। भयभीत प्रजा को भयमुक्त करने के लिए चन्द्रगुप्त ने उसकी

सत्ता छीनना चाहा, पर वह प्रथम बार असफल ही रहा। यह भी इतिहास सम्मत है। (३) नाटक में वर्णित चन्द्रगुप्त की सशक्त क्षमताओं को देखकर उसका क्षत्रियत्व स्वयं सिद्ध होता है। (४) चन्द्रगुप्त सिकन्दर से उसी के शिविर में मिला और वहीं यवन राजनीति को उसने समझा है तथा सिकन्दर के क्रुद्ध होने पर वह ग्रीक शिविर से पराक्रम और कौशलपूर्वक भागा है। यह भी इतिहासानुकूल ही हैं। (५) आम्भीक ने पुरु के जन्मजात वैर के कारण ही उसे नीचा दिखाने के लिए सिकन्दर से अभिसन्धि की है। साथ ही सिकन्दर के साथ हुए संघर्ष में पुरु पराजित भी हुआ है। तत्पश्चात् वचनबद्ध होकर उसका मित्र भी बना है—यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है। (६) सिकन्दर का मालव प्रदेश पर आक्रमण तथा आश्रम में दार्शनिक दाण्डायन द्वारा भर्त्संना किया जाना—इतिहास सम्मत है। (७) इतिहास के अनुसार ही नाटक में भी चाणक्य और चन्द्रगुप्त मिलकर सिकन्दर के विरुद्ध प्रचार करते हैं। (८) जंगल में चन्द्रगुप्त का व्याघ्र से सामना दिखाना ऐतिहासिक घटना है। (९) चाणक्य की कूटनीति तथा चन्द्रगुप्त के भुजबल से नन्द वंश का समूल उन्मूलन इतिहास के अनुसार ही नाटक में दिखाया गया है। इतिहास के अनुसार इस नाटक में भी पर्वतेश्वर (पुरु) ने चन्द्रगुप्त की सहायता की है। उसके दक्षिण विजय के अभियान का संकेत भी नाटक में मिलता है। (१०) नाटक का चतुर्थ अङ्क उसी ऐतिहासिक घटना की पुष्टि के लिए है जिसमें सिल्यूकस का भारत पर आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त का उससे संघर्ष करते हुए उसे पराजित करना तथा उसकी पुत्री का चन्द्रगुप्त से विवाह होना सिद्ध होता है। (११) इतिहास की भाँति नाटक भी यह बतलाता है कि चन्द्रगुप्त और नन्द की पुत्री का प्रणय सम्बन्ध था।

नाटक में उन घटनाओं के रेखाचित्र में रंग भर गया है जो इतिहास में तो कहीं-कहीं ही, पर संस्कृत साहित्य और लोक विश्रुति में प्रचलित है। वे घटनाएं निम्नलिखित हैं—

(१) नन्द के द्वारा चाणक्य की शिखा खिंचवाकर अपमानित किया जाना।

(२) नन्द की हत्या में अकेले चाणक्य का ही हाथ न होना और व्यक्तियों का भी उसमें हाथ होना।

(३) चाणक्य और चन्द्रगुप्त तक्षशिला में मिलने से पूर्व भी परिचित थे पर इसका कोई भी संकेत नाटक में नहीं है।

(४) नन्द की पुत्री और चन्द्रगुप्त का प्रणय सम्बन्ध था, जो विवाह में परिणत हुआ, पर नाटक में इसे नहीं दिखाया गया।

(५) चाणक्य की जन्मभूमि पाटलिपुत्र ही बताई गई है।

(६) नाटक के द्वारा यह भी प्रमाणित होता है कि नन्द ब्राह्मणों और बौद्धों को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था। साथ ही, उसकी हार्दिक सहानुभूति बौद्धों की ओर भी प्रतीत होती है।

प्रसाद जी एक बड़े कुशल नाटककार हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति युग का स्पर्श लेकर तो चलती ही है। अतः प्रसाद जी ने भी ऐतिहासिक घटनाओं को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही संयोजित किया है। ऐसा करने में व्यवधानों एवं आवृत घटनाओं के ऊपर कल्पना का सीमेंट लगाना आवश्यक हो ही जाता है। प्रसाद जी ने कल्पना के मनोवांछित योग से कथानक को राष्ट्रीयता से परिपुष्ट बनाया है। वे घटनाएँ जिनमें नाटककार के द्वारा कुछ हेर-फेर किया गया है, निम्न हैं—

(१) चन्द्रगुप्त मगध सेनापति के रूप में चित्रित है। पर्वतेश्वर के द्वारा उसके क्षत्रियत्व में शंका उठाई गई है और चाणक्य ने पर्वतेश्वर के समक्ष चन्द्रगुप्त का क्षत्रियत्व सिद्ध किया है।

(२ नाटक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य को वहाँ पूर्व परिचित न दिखाकर तक्षशिला विद्यालय में भेंट कराई है। चाणक्य को वहाँ पहले स्नातक, फिर आचार्य के रूप में चित्रित किया है और चन्द्रगुप्त को मगध से शिक्षा-प्राप्ति के लिए तक्षशिला गया हुआ बताया है।

(३) यद्यपि सिंकन्दर से अभिसन्धि करने के लिए प्रसाद जी ने आम्भीक ही सामने रखा है, पर गांधार नरेश के रूप में आम्भीक के पिता को दिखाकर उसका युवराजत्व सिद्ध किया है।

(४) जंगल में व्याघ्र का सामना कराते हुए सिल्यूकस से उसका परिचय कराके प्रसाद जी ने एक सम्बन्ध सूत्र स्थापित किया है—जिसका क्रमशः विकास होते-होते श्वसुर रूप में दिखाने में उसकी चरम परिणति हुई है।

(५) मालव सेना का संचालन सिंहरण द्वारा कराके प्रसाद जी ने इतिहास के मौन को मुखरित किया है और कल्पना द्वारा ही उससे सम्बन्धित घटनाओं की सृष्टि की है।

(६) इतिहास नन्द के बधिक को व्यक्तिगत रूप से बताने में असमर्थ है पर प्रसाद ने शकटार द्वारा उसका वध कराके घटना की तर्कसंगति बैठाई है।

(७) कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या और स्वयं की आत्महत्या दिखा-कर प्रसाद जी ने इतिहास के मौन को शब्दित किया है, जिसमें यही ज्ञात नहीं होता कि सिकन्दर से पराभूत होकर, उससे सन्धि करने पर पुरु या पौरस का क्या हुआ? पिता नन्द के मरने पर उसकी पुत्री का क्या जीवन-इतिहास रहा?

(८) चाणक्य द्वारा सिकन्दर के परिवर्तित होने पर सम्मानपूर्वक विदा किए जाने में प्रसाद जी ने इतिहास के तथ्यों को नए रूप में प्रकाशित करने की प्रवृत्ति दिखाई है।

(९) दाण्डायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया को स्निग्ध दृष्टि से देखते हुए चित्रित करके चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के पूर्व परिचय का औचित्य सिद्ध किया है। साथ ही, चन्द्रगुप्त के भावी परिणाम की ओर भी संकेत कर दिया है।

(१०) पुरु, पौरस के स्थान पर पर्वतेश्वर नाम देने में प्रसाद जी की सांस्कृतिक रुचि की झलक मिलती है।

(११) इतिहास आम्भीक को अपनी करनी से दुःखी होते हुए नहीं बतलाता, पर प्रसाद ने उसे पश्चात्ताप की अग्नि में शुद्ध करके देशभक्ति के पक्ष में खड़ा किया है।

इनके अतिरिक्त प्रसाद जी ने कुछ घटनाएँ तथा पात्रों का काल्पनिक रूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। घटनाओं को नवीन रूप देने एवं प्राचीन पात्रों के नए ढंग से तथा नवीन पात्रों के सृजन में निम्न कारण हो सकते हैं— प्रथम, कथावस्तु में आकर्षण उत्पन्न करने के लिए; द्वितीय, असम्बन्ध तथा विस्मृत घटनाओं को सुसम्बन्ध करने में एवं शृंखला-बद्ध उपस्थित करने के निमित्त से; तृतीय, पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के अनुकल ही उच्च अथवा

निकृष्ट घटनाओं में कार्य करने के कारण; चतुर्थ नाटकीयता की रक्षा के साथ-साथ साहित्यिकता लाने के लिए, पाठकों की जिज्ञासा बनाये रखने के लिए एवं संघर्ष बनाये रखने के साथ नाटक की चरम प्राप्ति के लिए।

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक में कुछ नवीन घटनाओं एवं नवीन पात्रों की सृष्टि भी की है। ये काल्पनिक घटनाएँ और पात्र निम्न हैं—

(१) तक्षशिला की राजकुमारी अलका एवं मालव कुमार सिंहरण का प्रेम-प्रसंग काल्पनिक है, फिर भी नाम और उनसे सम्बन्धित घटनाओं से तत्कालीनता की गन्ध आने लगी है। (२) चन्द्रगुप्त और कल्याणी का प्रणय-प्रसंग तथा कल्याणी का आत्महत्या करके मरना। चन्दगुप्त और मालविका की प्रेमिका स्निग्धता तथा मालविका द्वारा अपना जीवन चन्द्रगुप्त के लिए उत्सर्ग करना। (४) चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का परस्पर आकर्षण और विकास। (५) राक्षस और सुवासिनी का प्रेम-प्रसंग और उसका विकास। (६) चाणक्य की हार्दिकता के साथ सुवासिनी के प्रति उनकी कोमल भावनाओं के प्रसंग, (७) अन्धकूप से निकलते हुए शकटार का कारुणिक दृश्य, (८) पर्वतेश्वर द्वारा प्रथम तो कल्याणी को अस्वीकृत करना; पुनः उसी की ओर आकृष्ट होना। कल्याणी के द्वारा पर्वतेश्वर का वध करना तथा स्वयं आत्महत्या करना सर्वथा नवीन कल्पना है। (९) राक्षस और चाणक्य का संघर्ष। इसी प्रसंग में चाणक्य द्वारा जाली पत्र लिखकर राक्षस को पराभूत करते हुए सुवासिनी को विस्मय-विमुग्ध करना नवीन ही है। हाँ 'मुद्राराक्षस' में राक्षस की मुद्रा से सम्बन्धित कुछ तथ्य अवश्य मिल जाते हैं। (१०) राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त वध का षड्यन्त्र रचना एवं उसकी रक्षा के लिए मालविका को प्रशान्त करना। (११) चाणक्य के द्वारा सुवासिनी को कार्नेलिया के समीप भेजना। (१२) चन्द्रगुप्त के साथ चाणक्य का कृत्रिम कलह दिखाना आदि घटनाएँ पूर्णतः नवीन हैं।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के पात्रों को ३ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) एक तो वे जो पूर्णरूपेण ऐतिहासिक हैं, जैसे चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्द, राक्षस, वररुचि, शकटार, पुरु या पर्वतेश्वर, सिकन्दर, सिल्यूकस दाण्डायन आदि।

(ii) कार्नेलिया और सुवासिनी अर्द्ध ऐतिहासिक पात्र हैं क्योंकि इनका उल्लेख संकेत रूप में कहीं-कहीं हुआ है।

(iii) अलका, मालविका, सिंहरण, चाणक्य आदि कल्पना प्रसूत ही हैं। इस प्रकार पुरुष पात्र तो ऐतिहासिक हैं ही साथ ही, नायिका अलका भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व से अधिष्ठित हो गई है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक के कथानक और चरित्र सृष्टि द्वारा इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय किया है। प्रसाद जी की अनुशीलनगत समन्वयात्मक दृष्टि ने इतिहास की विस्मृतियों एवं अन्धकार युग को आलोकित करके हमारे समक्ष रखा है। सत्य की खोज सर्वत्र दृष्टव्य है। उनके ऐतिहासिक प्रमाणों में सम्बल है, पर थोथी ऐतिहासिकता के पीछे पड़कर उन्होंने साहित्य, संस्कृति और समाज का हनन नहीं किया है। फिर भी उनके सभी ऐतिहासिक नाटकों में चन्द्रगुप्त ही अधिक ऐतिहासिक खोज पर आधारित है।

चरित्र-चित्रण के आधार पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक की ऐतिहासिकता में दोष

(१) चन्द्रगुप्त के वंश सम्बन्धी खोज ऐतिहासिक आधार पर निर्भर हैं पर वहाँ पर भी प्रसाद जी की इतिहास में नवीनता लाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

(२) लोक प्रसिद्ध एवं गाथाओं के आधार पर चरित्र-चित्रण करना इतिहास के निकट नहीं पहुंचता।

(३) चन्द्रगुप्त और चाणक्य का चरित्र भारतीय संस्कृति का पोषक रहा है, पर नाटक में इनका चरित्र कुछ छिछला और क्षणिक भासित होता है। क्योंकि ४०-४१ वर्ष की आयु में भी चन्द्रगुप्त २०-२० वर्ष के युवक जैसी उच्छृंखलता एवं उन्मादावस्था का परिचय देता है।

(४) नाटक में वर्णित चाणक्य का चरित्र नन्द वंश का उन्मूलन करने वाले चाणक्य के समान गम्भीर प्रतीत नहीं होता। उसमें भी ५०-५० वर्ष की अवस्था में सुवासिनी की आयु की संभावना भी ४५-४६ वर्ष की आयु की जा रही है, क्योंकि वह चाणक्य की बाल-परिचिता बताई गई है। इस आयु में

प्रेम करते हुए दिखाया जाना चाणक्य के नीति-नियामक चरित्र-स्वरूप पर आघात करता है। अतः यह सम्पूर्ण चरित्र काल्पनिक ही प्रतीत होता है।

(५) कल्याणी के हृदय में पर्वतेश्वर के प्रतिशोध की जो भावना है वह भी स्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। उस पर भी एक राजकुमारी कन्या द्वारा एक क्षत्रिय की उसी के छुरे से हत्या करा देना, उसकी नारी प्रकृति के प्रतिकूल प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा इस प्रकार की नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो महान् साहित्यकार बाल्मीकि और तुलसी भी सीता के द्वारा ही रावण की मृत्यु करा देते।

(६) कार्नेलिया के साथ सिल्यूकस के आक्रमण के पश्चात् चन्द्रगुप्त का विवाह कराना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह आक्रमण सिकन्दर के अभियान के लगभग १५-२० वर्षों बाद हुआ था। उससे पूर्व भी कार्नेलिया २०-२५ वर्ष की रही होगी। इतने लम्बे समय तक वह चन्द्रगुप्त की प्रतीक्षा में कैसे कुमारी बनी रही ? क्या सिल्यूकस की आँखें बन्द हो गई थीं अथवा उसके योग्य कोई वर ही नहीं रहा था ? इस प्रकार इन तार्किक दोषों के बल पर नाटक की ऐतिहासिकता में सन्देह भी प्रकट किया जा सकता है, पर यह यह दोष नगण्य है।

सारांश में चन्द्रगुप्त नाटक इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है।

: ४ :

चन्द्रगुप्त : कालयोजना

सभी प्रकार के नाटकों में संकलनत्रय को प्रभूत महत्त्व दिया गया है। भारतीय नाटकाचार्यों ने तो स्थान, समय और कार्य के औचित्य का विधान किया ही है, पाश्चात्य चिन्तकों ने भी नाटक की प्रभविष्णुता की रक्षा के लिए इनके महत्त्व को स्वीकार किया है। अपनी सीमाओं के साथ ही प्रसाद हिन्दी साहित्य के अमर नाटककार हैं तथा उनका महत्त्व सर्वदा अक्षुण्ण है। चन्द्रगुप्त उनका ऐतिहासिक नाटक है अतः इसकी काल-योजना का परीक्षण अत्यन्त उपादेय होगा।

ऐतिहासिक नाटकों की रचना के समय नाटककार को उसमें समाहित समयावधि की ओर विशेष सतर्क रहना पड़ता है। इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखनी होती है कि नाटक का काल-विस्तार इतना अधिक न हो जाय कि दर्शकों को वह अस्वाभाविक प्रतीत हो। नाट्य शिल्प की दृष्टि से यह विचारणीय होता है कि सभी अंकों एवं दृश्यों में यथा साध्य सन्तुलन रखा जाय। आलोच्य नाटक के आरम्भ में प्रसाद ने इस नाटक की घटनाओं की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए अनेक ऐतिहासिक पौराणिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। 'चन्द्रगुप्त' की इस विस्तृत भूमिका में प्रसाद ने अनेक तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर मौर्यकालीन तिथि-क्रमों का चिन्तन विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त नाटक में आई प्रमुख तिथियाँ इस प्रकार हैं।

चन्द्रगुप्त की जन्मतिथि	—	३४६ ई० पू०
सिकन्दर से मिलने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त की तक्षशिला पहुँचने की तिथि	—	३२६ ई० पू०
सिकन्दर के विपाशा तट से वापस लौटने की तिथि	—	३२५ ई० पू०

सिकन्दर की मृत्यु और पंचनद में चन्द्रगुप्त द्वारा

ग्रीकों के विरुद्ध आयोजित विद्रोह की तिथि	—	३२३ ई० पू०
उनके राज्यारोहण की तिथि	—	३२१ ई० पू०
सिल्यूकस द्वारा भारत पर आक्रमण की तिथि	—	३०६ ई० पू०
चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की सन्धि-तिथि	—	३०५ ई० पू०

चूँकि उपर्युक्त तिथियों से इतिहासकारों का विशेष मतभेद नहीं है, अतः प्रसाद की इन तिथियों को स्वीकार करने में विशेष आपत्ति नहीं है।

प्रसाद द्वारा निर्धारित उपर्युक्त तिथियों को दृष्टि में रखकर यदि विचार किया जाये तो चन्द्रगुप्त नाटक का आरम्भ ३२७ ई० पू० में होता है तथा सम्पूर्ण नाटक का कथानक-विस्तार २४ वर्षों का है। सिकन्दर के आक्रमण के कुछ वर्षों से लेकर सिल्यूकस की चन्द्रगुप्त से सन्धि तक का काल इसमें आता है। कुछ आलोचक इस विस्तृत काल-योजना को नाटक के लिए अस्वाभाविक मानते हुए कहते हैं कि जिन पात्रों को आरम्भ में युवा देखते उन्हें अन्त में वृद्ध नहीं देखते, यह अस्वाभाविक-सा लगता है किन्तु डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का मत इस संदर्भ में विशेष ध्यातव्य है "नाटककार के रचना-कौशल की शक्ति से अतीत को भी प्रत्यक्षायमाप देखकर सामाजिक यदि इतना भी साधारणीकरण की परवशता में नहीं आ सकता, तब तो सारा रंगमंच और उस पर होने वाले समस्त अभिनय-व्यापार भले ही नाटक संकलन-त्रय के ही सिद्धान्तों के अनुसार क्यों न हो—उसे एक बाल-क्रीड़ा ही मालूम पड़ेंगे, क्योंकि उसके लिए नकल और अभिनय हो रहा है—इस बात को भूल जाना उतना ही दुष्कर है, जितना इतिहास की घटनाओं की काल-तालिका। नाटक में प्रदर्शित एक धारावाही घटनावली की योजना सुसंगत रूप में जहाँ तक चली है, तीन-चार घण्टों में प्रत्यक्ष देख लेने पर ऐतिहासिक दूरी तक ध्यान आ ही नहीं सकता। स्मरणीय है कि शर्मा जी ने प्रेक्षकों से साधारणीकरण की जिस परवशता की अपेक्षा की है वह सर्वथा उचित है क्योंकि साहित्य की कोई भी विधा हो उसमें वैज्ञानिक सटीकता का समग्र रूप में निर्वाह सम्भव नहीं है। रचनाकार अपनी कल्पना और भावना की तूलिका से जिस बहुरंगी चित्र का निर्माण करता है, उसका आनन्द स्थूल तथ्यवादी दृष्टि से

उठा पाना सम्भव नहीं। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि रचनाकार रचनाशिल्प की भी अवहेलना कर दे। यदि नाटककार इतने विस्तृत काल को अपनी रचना में उतारता है जो नाटक को अन्विति में बाधक हो या नाटक के विभिन्न अंकों एवं दृश्यों के नियोजन में भी काल-योजना की उपेक्षा की जाती है तो निश्चय ही वह शिल्प जन्य दोष माना जायेगा। अब हमें इन दोनों दृष्टियों से आलोच्य नाटक की काल-योजना का संक्षिप्तत मूल्यांकन करना है।

डॉ० जगदीश चन्द्र जोशी ने अपने शेष प्रबन्ध में चन्द्रगुप्त की काल-योजना पर निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये हैं :

'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक का पहला दृश्य ३२७ ई० पू० से शुरू होता है। इसका अन्त दाण्डयायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की प्रथम भेंट से होता है जिसका समय प्रसाद जी के, अनुसार ३२६ ई० पू० है। प्रथम और द्वितीय अंकों का अन्तर कम से कम एक माह का है, क्योंकि चन्द्रगुप्त ग्रीक-शिविर में रहकर 'यवन रणनीति' से कुछ परिचित हो गया है। द्वितीय अंक का प्रारम्भ भी ३२६ ई० पू० में ही होता है क्योंकि उसका प्रथम दृश्य ही उद्‌भांड का तट है और उदभाँड का सेतु ३२६ ई० पू० बसन्त ऋतु में बनाया गया था।

द्वितीय अंक सिकन्दर और मालव क्षुद्रकों के युद्ध में सिकन्दर के घायल हो जाने की घटना के साथ समाप्त होता है। स्मिथ के अनुसार सिकन्दर और मालव के बीच यह युद्ध ३२५ ई० पू० जनवरी में लड़ा गया था। अतः यदि स्मिथ के मत को मान लिया जाय तो सम्भवतः यह प्रसाद जी का मान्यता के विरोध में न जाना होगा। इस दशा में दूसरे अंक की घटना काल भी ३२६ ई० पू० से ३२५ ई० पू० तक लगभग एक वर्ष का काल होगा।

तीसरा अंक सिकन्दर और मालव क्षुद्रकों की सन्धि से आरम्भ होकर मगध में चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक पर समाप्त होता है। चन्द्रगुप्त के इस राज्याभिषेक की तिथि प्रसाद जी ने ३२१ ई० पू० मानी है। अतः इस अंक का घटना काल ४ वर्ष का है।

चतुर्थ अंक पर्वतेश्वर की हत्या से शुरू होकर सिल्यूकस की पराजय एवं

चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के विवाह पर समाप्त होता है। सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि का समय प्रसाद जी ३०५ ई० पू० मानते हैं। इस प्रकार इस अंक की कथा ३२१ ई० पू० से ३०५ ई० पू०तक १६ वर्ष की कथा है। यदि स्मिथ के मत को मानते हुए इसे ३०३ ई०पू० माना जाय तो चतुर्थ अंक का काल १८ वर्ष का हो जाता है।

हमने ऊपर इस बात की चर्चा की है कि नाटक में संकलनत्रय अर्थात् स्थान, काल और कार्य का औचित्य होना चाहिए। इस दृष्टि से यदि 'चन्द्रगुप्त' के विभिन्न अंकों के काल को देखा जाय तो नाटक के चारों अंकों की काल योजना में अत्यधिक वैषम्य सामने आता है। जैसा कि हमने देखा कि प्रथम दो अंकों में एक वर्ष की कथा है जबकि तृतीय अंक की कथा ४ वर्षों की एवं चतुर्थ अंक की १६ वर्षों की। नाटक दृश्य काव्य है अतः उसकी प्रभविष्णुता की रक्षा के लिए यथा सम्भव समान काल-क्रम की व्यवस्था रहती है जबकि आलोच्य नाटक में इस व्यवस्था की सर्वथा उपेक्षा-सी कर दी गई है।

विभिन्न अंकों में इस असामान्य अन्तराल के साथ-साथ आलोच्य नाटक के अंकों के विभिन्न दृश्यों में भी कलात्मक काल-नियोजन का अभाव झलकता है जिस पर संक्षेप में प्रकाश डालना अभीष्ट होगा।

चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य का कार्य काल अधिक से अधिक एक दिन का है। द्वितीय दृश्य और प्रथम दृश्य में स्थान भेद है अतः उन दोनों का घटना काल एक ही माना जा सकता है। तृतीय दृश्य एवं प्रथम दृश्य के बीच का समय अनुमानतः एक से लेकर दो माह तक का माना जा सकता है। चतुर्थ दृश्य अधिक से अधिक घण्टे भर का है तथा पाँचवें और चौथे दृश्य के बीच का समय एक दिन हो सकता है। छठे दृश्य में सामाजिक पुनः मगध से सिन्धु तट पहुंचा दिये जाते हैं अतः निश्चिय ही पाँचवें और छठे दृश्य के बीच कम से कम ग्यारह माह का अन्तर है। सातवें दृश्य का सम्बन्ध पाँचवें दृश्य से है और सिन्धु तट से सामाजिक को पुनः पाटलिपुत्र आना पड़ता है। आठवें दृश्य में उन्हें फिर मगध से गांधार भागना पड़ता है। छठे दृश्य का सम्बन्ध आठवें दृश्य से है। नौ दृश्य में पुनः स्थान भेद है। दसवें दृश्य का

सम्बन्ध आठवें और नवें दोनों दृश्यों से है तथा नवें और दसवें दृश्य के बीच का अन्तर एक सप्ताह से भी कम माना जा सकता है। ग्याहरवाँ दृश्य सिन्धु तट का है तथा सम्पूर्ण-दृश्य का काल अधिक से अधिक दो घण्टे का माना जा सकता है।

डॉ० जगदीश चन्द्र के अनुसार द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में स्थान दोष के साथ-साथ काल दोष भी है। सम्पूर्ण दृश्य अनुमानतः चार घण्टे का है। द्वियीय दृश्य का घटना काल कोई तीन घण्टे का है, तृतीय और द्वितीय दृश्यों के बीच दो तीन घण्टों का अन्तर है। चतुर्थ और पंचम दृश्य में स्थान भेद है अतः दोनो का एक ही काल में घटित होना सम्भव है। छठे दृश्य का काल घण्टे भर से अधिक का प्रतीत नहीं होता। सातवाँ दृश्य पुनः पंचनद का है। सातवें और आंठवें दृश्य के बीच आसानी से एक सप्ताह का अन्तर माना जा सकता है। नवें दृश्य में 'विपाशा तट' का पुनः उल्लेख हुआ है। आठवें और नवें दृश्य के बीच पन्द्रह-बीस दिन का अन्तर सम्भव है। दसवां दृश्य मालव युद्ध का है जिसमें चार-पाँच घण्टे का समय लगा होगा।

डॉ० जोशी के अनुसार तृतीय अंक की घटनाओं में कुल कितना समय लगा होगा, यह विवाद का विषय है। उनके अनुसार दूसरे और तीसरे दृश्यों के बीच अनुमानतः पन्द्रह दिनों का अन्तर होगा। तृतीय और चतुर्थ दृश्य के बीच कम से कम दस माह का अन्तर पड़ जाता है। इस दृश्य में प्रसाद जी से तिथि क्रम सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण भूल हो गई है जो काल-योजना का एक सशक्त दोष है। चौथे और पाँचवें दृश्य में एक-डेढ़ माह का अन्तर प्रसाद जी के अनुसार होना चाहिए। सातवें, आठवें और नवें दृश्यों की घटनाएँ एक ही दिन की हैं। विचारपूर्वक देखा जाय तो छठे और सातवें दृश्य के बीच कम से कम तीन वर्षों का अन्तर अवश्य मानना होगा किन्तु प्रसाद जी ने तीन वर्ष की घटना को एक सप्ताह में पूरा कर दिया है। आलोचकों ने ठीक ही कहा है कि चन्द्रगुप्त' के तृतीय अंक की घटनाएँ काल की दृष्टि से जितनी अव्य-वस्थित हैं उतनी अन्य अंकों की नहीं।

चतुर्थ अंक का काल सोलह वर्षों का है। प्रथम दृश्य का काल एक घण्टे का है तथा द्वितीय का उससे भी कम का। प्रथम और द्वितीये दृश्य का अन्तर

एक-दो दिनों का है। दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है। चतुर्थ दृश्य लगभग चार घण्टे का है। पाँचवां दृश्य घण्टे भर से अधिक का नहीं है। छठे दृश्य का कुल समय एक दिन का हो सकता है और सातवाँ दृश्य घण्टे भर से भी कम का है। आठवें से बारहवें दृश्य तक की घटनाएं ३०६ ई० पू० में घटी होंगी पर उनमें कितना समय लगा होगा यह कहना कठिन है। बारहवें और तेरहवें दृश्य के बीच एक सप्ताह का अन्तर सम्भव है। तेरहवें और चौदहवें दृश्यों में कालान्तर नहीं है।

डॉ० जोशी के मतानुसार सम्पूर्ण चतुर्थ अंक में १६ वर्षों की लम्बी कथा-वस्तु की योजना की गई है जिसके कारण न तो इतिहास की रक्षा हो सकी है और न नाटकीयता की।

निष्कर्षतः 'चन्द्रगुप्त' में असाधारण काल विस्तार तथा अंकों के दृश्यों का असन्तुलित विभाजन है। फिर भी नाटककार प्रसाद अपने कौशल से इस असन्तुलन को बहुत अंशों में दूर करने म सफल रहे हैं जिससे प्रेक्षकों को इसका बोध सामान्यतः नहीं हो पाता।

: ५ :

चन्द्रगुप्त : चरित्र-चित्रण-कौशल

चरित्र-चित्रण नाटक की रीढ़ होती है। पात्रों के कन्धों पर रखकर ही नाटककार अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है, स्वयं अपने मुख से नहीं कहता। यदि वह कहता है तो नाट्य कला की दृष्टि से शिथिलता आती है। भाषा भी उनके स्तर के अनुकूल ही होनी चाहिए। तभी उनमें सजीवता आ पाती है। इन मर्यादाओं के मध्य से नाटककार को पुरस्सार होना पड़ता है। नाटककार को पात्र चित्रण करने के लिए पूर्व-श्रुतियों अथवा जनश्रुतियों का वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करना पड़ता है। ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र में यथार्थता के साथ कल्पना के ताने-बाने बुनने पड़ते हैं। उन्हीं के व्यक्तित्व-विश्लेषण के साथ सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का युगानुकूल अंकन करना पड़ता है। आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण में यद्यपि मनोवैज्ञानिक विकास पर विशेष बल दिया जाता है जिसमें सामान्य से सामान्य जाति, वर्ग-अवस्था-कार्य का पात्र नाटक या उपन्यास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। फिर भी, नाटक क्षेत्र में पूर्व मान्य चरित्र-चित्रण की कसौटी ही अधिक उपादेय ठहरती है। इस क्षेत्र में नाटककार से अधिक उपन्यासकार का कार्य सरल होता है। उपन्यासकार तो चरित्र-चित्रण में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों स्वतन्त्र शैलियों को अपना सकता है। नाटक में विस्तार का अभाव और शाब्दिक महत्त्व दिया जाता है। उपन्यासकार चरित्र-विश्लेषण पर तथा नाटककार पात्र में व्यंजना, मनोविश्लेषण तथा अन्तर्द्वन्द्व पर विशेष बल देता है।

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक के कथानक में प्राचीन भारत के गौरव को प्रमुखता देते हुए राष्ट्रीयता का रंग चढ़ाया है। इसमें भारतीय इतिहास के हिन्दू-राजाओं के काल को महत्ता प्रदान की गई है। इतिहास के पृष्ठों में असम्बन्ध रूप से जो यथार्थ तथ्य मिलते हैं, उन्हीं को प्रसाद जी ने खोजपूर्ण

ढंग से व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इस नाटक में ऐतिहासिक पात्रों तथा इतिहासवत् काल्पनिक पात्रों का चित्रण उसी समय के समाज और संस्कृति के अनुकूल पड़ता है। यद्यपि भारतीय गौरव को महत्ता प्रदान करने की दृष्टि से तो यह ठीक है कि सर्वत्र ही विदेशी पात्रों को भारतीय पात्रों के द्वारा अभिभूत कराना, पर यह सवथा उचित नहीं कि एक पात्र को विदेशी होने के नाते सर्वथा हीन सिद्ध किया जाय। इस नाटक में सभी विदेशी पात्र गुणरहित प्रकृति से चित्रित किये गए हैं जिनकी ओर अन्तर्मन चित्रित की ओर आकर्षित नहीं होता है। वीर सिकन्दर को सिल्यूकस के द्वारा अविवेकी कहना तथा सिल्यूकस को सर्वथा मूर्ख बुद्धि वाला सिद्ध करना, कहाँ तक उचित है, यह पाठकों द्वारा विचारणीय तथ्य है।

पात्रों का वर्गीकरण—चन्द्रगुप्त नाटक के पात्रों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वदेशी पात्र और विदेशी पात्र। इसके अतिरिक्त पुरुष पात्र और स्त्री पात्रों का विशेषता और सामान्यता की दृष्टि से विभाजन सम्भव है। हम यहाँ सामान्य दृष्टि से ही—विशेष पुरुष पात्र, सामान्य पुरुष पात्र तथा विशेष स्त्री पात्र, मामान्य स्त्रीपात्र —अध्ययन करेंगे।

प्रमुख पुरुष पात्र

चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त का चरित्र इतिहास के पट पर बुना गया है। इतिहास की भाँति ही वह नाटक में लोक-प्रसिद्ध रूप में ही चित्रित हुआ है। संस्कृत साहित्य में वर्णित सभी गुण चन्द्रगुप्त के चरित्र में विद्यमान दिखाई देते हैं। कृतज्ञता, पाण्डित्य, कुलीनता, श्रीमानता, सुशीलता उसके चरित्र की विशेष निधि हैं। साथ ही, रूप-यौवन सम्पन्न होना, उत्साह परिपुष्ट होना, अनुराग से हृदल स्निग्ध होना ये उसके चरित्र के आकर्षण के केन्द्र बिन्दु हैं। चन्द्रगुप्त के चरित्र के दो पक्ष सम्पूर्ण नाटक में चित्रित हैं—प्रथम, आत्मसम्मान और वीरता से सम्बन्धित; द्वितीय, प्रेम भावना से परिपूर्ण उसकी कार्यविधि। अब हम क्रमशः उसके चारित्रिक विकास का अवलोकन करेंगे।

स्वातन्त्र्य को जन-जीवन की पूँजी के रूप में घोषणा करने वाला यह युवक 'प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतन्त्रता' के पक्ष का समर्थन करता हुआ मंच पर दिखाया जाता है। प्रारम्भ में इसकी मनोवृत्ति किशोरावस्था के बाल

की सी दिखाई जाती है जिसमें चपलता का प्राधान्य है। साथ ही, राष्ट्र जीवन के सम्बन्ध में जिनका दृष्टिकोण संकुचित है। तक्षशिला के गुरुकुल में ही—'हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहाँ गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की भी परीक्षा देते', यह कहते हुए चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। जिस चन्द्रगुप्त के कन्धों पर राष्ट्र की क्रान्ति का अभियान जाने वाला है उसके मुख से इस प्रकार के संकीर्ण विचारों को सुनकर पाठक शंकित हो उठते हैं कि इसके चरित्र का आगे किस प्रकार विकास होगा? वहीं से प्रसाद जी की मनोवैज्ञानिक दृष्टि उसके चरित्र का गठन करने लगती है। अगले क्षण ही वह कहता है, **'आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही जीवन है।'** आचार्य चाणक्य को चिन्तित मुद्रा में देखकर उसकी प्रतिज्ञा, 'यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ भी न कर सकेंगे, पाठकों में तो उत्साह और आनन्द की लहर भर देती है तथा उसका इसमें असीम आत्म-विश्वास टपकता है। तभी से नायकत्व की ओर अग्रसर कराने वाला उसका दृढ़ निश्चय 'यवनों को प्रतिपद में बाधा देने वाला' बन जाता है। उसकी अलौकिक वीरता ही 'जगद्विजेता का ढोंग करने वाले को एक बार पराजय का पाठ पढ़ा देने के लिए' सर्वत्र जागरूक रही है।

निर्भीकता उसकी नस-नस में बसी हुई है। नाटक के अन्य पात्रों में भी निर्भीकता देखने को मिलती है पर वह उस कोटि की नहीं है जैसी चन्द्रगुप्त की है। वह यवन शिविर में भी यवन सेनापति के सम्मुख देशद्रोही आम्भीक को खरी-खोटी सुनाकर अपनी निर्भीकता का तथा सिकन्दर के द्वारा यह कहे जाने पर कि 'हमारी सेना तुम्हारी सहायता करेगी' सुनकर वह जिस निर्भीकता-भरे आत्मविश्वास से उसे उत्तर देता है वह सर्वथा उसके अनुकूल ही है। वह कहता है—'मुझे आपकी सहायता नहीं चाहिए। मैं यहाँ यवनों को अपना शासक बनने को आमंत्रित करने नहीं आया हूँ···मुझे लोभ से पराभूत गांधार-राज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ पर यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।' कोरी शिष्टता की वकालत करते हुए आम्भीक को वह तपाक से उत्तर देता है—'स्वच्छ हृदय भीरु कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य! देशद्रोही आम्भीक! चन्द्रगुप्त

रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है। इतना ही नहीं, उस समय की प्रतिकूल परिस्थिति में से वह अपनी असाधारण वीरता दिखलाकर यवन शिविर से सुरक्षित निकल आता है।

इस निर्भीकता और वीरता के साथ-साथ उसमें दृढ़संकल्प और स्वावलम्बी प्रवृत्ति है। अपने माता-पिता, चाणक्य जैसे मन्त्रदाता गुरु और कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाले सच्चे मित्र सिंहरण के चले जाने पर भी वह अपने दायित्व से विचलित नहीं होता। उस समय भी धैर्य और साहस उसके कदमों में पड़े रहते हैं, तभी तो वह कहता है। 'पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कंधे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर सहचर सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा।' युद्धक्षेत्र के निकट नायक और सैनिकों के सम्मुख कहे गए उसके वीरोत्तेजक शब्द उसी की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं—'नायक! तुम खड्ग पकड़ सकते हो, और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते? बोलो! चन्द्रगुप्त के नाम पर प्राण दे सकते हो······चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष, विजयलक्ष्मी का मंगल-गान है। आज से ही मैं बलाधिकृत हूँ। मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ। चिन्ता क्या? सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें। डर क्या? सैनिको! सुन लो, आज से मैं सेनापति हूं······कह देना सिंहरण से चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।'

सैन्य संचालन का गुण चन्द्रगुप्त को पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है। 'इन्द्रजालिक बनकर यवन सेना में 'मगध के पास लक्ष्यावधि सैनिक है' कहकर विद्रोह फैलाना, कल्याणी की छोटी-सी मगध सेना को भुलावा देकर अपने उद्देश्य की सिद्धि के अनुकूल करना तथा विपाशा और शतद्रु के बीच के संकीर्ण भूभाग में सिकन्दर के सम्मुख अपनी सेना का विराट् प्रदर्शन करना एवं थोड़े से साहसी वीरों के साथ यवनों की सेना पर उलझाने और सामग्री नष्ट कराने के लिए आक्रमण करना—उसके कुशल सेनापतित्व की ही सूचना देते हैं।

चन्द्रगुप्त चरित्र का एक विशेष गुण है—कृतज्ञता स्वीकार करना। उपकारी के प्रति कृतज्ञ होना भारतीय रक्त में मिला हुआ है। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की भयंकर बाघ से रक्षा की है। वह इस उपकार को युद्ध के मैदान में भी

नहीं भूलता। इस आधार पर वह यवन शिविर में आमन्त्रित किया जाता है और आगामी मालव-युद्ध में वह उसी प्रत्युपकार के बोझ को हल्का करने के लिए प्राण संकट में पड़े हुए सिल्यूकस का कृतज्ञता का। भार हल्का करने के लिए जीवन दान देता है।

वह सचमुच क्षत्रिय है—उसने कुमारी कल्याणी की चीते से रक्षा की है। ऐन मौके पर पहुंचकर कामुक फिलिप्स से कार्नेलिया के सम्मान को बचाया है, साथ ही, मगध की उस पीड़ित, पददलित, अत्याचारों की अग्नि से सन्तपित जनता की करुण पुकार को सुनकर नायक बनकर उसका उद्धार किया है तथा जनता एवं देश के मानबिन्दुओं के लिए उसने हाथ में खड्ग धारण की है। तभी तो वह प्रारम्भ में आत्मविश्वास और दृढ़ उत्साह के साथ कारागृह के दुर्भेद्य अन्धकार में एकाकी प्रवेश करके, 'प्रबल शत्रुओं के सम्मुख भी अपने मान-बिन्दु चाणक्य को बन्दीगृह से छुड़ाकर उनके गौरव को बढ़ाता है। इस प्रकार उत्साहपूर्ण वीरता, विनय और कृतज्ञता की यह मूर्ति चन्द्रगुप्त सर्वत्र ही आकर्षण का केन्द्र बना रहता है।

सम्राट् होने पर वह न्यायी बनता है। उसकी न्यायप्रियता सराहनीय है। गुरुदेव के सम्मान के लिये न्याय की कसौटी पर वह अपने पिता को भी दण्डित करने की घोषणा से नहीं हिचकिचाता। वह कहता है—'पिता ज़ी, राज्य-व्यवस्था आप जानते होंगे, वध के लिए प्राणदण्ड होता है, और आप ने गुरुदेव का – इस आर्य साम्राज्य के निर्माणकर्त्ता ब्राह्मण का वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है।

अब चन्द्रगुप्त के चरित्र का दूसरा पक्ष देखिए जिससे सिद्ध होता है कि वह केवल युद्ध व्यवसायी वीर ही नहीं है, वरन् प्रेम और हृदय की भावुकता पर उसका कितना कलापूर्ण अधिकार व नियन्त्रण है। उसका कल्याणी तथा कार्नेलिया के प्रति प्रेम अवसरानुकूल झलकता है, तभी तो उसके कठोर कर्त्तव्य पथ पर चलने पर विशाल मरुस्थल में क्षीण जलधारा के समान उसकी भावुकता उसे मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य ही सिद्ध करती है देवता या कठोर कर्म में प्रवृत्त केवल चाणक्य के हाथ का पुतला ही नहीं बना देती। इसी के वशीभूत होकर वह अपने कठोर जीवन में उपरोक्त कुमा-

रियों को 'निर्दोष मणि', 'सरल बालिका' और 'स्वर्गीय कुसुम' शब्दों से सम्बोधित करता है। तभी तो वह 'रण भेरी से पहले मुरली की तान' सुनने का अभिलाषी बना रहता है। प्रारम्भ में ही वह कल्याणी से कहता है—"यह अनुचर सेवा के लिए उपयुक्त अवसर पर आ पहुँचा।" केवल उसी को देखने के लिए ही तो कल्याणी युद्ध क्षेत्र में पहुँचती है। वह कर्त्तव्य से भी विचलित नहीं होता, तभी तो कह देता है कि 'मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है।' अन्त में कल्याणी के द्वारा पूछे जाने पर कि आप कब तक मगध लौटेंगे? उत्तर में उसके कर्त्तव्य की ही प्रधानता रहती है। वह कहता है—"मैं सेनापति का शत्रु हूँ, यह मेरी आजीविका है।" मालविका के प्रति उसका हृदय तरल है तभी तो वह एकान्त में उससे पूछ बैठता है—'मालविका तुमको गाना आता है?' युद्धकाल होने पर भी वह 'रणभेरी से पहले मधुर मुरली की तान' सुनना चाहता है। अन्त में तो वह मालविका से स्पष्ट ही केवल कह देता है—'शुभे! मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ।' पर संयम और कर्त्तव्य की भावना उसमें सर्वत्र सजग रहती है जिस प्रकार वह कल्याणी की प्रेममयी भावनाओं को यह कहकर कि 'राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है' टाल देता है, उसी प्रकार मालविका के भोलेभाले कथन पर—'मगध! तुमको देखकर तो मैं चकित हो जाती हूँ। कभी इन्द्र पाली, कभी कुछ! भला इतना सुन्दर रूप तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है?' वह यह कहते हुए—'तुम इन बातों को पूछकर क्या करोगी? हँसकर टाल देता है। कर्त्तव्य की उच्चता और नीरसता उसे एक बार अन्त में उसके अन्तर को झकझोर देती है। उसका प्रेमी हृदय भूखे केहरी की भाँति चीत्कार करने लगता है—'मैं सबसे भिन्न, एक भयप्रदर्शन-सा बन गया हूँ, कोई जरा अन्तरंग नहीं।' यहाँ पर आकर वह चन्द्रगुप्त, जिसने मालविका के सरल प्रेमी की उपेक्षा की थी, आज उसी के सम्मुख हार्दिक 'बिछलन' से फिसला जा रहा है। उस समय उसे कर्त्तव्य पालन में आकर्षण प्रतीत नहीं होता। उसके निम्न कथन में महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त की साधारण जन सुलभ दुर्बलता भी देखती है 'संघर्ष युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो—मालविका! आशा और निराशा का युद्ध। भावों का अभाव से द्वन्द्व! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी संपूर्ण

सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है। मालविका ताम्बूलवाहिनी नहीं, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिवृत्ति हो। देखो मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं।'

कल्याणी और मालविका के अतिरिक्त यवन कुमारी कार्नेलिया से भी चन्द्रगुप्त के प्रेमतन्तु प्रारम्भ से ही विकसित हुए हैं। कई बार उससे एकांत में भेंट हुई है। कई बार दो नेत्र अपने सगोत्रियों से मिलकर चार हुए हैं। पर उसकी ओर चन्द्रगुप्त का हार्दिक आकर्षण वासना की कोटि में नहीं आ सकता। प्रेम का यही विकास नाटककार ने कुशलतापूर्वक विवाह रूप में परिणत किया है।

इस प्रकार अपने चरित्र की निर्भीकता, उचित के लिए दृढ़ता, मित्रता में धैर्य व उपकार के लिए कृतज्ञता, गुरुजनों के लिए विनयशीलता, अपने कार्य में आत्मविश्वास एवं कर्त्तव्यपरायण तथा प्रेम के क्षेत्र में सहृदयता आदि गुणों से परिपूर्ण प्रारम्भ में क्षत्रिय राजकुमार बाद को सम्राट् नाटक के सभी प्रमुख पात्रों को अपनी श्रीमानता एवं वीरता से मुग्ध करता है। उसके सम्बन्ध में नाटक के प्रमुख पात्रों की धारणा देखिए—कल्याणी प्रथम अंक के चौथे दृश्य में कृतज्ञता स्वीकार करती हुई कहती है—'नमस्कार चन्द्रगुप्त, मैं कृतज्ञ हुई।' अकेला चन्द्रगुप्त जब बन्दीगृह के कठोर पहरे में से सभी को परास्त करके छुड़ाता है तो गद्‌गद् होते हुए चाणक्य कहता है—'मेरे शिष्य! वत्स चन्द्रगुप्त!' प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य में आकृष्ट हुआ वीर सिकन्दर कहता है—'यह तेजस्वी युवक कौन है।' दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में सिल्यूकस कहता है—'चंद्रगुप्त एक वीर युवक है।' इसी अंक के चौथे दृश्य में मालविका कहती है—'अद्‌भुत युवक है।' तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में वीर पर्वतेश्वर कहता है—'मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को नहीं कर सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया...मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है।' इस प्रकार फिलिप्स कार्नेलिया, राक्षस और नन्द भी उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं।

चाणक्य

जिसके दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलट देने की शक्ति है और कोमल हृदय

में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की कठोरता भी है, ऐसा ब्राह्मण चाणक्य, जो तक्षशिला विश्वविद्यालय का स्नातक रहा है पर गुरुदक्षिणा न देने के कारण वह एक वर्ष तक वहीं अर्थशास्त्र का शिक्षक भी रहा है—इसी रूप में वह सर्वप्रथम मञ्च पर आता है। व्याख्या की दृष्टि से वह अर्थशास्त्र के संकुचित अर्थ को स्वीकार नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर उसका व्यावहारिक जीवन में मूल्यांकन करता है। तभी तो वह कात्यायन से कहता है—'कात्यायन अब केवल पाणिनि से काम नहीं चलेगा।' अर्थशास्त्र और दण्डनीति की आवश्यकता है। 'शास्त्र प्रणेता' और 'व्यवस्थापक' चाणक्य का चरित्र नाटक में बहुत ही स्वाभाविक गति से, मनोवैज्ञानिक आधार पर अन्तर्द्वन्द्व के संघर्ष में भी चाणक्य के दार्शनिक व्यक्तित्व का भी निर्माण होता है। चाणक्य के चरित्र में शुद्ध ब्राह्मण शक्ति का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। उसमें जातिगत मर्यादा कूट-कूट कर भरी है और निरन्तर वह ब्राह्मणों के स्वतन्त्र और विभूतिमय आध्यात्मिक जीवन का स्मरण करता हुआ देखा जाता है। वह उपकार के बोझ से कहीं भी दबना नहीं चाहता। उसका दर्प भरा ब्राह्मणत्व उसी के शब्दों में देखिये—'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत पीकर जीता है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।''

यद्यपि 'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है फिर भी नाटक के सम्पूर्ण घटनाचक्र के पीछे काम करने वाला केन्द्र चाणक्य ही है। नाटक के सभी प्रमुख पात्र—चन्द्रगुप्त, अलका, सिंहरण, पूर्ण रूप से, सुवासिनी, राक्षस, पर्वतेश्वर, आम्भीक, कल्याणी आदि आंशिक रूप से उसकी बुद्धि के खिलौने हैं। इन सबके कार्यकलापों में चाणक्य की इच्छा मात्र का व्यक्तीकरण होता है। उसका चरित्र क्रमबद्ध रूप में विकसित हुआ है। प्रथम अंक के पहले दृश्य में ही उसकी सतर्कता, स्वाभिमान, दूरदर्शिता और गौरवपूर्ण गम्भीरता ये चार गुण उसके चरित्र में देखने को मिलते हैं। सतर्कता उसकी इस बात में है कि सिंहरण से प्रारम्भ में ही प्रश्न करता है—'जानते हो यवनों के दूत यहाँ क्यों आये ?'

राजकुमार आम्भीक से—'अपने ब्राह्मणत्व पर आँच आने पर वह अभिमान और दृढ़ विश्वास से कह देता है कि 'अविश्वासी क्षत्रियों के संकीर्ण विचारों का यही कुफल है जो दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं।' यहीं पर उसकी गरिमा-मयी गंभीरता भी प्रकट होती है जब वह उद्धत और हल्की मनोवृत्ति वाले आम्भीक को तलवार चलाते हुए देखता है तो राजकुमारी अलका से कहता है—'मैं गुरुकुल का अधिकारी हूं। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। × × × विश्वास रखना, इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज तक न पहुंचेगा।' दूरदर्शी होने के नाते ही तो वह चन्द्रगुप्त को समझाता है—'आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विजेता से पददलित होंगे, तथा राक्षस के बन्दीगृह में उससे यह कहने पर 'कि तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त प्रतिनिधि बनकर जाना चाहते हो या मृत्यु' सुनते ही उसकी दूरदर्शिनी बुद्धि सजग होकर प्रश्नकर्त्ता का आशय अभिव्यक्त कर देती है—'जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं और सुनो, पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।'

निर्भीकता चाणक्य के चरित्र का विशेष गुण है, जिसका परिचय उसके प्रत्येक कथन से होता है और ब्राह्मण का गौरव निशाना होने पर तो विशेष रूप से। सम्राट् नन्द के द्वारा अपमानित किए जाने पर वह निडरता से उसे सावधान करता है—'नन्द तुम्हारी धर्मान्धता प्रेरित राजनीति आंधी की तरह चलेगी, उसमें नन्दवंश समूल उखड़ेगा।' इसी प्रकार क्षत्रिय पर्वतेश्वर को वह पहले तो प्रलोभन देकर आगामी युद्ध के लिए अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है, पर तिरस्कार मिलने पर वह क्षत विषधर की भाँति वाक्प्रहार करता है—'क्षत्रियाभिमानी गौरव ! तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते...... और स्मरण रखना, आसन्न यवन युद्ध में शौर्य गर्व से तुम पराभूत होंगे, ऐसा यह स्वाभिमानी चरित्र है जो बन्दीगृह की निष्ठुर यन्त्रणा से मुक्ति तो चाहता है पर दया की भिक्षा मांगकर नहीं।

राजनीति के क्षेत्र में वह शक्ति से बढ़कर मुक्ति को मानता है। तभी तो वह विपत्तियों के मंडराते हुए बादलों की चिन्ता न करते हुए, एक कुशल राज-नीतिज्ञ की भाँति सिहरण को बताता है—'पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं और मेरी

नीति-लता भी उसी भाँति विपत्तितम में लहलही होगी।' हाँ केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा। इस क्षेत्र में वह साम, दाम, दण्ड, भेद सभी से काम लेता है। तभी तो वह कहता है—'चाणक्य, सिद्धि देखता है साधन कैसे ही हों।' तभी तो वह चन्द्रगुप्त और सिंहरण जैसे वीरों को सपेरा और नट बनाकर पर्वतेश्वर को पराभूत होने देता है। अपनी सिद्धि के लिए वह कल्याणी को चन्द्रगुप्त के प्रेम के प्रलोभन से रोक देता है और राष्ट्र भक्त राक्षस को आक्रान्ता का भय दिखाकर एवं सुवासिनी के प्रेम के आकर्षण में फँसाकर वहीं रोके रहता है। ऐसा करते हुए एक बार वह राक्षस को अपने ही सैनिकों को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है और दूसरे ही क्षण अपने ही सैनिकों से उसकी रक्षा करा देता है। राक्षस उससे विश्वस्त होकर उसे अपनी अंगूठी भी दे देता है। इस प्रकार चाणक्य को अपनी बुद्धि के कार्य पर पूर्ण विश्वास है।

चाणक्य सचमुच में ब्राह्मणस्वरूप है—जिसकी बुद्धि सात्विक मंगल-कामना से युक्त है। तभी तो वह सदा कल्याण कामना से युक्त आशीर्वाद देता है। यहाँ तक कि अपने प्रतिपक्षियों और शत्रुओं को भी—राक्षस, सिकन्दर, सिल्यूकस और आम्भीक को आशीर्वाद देता है। 'दया' की स्रोतस्विनी उसके हृदय में उमड़ती रहती है। वह सच्चा राष्ट्रभक्त है। वह आसेतु-हिमाचल एकच्छत्र राज्य देखने का अभिलाषी है तभी तो वह क्रोध और दुःख में भी अपना ध्येय नहीं भुलाता। कृत्रिम कलह होने पर भी वह चन्द्रगुप्त को अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुँचाता है।

चाणक्य त्याग और तपस्या की मूर्ति है। चन्द्रगुप्त तो अब तक इतिहास के पन्नों में जीवित रह पाया है पर चाणक्य व्यावहारिक जीवन के कण-कण में जागरूक है। उसकी विलक्षण प्रतिभा ने ही नन्दवंश का उन्मूलन किया है। पर्वतेश्वर का मानमर्दन किया है, सिकन्दर जैसे महान् योद्धा को पराङ्मुख किया है। वह राजनीति का जीता जागता पुतला है। जब वह चन्द्रगुप्त को मेघयुक्त चन्द्र के समान देखकर मंच से हट जाता है तब उसकी निष्पृहता की सराहना होती है। यह है भारतीय ब्राह्मण का सजीव आदर्श।

नाटक का चाणक्य ऐतिहासिक चाणक्य के समान क्रूर और हृदयहीन नहीं

है। नाटक के चाणक्य को क्रूरकर्मा और रूक्ष राजनीति विशारद की पदवी नहीं दी जा सकती। जिस चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से मुक्ति नहीं, जो 'शक्तिहीन' होने पर क्षमा न करने की प्रतिज्ञा कर चुका है—उसी चाणक्य की सहृदयता सुवासिनी के प्रसंग में ध्वनित होती है जिसके ऊपरी आवरण में इतनी निष्ठुरता है कि चन्द्रगुप्त को मालविका से बातें करते हुए देखकर कहता है—'छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है' तथा कल्याणी की आत्महत्या पर कहता है कि—'चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कटक हुए।' वही चाणक्य प्रारम्भ में भी है जो तक्षशिला से लौटने पर बालस्मृतियों के सम्मुख नाचने लगता है। अपने भग्न कुटीर को देखकर कहता है—पिताजी! यहीं मुझे गोद में बिठा कर राजमन्दिर का सुख अनुभव करते थे।' हृदय में स्थित उन कोमल भावनाओं के प्रतिकार से ही उसमें मगध शासन को उलट देने की शक्ति आई है। जो सुवासिनी उसकी बाल सहचरी है वही बौद्ध धर्म स्वीकार करके रंगशाला में चली जाती है। तब उसका मानवीय हृदय क्षोभयुक्त व्यंग्य से भर जाता है, तभी तो वह तीखे व्यंग्य में कहता है—'चलो वारविलासिनियों के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी।' एक बार तो सुवासिनी के प्रति उसका हृदय इतना द्रवित हो जाता है कि वह कह उठता है—'मैं तुमसे बालकाल से परिचित हूं सुवासिनी! तुम खेल में हारने के समय रोते हुए हँस दिया करतीं। तब मैं हार स्वीकार कर लेता······' तभी तो सुवासिनी कहती है—'यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में रखने का संकल्प रखते हो। फिर अपने को नहीं! देखो दर्पण लेकर—तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौन सा नवीन चित्र है।' पर उसी के हृदय में मर्यादा-निर्वाह के कारण सुवासिनी से वितृष्णा भी हो जाती है कि उसका प्रेम पत्नी मात्र से राक्षस से विकसित हो चुका है। वह अपनी प्रेमिका के सुख-संतोष के लिए अपनी भाव शान्ति के अद्‌भुत संयम का प्रदर्शन करता है। पुनः राक्षस के कारण सुवासिनी को विवश करता है। वासना के पंक से कलंकित हृदय में त्याग युक्त ऐसा संयम कहाँ मिलता है। प्रेम सचमुच त्याग की मूर्ति होता है, तभी तो वह अपनी अमूल्य निधि राक्षस को समर्पित करता है। उसका प्रेम त्याग रूप धारण करके सुवासिनी से कहता है—'सुवासिनी! वह स्वप्न टूट गया। इस विजन बालुका सिन्धु में एक सुधा

की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक ही भ्रू भंग ने उसे लौटा दिया।' यही सुनकर स्तब्ध हुई सुवासिनी उससे कहती है—'तो विष्णुगुप्त तुम इतना बड़ा त्याग करोगे। अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे और सो भी मेरे लिए।'

चाणक्य के चरित्र में एक क्रमिक निखार है। एक ओर तो वह शनैः-शनैः दृढ़ और राजनीति के क्रूर कार्य का उपासक है तो दूसरी ओर अपनी प्रेमिका सुवासिनी के सुखद जीवन के लिए अपने प्रेम की बलि चढ़ा देता है। अन्त में, वह पूर्ण विरक्त होकर कहता है—'आज मैं जैसे निष्काम हो रहा हूं। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हुई।'

चाणक्य का चरित्र सम्पूर्ण नाटक में एक उग्र कर्मयोगी के रूप में दिखाई पड़ता है। वह 'राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता। हाँ राजाओं का नियमन करना जानता है।' क्रूरता उसके वर्तमान में ही है, उसके बाह्य पक्ष में ही है, भविष्य उसका सुख शान्तिदायी परिणाम वाला है। श्रेय के लिए वह सर्वस्व त्याग की क्षमता का पाठ पढ़ाता है। उसके जीवन का चरम है—मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवनदान करना, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न आना' यही तो सचमुच ब्राह्मणत्व है। उसकी सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्र कल्याण के लिए ही लगती है। सारांश में उसका चरित्र आत्मसम्मानी, दृढ़ संकल्पी, अद्भूत बुद्धि वैभवी एवं सभी को प्रभावित करने वाला हुआ है।

उसने जो कुछ अपने विषय में अपने मुख से कहा है वह तो उसके चरित्र की दुहाई देता ही है, साथ ही उसके अनुयायी और विपक्षियों ने उसके विषय में बहुत कुछ कहा है। वह कथन ही उसके चरित्र को वास्तविक रूप से अंकित करता है। राक्षस उसका प्रबल विरोधी, राजनीति एवं व्यक्तिगत क्षेत्र दोनों में है। वह भी इसकी बार-बार प्रशंसा करता है। 'मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता, पर इसकी बातें मानने के लिए विवश हो रहा हूं।' यवनों की पराजय होने पर राक्षस का अन्तर उसकी प्रशंसा में फूट पड़ता है—'चाणक्य

विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड़ किया करती है···चाणक्य ! धन्य है। मुझे ईर्ष्या होती है।' चाणक्य का दूसरा विरोधी है पर्वतेश्वर, जिसने उसे तिरस्कृत किया था। वही यवनों द्वारा आर्यावर्त्त को पददलित होते देख स्वीकारोक्ति में कहता है—"ब्राह्मण ! तुम्हारी बात सच हुई। मैं गर्व से भूला था···'यह नृशंसता की बाढ़ उतारना आप ही का काम है। जो नन्द उसकी शिखा पकड़कर निकलवाता है और एक क्षण पहले उसे अपने टुकड़ों से पला हुआ बतलाता है, वही मौत सामने देखकर दीनभाव से चाणक्य से कहता है 'चाणक्य, मैं कल्याणी के संग जंगल में जाकर तपस्या करना चाहता हूँ।' प्रमुख पात्र अलका उसे सदैव 'आर्य' रूप में सम्बोधित करती है। सिंहरण सदैव उसकी 'आज्ञा' का अभिलाषी बना रहता है। मालविका उसकी इच्छा मात्र से अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है। मालवों की युद्ध-परिषद् उसका सम्मान करती है। कल्याणी उसकी इच्छा का खिलौना बनी रहती है और तो और प्रमुख विदेशी विपक्षी सिकन्दर और सिल्यूकस भी उसका साधुवाद करते हुए उस प्रखर बुद्धि वाले चाणक्य को 'बुद्धिसागर' कहते हैं। सेनापति मौर्य और उसकी पत्नी भी 'आर्य चाणक्य' कहकर उसको सम्मानित करते हैं। अन्त में, आम्भीक भी उसकी सभी बातें स्वीकार करता है।

विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य का चरित्र उभय पक्ष में मनोवैज्ञानिकता से पुष्ट नहीं हो पाया है। उसमें उसकी मस्तिष्क प्रधानता ही पाठकों के सम्मुख आती है। सहृदयता नाम को भी नहीं। द्विजेन्द्रलालराय के 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य ब्राह्मण वर्ग का प्रतीक दिखाई देता है। ब्राह्मणत्व का भार उसमें इतना अधिक है कि वह और पर लादने का प्रयत्न करता है। पर प्रसाद का चाणक्य कलापूर्ण ढंग से मानव जीव सम्बन्धित स्वाभाविक प्रतीत होता है। 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य में मस्तिष्क, ब्राह्मण वर्ण एवं हृदयपक्ष का समन्वित सन्तुलन हुआ है।

सिंहरण

प्रसाद जी की मानसी दृष्टि में यह मालवगण का मुख्य कुमार है। सिंहरण का व्यक्तित्व हमारे सामने सर्वप्रथम उत्साही और निर्भीक युवक के रूप मे

आता है। वह आम्भीक से कहता है—'यों तो विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, फिर उसे तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।' उसके मनोबल में वनराज की तरह स्वतन्त्रता है, तभी तो राजकुमार आम्भीक के क्रुद्ध होने पर—'बताना होगा मेरी आज्ञा है।' वह वक्ष ऊँचा किए, मस्तक उठाए निर्भीकता से कहता है—'गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा ही शिरोधार्य होती है, अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं।' उसके अर्थशास्त्र से बढ़कर अस्त्रशास्त्र की शिक्षा अनिवार्य है। 'तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की' आज्ञा से प्रतीत होता है कि उसका राज्य उसकी दूरदर्शिता पर विश्वास करता है। उसकी दूरदर्शिता ने तो आर्यावर्त का भविष्य पढ़ने में बड़ी यथार्थता का परिचय दिया है। प्रारम्भ में ही हमें उसमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी मिलती है। उसने अनुभव किया है कि 'उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर हैं' तक्षशिलाधीश के कुचक्र का उसे भान हो गया है जिसे वह आर्यों का कलंक समझता है। राष्ट्रीयता संबंधी उसका दृष्टिकोण विशाल है। वह कहता है - मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त है।' और इसी समग्र आर्यभूमि की रक्षा के लिए वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धि को एकनिष्ठ करके चाणक्य की आज्ञा पर केन्द्रित कर देता है। उसका जीवन जन्मभूमि की रक्षा में न्यौछावर है। चन्द्रगुप्त भी उसे उसी लक्ष्य के लिए शर-सन्धान प्रतीत होता है। इसलिए वह उसके व्यापार में आद्यापान्त सहयोग देता है। 'कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलने वाला भाई कुछ काल के लिए पृथक् होकर पुनः जब चन्द्रगुप्त से मिलता है तब कहता है—'भाई सिंहरण! बड़े अवसर पर आये', उसके उत्तर में भी कितना मनोबल है व उससे मिलने की कितनी आकुलता होती है-'हाँ सम्राट! और समय चाहे मालव न मिले, पर प्राण देने का महोत्सव वे नहीं छोड़ सकते। इस प्रकार उसने अपनी मित्रता का सर्वथा निर्वाह किया है।

सम्पूर्ण नाटक में सिंहरण का व्यक्तित्व ही वीरत्व से परिपूर्ण है, जिसमें शिथिलता की कहीं भी गंध नहीं आ पाई है। सर्वत्र ही कर्त्तव्य की प्रमुखता रही है जिसके कार्य तल्लीनता और लगन के प्रतीक हैं, जिसके कार्य विधान में जटिलता नहीं है और जिसके व्यवहार में वास्तविकता है। जिसका 'वीर

हृदय' मयूर की भाँति चंचला 'रणलक्ष्मी के आह्वान पर' सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद को देखकर नृत्य करने लगता है। तभी तो सिकन्दर के दूत की सूचना सुनकर वह निर्भीकता से कह देता है—"सिकन्दर से मालवों की ऐसी कोई सन्धि नहीं हुई है······हाँ भेंट करने के लिए वे सदैव प्रस्तुत हैं चाहे सन्धि-परिषद् में या रणभूमि में।"

इस देशभक्त का आत्माभिमानी स्वरूप जो तक्षशिला गुरुकुल में प्रकट होता है, वह सर्वत्र ही उसके चरित्र की निधि बना रहता है। आत्मविश्वासी वह इतना है कि उसका यह कथन 'अतीत के सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा फिर चिन्ता किस बात की ?' उद्धरण बन गया है। साहस का उसमें पारावार है, सिल्यूकस के मानचित्र की चाह को वह तलवार की नोंक पर तोलता हुआ कहता है—'मानचित्र के अधिकारी का निर्वाचन करेगा, सावधान !' युद्ध वीरता और रण-कौशल उसमें इतना है कि सिकन्दर जैसे वीर को भी वह मालव दुर्ग पर इस प्रकार घायल करता है, जो उसकी असामयिक मृत्यु का कारण बनता है। उसमें प्रत्युपकार की भावना भरी हुई है, तभी तो वह मालव वीरों को सिकन्दर का वध करते हुए रोकता है यह कहते हुए—'ठहरो मालव वीरो ! ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युपकार है।' इसमें भारतीय गौरव वृद्धि तो टपकती है ही, साथ ही उसकी न्यायी रणकुशलता भी प्रतिलक्षित होती है। प्रतिशोध के इस रूप में कृतज्ञता है, चमत्कार है। सिंहरण की प्रवृत्ति विपत्ति में भी घबराने वाली नहीं है। मालव दुर्ग का द्वार टूट चुकने पर भी, यवन सेना के भीतर प्रवेश होने पर भी वह घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता। वह सैनिक से कितने उत्साह और दृढ़ मनोबल के साथ कहता है—'कुछ चिन्ता नहीं, दृढ़ रहो समस्त मालव सेना से कह दो कि सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा।' तभी तो अलका मुग्ध होकर कह देती है कि 'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है।'

अब सिंहरण के दूसरे पक्ष का भी अवलोकन आवश्यक है। उसका हृदय पक्ष भी है। जो नाटककार ने वीरता के आवरण में आदर्श प्रेमी जीवन के रूप में व्यक्त किया है। चन्द्रगुप्त के प्रेमी हृदय को सिंहरण के प्रेमी जीवन की समकक्षता में नहीं लाया जा सकता। सिंहरण के लिए अलका सर्वत्र उसकी ही बनी रहती है। उसके अतिरिक्त नाटक के किसी भी नारी पात्र की ओर उसकी

दृष्टि नहीं उठती। उसके बिना वह अपना जीवन भी अग्रसर नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसके कर्त्तव्य-परायण, वीर त्यागमय जीवन के आदर्शों के सर्वथा अनुकूल है। जबकि चन्द्रगुप्त समय-समय पर कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया की ओर आकर्षित होता है। इससे उसके चरित्र की आंतरिक अस्थिरता प्रकट होती है और प्रेम की शुद्धता पर लांछन लगता है। सच्चे प्रेमी के लिए 'एक ही' जीवन सर्वस्व होता है, वही उसके यौवन की प्रदीप्त दीपावली बनकर उसके जीवन को आलोकित करता है। सिंहरण के लिए अलका ही एकमात्र प्रेमिक संस्थान है, वही उसका मनोविज्ञान है। पर्वतेश्वर का प्रेम तो उन्मत्त और वासनात्मक है जो प्रथम तो कल्याणी को अस्वीकार करता है और फिर उसी की ओर रूप लिप्सा में फँसकर आकर्षित होता है। उसके भौतिक प्रेम में भी स्थिरता नहीं, तभी तो पहले पहले वह अलका को वचन देता फिर उसी को तोड़ देता है। इसके मद्यप जैसे प्रेम की तुलना सिंहरण के पवित्र प्रेम से कैसे की जा सकती है। राक्षस और सुवासिनी का प्रेम कुछ-कुछ सिंहरण और अलका के प्रेम की ओर अग्रसर हो सका है, पर उसमें भी उतनी अवस्था और दृढ़ विश्वास देने को नहीं मिलता जितना कि सिंहरण के प्रेम में। राक्षस स्पष्ट रूप से सुवासिनी के प्रति प्रेम घोषित करता है, पर सिंहरण मर्यादित अस्पष्टता के आवरण में। सारांश रूप में, सिंहरण का प्रेमी जीवन आदर्श प्रेमी 'जीवन-मरण के साथ न छोडने का प्रतिज्ञा उससे करा लेती है' और वह जीवन में उनका निर्वाह भी करता है।

सारांश रूप में, सिंहरण का चरित्र कर्मठता, साहस, आत्माभिमान, निर्भीकता, देश-भक्ति की भावना एवं सहृदयता उसके कन्धों पर होकर ही विकसित हुआ है। सर्वत्र ही स्वाभाविकता है। उसके चरित्र में मानव की मानवता टिकी है, वीर की वीरता, प्रेमी का प्रेम आश्वस्त है तो मित्र की मित्रता। अपने कन्धों पर आए हुए उत्तरदायित्व के लिए वह प्राण-पण से लग जाता है तो विश्वासी का विश्वास बचाने के लिए वह प्रत्येक परिस्थिति में घटनास्थल पर पहुँचता है तभी तो नाटक का प्रमुख पात्र चाणक्य उसके विषय में कहता है—'जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह रह कर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो……उस समय जल बरसने की संभावना होती है, उसी प्रकार जब देश में युद्ध हो, सिंहरण मालव को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी निश्चित आशा है।'

अन्त में, अलका सिंहरण के जीवन को पाकर अपने सौभाग्य पर फूली नहीं समाती।

सामान्य पुरुष पात्र

पर्वतेश्वर

पर्वतेश्वर के चरित्र का आद्योपान्त विवेचन करने पर हम कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त नाटक के पर्वतेश्वर का चरित्र क्रमशः पतनगामी ही है। उसकी तुलना न तो मनसा वाचा कर्मणा वीर एवं एकान्त प्रेमी सिंहरण से की जा सकती है और न लौकिक कार्यों में कुशल उत्साही चन्द्रगुप्त से ही की जा सकती है। हाँ, किन्हीं अंशों में उसका चरित्र राक्षस से मिलता-जुलता है क्योंकि राक्षस के चरित्र का भी नाटक में क्रमिक पतन दिखाया गया है। पर नाटककार ने राक्षस के चरित्र को सद्बुद्धि देकर पुनः परिमार्जित कर दिया है जबकि पर्वतेश्वर की मृत्यु ही करनी पड़ी है।

पर्वतेश्वर के चरित्र का प्रारम्भ क्षात्र तेज से होता है। क्षत्रियाभिमान उसकी अपनी सम्पत्ति है, तभी तो वह मगधराज की कन्या को भी स्वीकार नहीं करता—'प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से हम परिणय नहीं कर सकते।' दूसरी बार इस क्षत्रियाभिमान का परिचय चाणक्य से बातचीत करते हुए होता है। वह कहता है—'शूद्रशासित राज्य में रहने वाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नहीं देती।' तीसरी बार उसके क्षत्रिय दर्प का पता उस समय लगता है जब वह सुनता है कि मगध की सेना आगामी युद्ध में सहायता के लिए आई है। तब वह कहता है—'प्राच्य मनुष्यों में भी इतना उत्साह'। चौथी बार उसका अहंकार युद्ध-क्षेत्र में प्रकट होता है जब सिंहरण उससे सेना सहित उस स्थान विशेष को छोड़कर पहाड़ी पर चलने को कहता है तब उसके तिरस्कार भरे उत्तर में उसका अभिमान छलकता है—'मानव! खड्ग क्रीड़ा देखनी हो तो खड़े रहो, डर लगता हो तो पहाड़ी पर जाओ।' पर उसके चरित्र का यह दर्प उसकी अनुपम वीरता के आवरण में

सज्जित होकर पाठकों को आकर्षित ही करता है। ग्रीक विजेताओं से उसने घनघोर युद्ध किया। उसकी वीरता भारतीय संस्कृति की संरक्षिका भी हुई है। सिकन्दर ने भी उसको 'भारतीय वीर पर्वतेश्वर' कहकर सम्बोधित किया है। यहाँ तक पर्वतेश्वर ने भारतीय वीरों का मुख उज्ज्वल किया है। यहाँ तक कि उसने सिकन्दर को भी लोहे के चने चबाने के लिए बाध्य कर दिया है क्योंकि रणभूमि में पर्वतेश्वर अब तक 'पर्वत के समान अचल' दिखाई देता है। यहीं तक उसके चरित्र का आकर्षणीय और विमल अंश है। युद्धक्षेत्र का उसका प्रथम वाक्य 'जय या मृत्यु' सुनकर पाठक मुग्ध हो जाते हैं। उसकी इस घोषणा में वीरों जैसी हुंकार है—"बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसें, सारी गज सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथ विरथी हो जाएँ, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असम्भव है।" उसकी वीरता यहाँ तक 'एक सुन्दर कला' का वेश धारण करके आ गई है जो सर्वथा आकर्षणीय है।

पर्वतेश्वर के चरित्र के दूसरे अंश में उसकी विलासिता एवं दुर्बलता का चित्रण है। सिकन्दर के साथ सन्धि होने पर सर्वप्रथम तो वह 'भूपालों' जैसे व्यवहार सिकन्दर से माँगता है, वही उसके क्षत्रियोचित चरित्र के विपरीत है, उस पर भी सन्धि नियम के अनुसार जब वह मालवों के विरुद्ध सिकन्दर को सहायता देने के लिए तैयार हो जाता है तथा अलका को अपनी उपास्य देवी स्वीकार कर उसका मुँह ताकता हुआ उसके सामने गिड़गिडाता है—यह उसके चरित्र को नीचे गिरा देता है, यहीं उसका राष्ट्रीय प्रेम समाप्त हो जाता है, यहीं उसका क्षत्रियत्व दमित हो जाता है। यहाँ उसका दुःखात्मक चरित्र सामने आता है। वह सिकन्दर और अलका दोनों को प्रसन्न करना चाहता है। जो पर्वतेश्वर 'भारतीय वीर' की उपाधि से विभूषित हो चुका है, वही अलका से बहाना ढूँढने के लिए कहता है—'मैं समझता हूँ कि एक हजार अश्वारोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर कोई बहाना ढूँढ निकालूँगा। उसका यह निश्चय केवल अलका के प्रीत्यर्थ है वीर का नारी की ओर आकर्षित होना पतन ही है, जो स्पष्ट रूप से उसके इस कथन में प्रकट होता है—'यदि मैं सिकन्दर का विपक्षी बन जाऊँ तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका ?'

उसके प्रेम में भी निष्ठा नहीं है, प्रेमिका का सुख वह प्रत्येक स्थिति में नहीं देख सकता, वह उस पर अधिकार करके सीमित बनाना चाहता है। अलका और सिंहरण का विवाह उसे उन्मत्त बना देता है और वह आत्महत्या के लिए इन शब्दों के साथ 'प्रतिशोध, रक्त पिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोंच रही है। मरूँ या मार डालूँ ? मारना तो असम्भव है...... तो फिर जी कर क्या करूँ' उद्यत हो जाता है। चाणक्य के मन्त्रपूरित सान्निध्य से वह पुनः जागृत होकर सुबुद्ध हो जाता है और चाणक्य के पालतू पशु की भाँति तत्काल उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। तभी तो वह मालव विजय में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सहायक के रूप में काम करता है। तभी तो वह चोरों की भाँति चन्द्रगुप्त-फिलिप्स युद्ध में चन्द्रगुप्त की प्रशंसात्मक विजय का समाचार चाणक्य को सुनाता है।

अन्त में, उसकी लम्पटता की प्रवृत्ति दब नहीं पाती। जिस कल्याणी के ग्रहण में उसका स्पष्ट प्रतिकार था, उसी को एकान्त में पाकर छेड़छाड़ करने लगता है। उसे 'प्रियतमा' कहकर उस पर बलाधिकार करना चाहता है। यही मृत्यु का कारण बनता है। वह पशु को नीचता का फल कहकर उसका वध कर देती है। इस प्रकार संस्कृत के नाटक 'मुद्राराक्षस' में भी उसकी कामुकता ही उसकी मृत्यु का कारण बनती है। चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद जी ने उसका चरित्र सीमा से अधिक गिरा दिया है। सभी पात्रों का पतन नारी के कारण दिखाना उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ प्रसाद जी की अपनी संवेदनशीलता एवं नारी के प्रति उदारता की भावना संयमित नहीं हो पाई है। जिस वीर ने भारतीय वीरता की छाप ग्रीक सभ्यता पर भी डाल दी है उसका ऐसा पतन ? वह भी कल्पना के आधार पर ? विचारणीय है। नाटककार द्वारा पर्वतेश्वर का छटपटाते हुए प्राण विसर्जन कराना कहाँ तक पाठकों को सहनीय है, यह पाठक स्वयं विचार करें।

सारांश यह है कि पर्वतेश्वर का चरित्र विकासोन्मुख न होकर पतनोन्मुख है। वह अपने व्यक्तित्व एवं चरित्र की पूर्णता के स्थान से गिरकर सामान्य छिछले धरातल पर विलासी के रूप में आ गया है। पर एक बात खटकती है

क्या वह वीर एक अबला से भी अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता था ? या वह स्वयं मरना चाहता था ? फिर भी उसके चरित्र का उज्ज्वल अंश आकर्षण का केन्द्र बना ही रहता है ।

राक्षस

पर्वतेश्वर और राक्षस इन दो का चरित्र ही नाटक में पूर्णता से अपूर्णता की ओर अथवा यह कहें कि क्रमशः पतनोन्मुख है । राक्षस के चरित्र के सम्बन्ध में सामग्री संस्कृत मे विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' तथा हिन्दी में भारतेन्दु का अनुवाद 'मुद्राराक्षस' व द्विजेन्द्रलाल राय का 'चन्द्रगुप्त' उपलब्ध होती है । इनमें चित्रित राक्षस के चरित्र के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि निश्चित रूप से मौर्य शासन अथवा मौर्य इतिहास में अमात्य राक्षस का प्रमुख हाथ रहा होगा । 'मुद्राराक्षस' में राक्षस का चरित्र कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वामि-भक्त, व्यावहारिक बुद्धि एवं दूरदर्शिता-सम्पन्न बुद्धि-कौशल उसमें दिखाई देता है । पर मुद्राराक्षस की रचना तो सम्भव है राक्षस और चाणक्य की बुद्धि-कुशलता की प्रतिद्वन्द्विता के लिए ही हुई है । द्विजेन्द्रलाला राय के चन्द्रगुप्त में इस पात्र का लौकिक एवं व्यावहारिक व्यक्तित्व सतत विकासशील दिखाई देता है । उसमे राक्षस का चरित्र नाटक का केन्द्र है, जिसके चारों ओर चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि घूमते हैं । पर इसमें जातिगत तथा वर्गगत विशेषता अधिक आ गई है ।

प्रसाद जी ने राक्षस के पूर्व सम्पादित चरित्र को नवीन रूपरेखा दी है । नाटक के अन्त में चाणक्य द्वारा उसी को मन्त्रित्व के आसन पर बिठा देने में उसकी विद्वत्ता और दूरदर्शिता का अप्रत्यक्ष सम्मान तो था ही, पर उसके चरित्र का विकास धूमिल सूत्रों से बुना गया है । उसका सर्वप्रथम दर्शन ही मगध के विलास-कानन में होता है और तभी 'कमनीय कुसुमों की रानी' सुवासिनी उसके के, गाने के प्रस्ताव पर कहती है—'राक्षस सचमुच राक्षस हो, यदि इसमें आना-कानी करे ।' कुसुमपुर के एक कुशल विद्वान् का ऐसा चरित्र ! यद्यपि उस समय तो मगध का सम्राट् 'कुसुमपुर का एक नररत्न' नाम से

सम्बोधित करता हुआ अमात्य के पद पर नियुक्त करता है, जिससे उसके विलासी चरित्र का कुछ विस्मरण-सा हो जाता है, पर पाठकों के मन में उसके हल्के चरित्र एवं मूर्खता की शंका बनी ही रहती है और यह शंकित धारणा आगे चलकर ठीक भी निकलती है कि वह सुवासिनी के रूपाकर्षण से दग्ध होकर वह चाणक्य की कूटनीति का एक झोंका ही बना रहता है जो इधर से उधर भागता ही फिरता है। चाहे उसे दरबार में देखें, विलासकानन में अथवा रण-स्थान में, उसका व्यवहार शत्रु के लिए हो या मित्र के लिए उसकी मनःस्थिति किसी भी दशा में हो—उसके कार्यों में न तो कोई श्रेष्ठ कार्य होता है और न उसके मुख से स्वाभिमान-भरे शब्द ही कहीं निकलते हैं। उसका व्यक्तित्व कहीं भी दृढ़ नहीं दिखाई देता।

उसका प्रेमी रूप कुछ अवश्य निखरा है तभी तो वह सुवासिनी को हस्तगत कर ले, 'पर राजकोप होगा' यह जानते हुए भी सच्चे प्रेमी की भाँति दृढ़ निश्चय के स्वर में कहता है—'सुवासिनी एक लालसा है। एक प्यास है, वह अमृत है, उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा।' वह प्रेमिका की सम्पुष्टि के लिए राजचक्र में बौद्धमत का समर्थक भी बनता है। पर उसके वचनों में कोई संबल नहीं है। विवाह प्रस्ताव के सम्बन्ध के पंचनद नरेश के यहाँ से मगध के दूत का निराश होकर लौटने पर वह आवेश में कह डालता है—"यह धर्म का दम्भ है, व्यंग्य है। मैं इसका फल चखा दूँगा', पर इसके लिये उसका कोई प्रयत्न नहीं होता। उसमें तेजस्विता नाम का गुण नहीं है। उसके इस कथन पर क्या तुमने सबको मूर्ख समझ लिया है?' चाणक्य के उत्तर 'जो होंगे अवश्य ही समझे जाएंगे' को वह दबेल की तरह से चुपचाप सुन लेता है। कल्याणी से वह यह कहता है—"एक मेरा चाणक्य से द्वन्द्वयुद्ध होना अनिवार्य है', पर वह इसके विपरीत ही उसका प्रशंसक बनकर कहता है—'चाणक्य! तू धन्य है। मुझे ईर्ष्या होती है।' वह अविवेकी इतना है कि चाणक्य की छोटी चाल को भी नहीं समझ पाया और वह उसी चाल में फँसकर अपनी राजभक्ति को तिलांजलि देते हुए कहता है—"मेरी भूल थी! मूर्ख राक्षस……नन्द! क्रूरता और मूर्खता का प्रतिमूर्ति नन्द! एक

पशु ।' चाणक्य के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर भी वह उसे शत्रु ही समझता है, इस बात में उसका प्रतिद्वन्द्वित्व झलकता है, पर उस शत्रु पर विश्वास करके अपनी अंगुलीय मुद्रा देने में उसकी मूर्खता टपकती है। नन्द की हत्या होने के पश्चात् उसके मुख का यह निश्चित स्वर—'मुझे भी कुछ बोलने का अधिकार है'—उसके दब्बू चरित्र का द्योतन करता है। उसके चारित्रिक पतन की अन्तिम सीमा उस समय मिलती है, जब वह स्वदेश का शत्रु बनकर यवनों की दासता को स्वीकार करता है और यवन कुमारी कार्नेलिया उसे 'देशद्रोही' कहकर तिरस्कार करती है। पर अन्त में पश्चातापपूर्वक चाणक्य की महत्ता स्वीकार करते हुए उसका अनुयायी बनने में उसके चरित्र के विकास की नवीन किरण हमें देखने को मिलती है।

वास्तव में, सम्पूर्ण नाटक राक्षस का कोई चरित्र नहीं। उसमें कला-प्रेम है, संगीतज्ञ के गुण हैं—उसके गीत साहित्यिक महत्ता वाले हैं, पर वह किसी प्रकार भी चाणक्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में नहीं ठहर सकता। चाणक्य-जैसे 'बुद्धि सागर' चरित्र की प्रतिद्वन्द्विता यदि प्रसाद जी द्वारा चित्रित राक्षस पात्र से की गई तो इसमें चाणक्य का महत्त्व ही कम होगा। नाटक में यद्यपि चरों-अनुचरों द्वारा वह 'आर्य-राक्षस' तथा 'कला कुशल विद्वान्' कहलाया गया है पर वह तो मद्यपों के बीच में 'एक पात्र कदम्ब' का ही अभिलाषी बना रहा है। इस प्रकार राक्षस के सचमुच मद्यप विलासी और राजनीति से बहिर्गत—ये तीन रूप ही नाटक के पढ़ने के पश्चात् पाठकों के मन पर रह जाते हैं।

आम्भीक

नाटक में आम्भीक का चरित्र अपूर्णता से पूर्णता की ओर अथवा स्वाभाविक विकास की ओर उन्मुख है। जिस प्रकार प्रसाद जी अपने 'अजातशत्रु' नाटक में 'अजात' का और 'स्कन्दगुप्त' में शर्वनाग के चरित्र का विकास करते हैं उसी प्रकार आम्भीक का चरित्र भी अपनी चरम परिणति की ओर उन्मुख होता है। आम्भीक का प्रारम्भिक जीवन उद्यत, उद्दण्ड, दुर्विनीत और क्रोधी प्रकृति का है। उसकी अभिमान भरी अदूरदर्शिता उसके पतित चरित्र का कारण बनती है। तो वह विश्वविख्यात तक्षशिला के अध्यापक का सम्मान

जानते हुए भी अभिमान और दर्पवश कह देता है—'बोलो ब्राह्मण मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे विरुद्ध कुचक्रों का सृजन' और जब राष्ट्र प्रेमी अलका बहन से अपने पिता गान्धार नरेश के सम्मुख ही कहता है—'और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा।' तब तो उसका दुर्विनीत एवं अशिष्ट चरित्र खटकने लगता है। वह अपने व्यक्तिगत मानापमान एवं संकुचित विद्वेष में पड़कर राष्ट्र के अपकार को न सोचता हुआ आक्रान्ता न मिल जाता है। सिकन्दर से मिलकर पर्वतेश्वर का विरोध करना उसका लक्ष्य है, इसलिए वह वास्तविकता को नहीं पहचान पाता। युवक हृदय होने के नाते उसकी महत्वाकांक्षा प्रशंसनीय होनी चाहिए, पर राष्ट्र के प्रति कृतघ्नता एवं देशद्रोह के कारण, उसका यह गुण भी हेय समझा जाता है। उसकी कायरता को लक्षित करता हुआ पर्वतेश्वर कहता है—'ऐसे कायर से मैं अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का विवाह न करूँगा।' उसकी नीचता को यवन शिविर में ही निर्भीक चन्द्रगुप्त झकझोर देता है—'अनार्य ! देशद्रोही आम्भीक! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से अथवा घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।'

महापुरुष का संस्पर्श कृपादृष्टि अथवा सत्संगति नीच की नीचता को स्वयं छुड़ा देती है। यही बात आम्भीक के चरित्र में हुई। नाटक के उत्तरार्द्ध में उस पर चाणक्य के व्यक्तित्व का बहुत प्रभाव पड़ा है। उसके सुधरने का संकेत तो पहले ही मिल जाता है। अलका के गृह-प्रवास करने के पश्चात् वह अपनी भूल स्वीकार करता हुआ कहता है—"मैं लौट तो आता, परन्तु यवन सैनिक छाती पर खड़े हैं। पुल बँध चुका है ; नहीं तो", इस कथन से यह प्रतीत होता है कि यदि उसके मन पर देश के संस्कार डाले जाते, तो वह अवश्य देशप्रेमी बन सकता था। अलका के वीर-भाव प्रचारक गीत को सुनकर वह कह उठता है—'व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न होगा ? × × × मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपने कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र में एक सैनिक होना चाहता हूँ : और कुछ नहीं।" यहीं वह अपने को देशद्रोही कहता है—"मैं देशद्रोही हूँ : नीच हूँ ! तूने गान्धार के राजवंश को उज्ज्वल किया है और निःस्पृह मात

होकर वह अपनी बहन को भी राज-सिंहासन-योग्य मानता है। इस प्रकार इतने अवगुण के होते हुए भी उसका अन्तिम रूप देश-भक्त का ही दृष्टिगत होता है।

आम्भीक ने अपने पापों तथा कुकृत्यों को पश्चात्ताप की अग्नि में भस्म कर डाला है। अतः उसका आत्माभिमानी, मानापमान की भावना से प्रेरित बुद्धि की अपरिपक्वता होने के कारण भी, देशभक्ति के पुट तथा महापुरुष चाणक्य के सम्पर्क से आकर्षण की वस्तु बन जाता है। जब सिल्यूकस से युद्ध करता हुआ रणभूमि में जाता है। जब हम उसके प्रति आदर भाव से देखने लगते हैं। अतः इस प्रकार का यह विचित्र-चरित्र अभिनन्दनीय है।

नन्द

प्रसाद जी ने नन्द का चरित्र परम्परा से प्राप्त प्रचलित धारणाओं को ही विकसित करके अपने नाटक चन्द्रगुप्त में रखा है। उसका कला-प्रेम तो 'अजातशत्रु' के उदयन जैसा और विलासिता 'स्कन्दगुप्त' के कुमारगुप्त जैसी है। नन्द के चरित्र में इन दोनों का समन्वित स्वरूप ही हमें दिखाई देता है। उसका प्रारम्भिक जीवन मद्यप विलासी और उग्र स्वभाव वाला है। उसकी दुर्नीति के कारण ही उसके चारों ओर विरोध का जाल-सा फैल जाता है। उसका उद्धत कुविचार अत्याचार की पुष्टि करता है। राज्य के शुभचिंतकों को भी कारागृह की कठोर शृंखलाओं में बन्दी बना लेता है। अत्याचार का परिणाम विनाश में होता है। परिणामस्वरूप सारा विरोधी दल ही उसके अन्त का कारण बनता है।

क्रमिक रूप से देखें तो वह इतना क्रूर है कि अपनी हठ के कारण चाणक्य का ब्राह्मणत्व छिनवाता है, राष्ट्रप्रेमी शकटार को अन्धकूप में डलवा देता है, चाणक्य का सभा में शिखा विच्छेद कर अपमान करता है। उसकी दूरदर्शिता इतनी संकीर्ण हो जाती है कि वह यह भी नहीं सोच पाता कि विद्रोहियों को इस प्रकार कैसे दमन किया जा सकता है? तात्पर्य यह है कि वह जनता के पक्ष को बिल्कुल भुला देता है। उसके सर्वप्रथम विलास-कानन के दर्शन से उसकी मद्यपता और विलासिता टपकती है। वहाँ वह चषक पर चषक चढ़ाये जाता है और उन्मत्त-सा सुवासिनी की ओर आकर्षित हुआ दिखाई देता है। इस

प्रमोद-गृह में ही वह राक्षस के अमात्य पद की घोषणा कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मगध सम्राट् का कर्त्तव्य केवल विलासिता ही है। जीवन पर इन्हीं क्रूरता, विलासिता और अन्यायों के अपराधों की खबर जनता अन्त में उसका वध करके ही लेती है।

चाणक्य के निरन्तर प्रभाव से अन्त में नन्द की सद्‌वृत्ति की झलक थोड़ी-सी मिलती है। जब वह यह कहता है कि—'चाणक्य मैं अपनी बेटी कल्याणी को लेकर एकान्तवास करूँगा।' वैसे तो वह नाटक में सर्वत्र दुर्बुद्धि और वासना का केन्द्र बना ही रहता है। राजनैतिक क्षेत्र में भी वह पूर्णतः असफल ही है।

सिकन्दर

नाटक का पात्र सिकन्दर महान् ऐतिहासिक ग्रीक विजेता सिकन्दर ही है। सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया पर अधिकार ही उसकी वीरता और उत्साही प्रवृत्ति का द्योतक है। हाँ, प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक में उसके विश्वविजयी स्वरूप की रक्षा नहीं की है। सर्वप्रथम ही वह दाण्डायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त के तेज से पराभूत दिखाया गया है अर्थात् वहीं पर उसके हृदयों को चन्द्रगुप्त जीत लेता है। पर्वतेश्वर के साथ हुई घटना को प्रसाद जी ने ऐतिहासिक रूप में ही रखा है। यदि उसमें कोई परिवर्तन किया जाता तो अवश्य ही भारत की वीरता, उत्साह, साहस और न्यायप्रियता आदि गुण लक्षित होते। साथ ही वह इतना दूरदर्शी भी है कि अपनी नीति-कुशलता के बल पर वह चन्द्रगुप्त को अपने शिविर में आमन्त्रित करता है। वहाँ चन्द्रगुप्त के साथ हुए वार्तालाप में उसकी चारित्रक विषेषताएँ टपकती हैं, पर जब वह अपने विश्वसनीय सेनापति सिल्यूकस को विचाराधीन होने की घोषणा करता है तब उसकी दूरदर्शिता के ऊपर शंका होती है।

दार्शनिक क्षेत्रों में वह ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के सिद्धान्तों को मानता है और भविष्यवाणियों पर विश्वास करता है। आक्रमण होते हुए भी उसकी अपनी रणनीति है, तभी तो वह अपने हाथ आए हुए पर्वतेश्वर को मित्र ही बनाता है। मालव युद्ध में सिंहरण से जब वह यह कहता है कि 'सिकन्दर आज्ञा देना ही नहीं जानता, तलवार चलाना भी जानता है' तब तो उसका वीरत्व

टपकता है। वह बात का धनी है, पूरे नाटक में कहीं भी उसके कोमल हृदय का परिचय नहीं मिलता। हाँ, अपहृता दारा की कन्या से उसने विवाह किया—वह भी उसकी सहमति से। और की नारी से सम्बन्धित करके नाटककार ने उसके महान् विजेता-स्वरूप को कलंकित नहीं होने दिया है।

सिल्यूकस

सिल्यूकस का चरित्र भारतीय और ग्रीक संस्कृतियों के समन्वय पर स्थित है, पर उसके चरित्र में किसी विशेष संस्कृति का आवरण नहीं है। प्रारम्भ में उसके आक्रमणकारी रूप के ही दर्शन होते हैं, जिसमें भारत के प्रति विरोधत्व स्वाभाविक है, फिर भी स्थान-स्थान पर जो उसकी वीरता के दर्शन होते हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अन्तर्मन भारत के प्रति सहृदय है। सिल्यूकस ने अपना ध्येय कभी भी और कहीं भी विस्मृत नहीं किया। जब हिंसक पशु के समान बन जाता है तब उसकी बुद्धिहीनता भी टपकती है। वह जब एक अबला से मानचित्र छीनने का दुस्साहस करता है तब उसकी अशिष्टता और ग्रीक संस्कृति की हीनता का द्योतन होता है। सिंहरण से वार्तालाप होने पर उसने ग्रीक संस्कृति का थोड़ा परिचय तो दिया है पर उस जैसा व्यवहार उसने नहीं किया। प्रभाव की दृष्टि से इस घटना के पश्चात् उसके हृदय पर भारतीय संस्कृति का रंग जमने लगता है। पर वह अपने विचार और लक्ष्य को सदैव ही अपने सामने रखता है।

अपने प्रथम दर्शन में ही वह चन्द्रगुप्त के बाघ से प्राण बचाता हुआ मंच पर आता है। चन्द्रगुप्त के साथ हुए परिचय की मित्रता को वह अन्त तक निभाता है। दाण्डायन के आश्रम में वह चन्द्रगुप्त को भली प्रकार परख लेता है और उसकी परख जौहरी-जैसी ही सिद्ध होती है। उसका वात्सल्य भी नाटक में स्थान-स्थान पर प्रकट होता है। वह अपनी प्यारी बेटी कार्नेलिया की प्रसन्नता के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहता है। अन्त में उसकी इच्छा से ही वह कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त के हाथों भारत की सम्राज्ञी बनने के लिए समर्पित भी करता है। वात्सल्य पूर्ण उसकी भावना ने उसी वीरता को दबाकर चन्द्रगुप्त से युद्ध नहीं करने दिया। सिकन्दर की भाँति उसका चरित्र क्रूर और एकाकी नहीं है। ध्येय निष्ठा के लिए जहाँ वह क्रूर

है तो वात्सल्य के लिए वह सहृदय भी है। तात्पर्य यह है कि वह कर्त्तव्य-परायण होने के साथ-साथ मानव भी है। अपने गुण के कारण वह अपने को परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी कर लेता है। मानवीय भावनाएँ द्वेष और ईर्ष्या के साथ उत्साह और सत्य की परख भी उसके हृदय में विद्यमान है तभी तो वह भारतीय वीरों की वीरता पर मुग्ध दिखाई देता है। वह सच्चा सेनापति है। इस प्रकार उसका चरित्र गम्भीरता, कुशल बुद्धि एव सचालन की नीति से युक्त होकर मानव के रूप में हमारे सम्मुख आता है, जिसमें कि अपनी दुर्बलताएँ भी हैं। अतः क्रूरता और सहृदयता का वह समन्वित रूप है।

इन पात्रों के अतिरिक्त नाटक में शकटार और दाण्डायन दो पात्र और आते हैं जो नाटक की अंश मात्र कथा को ही प्रभावित करते हैं पर उसमें भी इनका व्यक्तित्व स्मरणीय दिखाई देता है। शकटार कुशल मन्त्रित्व के पश्चात् अपनी हठ और सत्यता के कारण अन्धकूप का दुःख उठाता है और अन्त में अपने तीखे अनुभवों के पश्चात् चाणक्य के साथ रहकर नन्द का वध करता है। उसका प्रतिशोधी उग्र रूप दर्शनीय है। दाण्डायन भारतीय उच्चकोटि के दार्शनिक का प्रतिनिधित्व करते हुए नाटक में चित्रित है। चाणक्य-जैसा पात्र भी उसके सत्स्पर्श का आभारी है। सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, अलका आदि सभी पात्र उसके अलौकिक प्रभाव की दाद देते हैं। वह निर्भय, भविष्य द्रष्टा और भूमा के सुख में तल्लीन दिखाया गया है। इसके चरित्र की अमिट छाप भी पाठकों पर पड़ती है।

प्रमुख स्त्री-पात्र

अलका

अलका का प्रथम दर्शन नाटक के बीजस्थल स्वरूप प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही होता है। ऐतिहासिक नाटकों में यद्यपि घटना, पात्र और परिस्थिति का ऐतिहासिकता के दायरे में ही विवेचन एवं स्पष्टीकरण करना पड़ता है, पर नाटककार को यह छूट भी मिली होती है कि वह इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत ऐसे पात्रों की भी सृष्टि कर सके जो उसके सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हुए नाटक में आ सकें। यह स्वतन्त्रता नाटककार के लिए आवश्यक भी है क्योंकि इसके बिना घटनाओं के तारतम्य में आकर्षण नहीं आ पाता। प्रसाद ने अलका की सृष्टि इसी ध्येय से की है। इसके चरित्र की ऐतिहासिक खोज करना तो व्यर्थ ही सिद्ध होगा, पर इस राष्ट्र-प्रेमिका का अनुकरण सर्वथा भारतीय नारियों के जीवनोद्देश्य में नवीन जागृति ला सकता है।

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक में अलका की सृष्टि में, अपने सभी नाटकों के नारी-पात्रों के विशेष-विशेष गुणों का, संचयन करके की है। यही एकमात्र भारतीय ललना है, जो भारतीयता से उत्पन्न होकर भारतीय स्त्री-सुलभ सम्मान का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय रमणी के विशेष आकर्षण हैं—पति-भक्ति, श्रद्धा की भावना, राष्ट्र के प्रति उत्साह भरी वीरता तथा न्याय के लिए हठपूर्वक मर मिटने की दृढ़ता ये गुण अलका में भी कूट-कूट कर भरे हैं।

अलका का प्रथम परिचय हमें झंझावात के आदि उद्गम तक्षशिला के गुरुकुल में नाटक के मुख्य पात्रों के साथ होता है। सिंहरण और आम्भीक के परस्पर वाद-विवाद से उसे देश की स्थिति का ज्ञान होता है और उसकी देश-प्रेमी आत्मा देश को भविष्य की आपत्तियों से बचाने के लिए कार्यशील दिखाई देती है। उसके चरित्र की सांस्कृतिक विशेषता यह है कि जब पिता और भाई उत्कोच लेकर देशद्रोही बन जाते हैं, तब भी वह अपने निर्मल

चरित्र से देश-भक्ति का मार्ग अपनाती है। अपने भाई की आवाज में वह आवाज नहीं मिलाती। आगे चलकर तो वह प्रत्यक्ष रूप से अपने भाई का भी विरोध करती हुई घर-बार छोड़कर स्वतन्त्र रूप से निकल पड़ती है। उसके पश्चात् वह गांधार की प्रजा में क्रान्ति को फैलाने का प्रयत्न करती है। क्रान्तिकारी के रूप में अलका का चरित्र कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह राख में छिपी हुई कोई चिंगारी ही थी जो परिस्थिति की अनुकूल वायु पाकर आग लगाने की क्षमता रखती है। यद्यपि वह सिंहरण के जीवन से निर्भीकता, स्वातन्त्र्य-प्रियता और वीर-भावना का पाठ सीखती है; पर आगे चलकर यही गुण स्वतः उसी की अपनी विशेषताएँ बन जाते हैं जो सभी को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। देखिए न सिल्यूकस के 'तुम कहाँ, सुन्दरी राजकुमारी!' इस प्रकार पूछने पर वह हृदय को गद्गद् करने वाला देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत उत्तर देती है—"मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं। फिर मैं कहाँ जाऊँगी यवन!"

दाण्डायन के आश्रम में वह स्पष्ट शब्दों में कहती है—'ऋषे! यवनों के हाथ में स्वाधीनता बेचकर उसके दान से जीने की शक्ति मुझमें नहीं।' इसी देश-प्रेम में कारण वह नटी बनना भी स्वीकार करती है और युद्धभूमि में सिंहरण की सहायता करते हुए वह वंदिनी भी बनाई जाती है।

अलका की कर्त्तव्य-तत्परता का ज्ञान उस समय होता है जबकि वह मालव दुर्ग की रक्षा का भार अपने कन्धों पर लेती है और कुशलतापूर्वक घायलों की सेवा-व्यवस्था करती है तथा दुर्ग-रक्षा में सिपाहियों की भाँति सन्नद्ध रहती है, तभी तो उसने अपने वाण-प्रहार से दो यवनों को धराशायी कर दिया है। उसकी व्यवहार-कुशलता सर्वत्र दर्शनीय है। यद्यपि वह अपने लक्ष्य को कहीं भी विस्मृत नहीं करती, फिर भी परिस्थितियों के अनुसार तत्क्षण निर्णय करके तदनुकूल अपने को परिवर्तित कर लेती है। सिल्यूकस के अनुचित व्यवहार की संभावना करके ही तो वह उससे—'देखो सिंह आ रहा है' ऐसा कहती हुई चक्कर में डालती हुई स्वयं छिप जाती है। इसी प्रकार पर्वतेश्वर के

प्रणय-निवेदन पर तथा राजमहिषी पद का लालच देते पर, असहाय होने के नाते एवं सिंहरण के स्वतन्त्र कराने के लिए वह पर्वतेश्वर को अपने प्रेम का झूठा आश्वासन दे ही देती है, पर साथ ही मर्यादा निभाने के लिए वह पर्वतेश्वर से कुछ प्रतिज्ञा भी कराती है—वही तो उसका इष्ट है।

अलका के जीवन का दूसरा पक्ष भी अवलोकनीय है वह है उसका नारी जीवन। सिंहरण के प्रति व्यक्त हुए उसके ये विचार उसके प्रारम्भिक नारीगत आकर्षण के ही द्योतक हैं। वह अपने भाई आम्भीक से सिंहरण के प्रति आकृष्ट हुई कहती है—'भाई इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है, जाने दो।' नारीगत यह आकर्षण की सहज वृत्ति प्रत्येक सामान्य युवती के हृदय में उठ सकती है। पर अलका का यह आकर्षण, जो सिंहरण की सुन्दरता, निर्भीकता, योग्यता आदि पर है, यदि वासना की पूर्ति के लिए ही होता तो वह वास्तव में सामान्य नारी ही होती। पर सिंहरण के इन गुणों ने उसके हृदय में सुषुप्त भावों को जगाने और क्रान्ति मचाने का कार्य किया है। उसने सिंहरण के व्यक्तित्व में कुछ देखा है। उसी के शब्दों में देखिए—'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है'। मालववीर! तुम्हारे मनोबल में, स्वतन्त्रता में, तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त के रक्षण की शक्ति है।' कहा जा सकता है कि वीर बालिका अलका में वीरता पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति है। सिंहरण के प्रति पुष्ट एवं एकमात्र प्रेम के कारण ही तो अन्त में चाणक्य की आज्ञा से उसका विवाह-सम्बन्ध उसके साथ कर दिया जाता है। वह सच्ची प्रेमिका है जिसे परिस्थिति की अपेक्षा नहीं।

जन-जीवन को अपनी ओर आकर्षित करने का गुण अलका में विशेष मात्रा में है। उसके गीत राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हैं। अलका जब हाथ में आर्यपताका लेकर चलती है और मुख से 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' प्रयाणगीत गाती है, तब उसका नेत्रीरूप आँखों के सम्मुख साकार हो उठता है। उसकी जनता के प्रति कही गई इस वाणी में कितना उत्साह और वीरोल्लास है—'वीर नागरिको! देश पददलित हो रहा है और तुम विलासिता में फँस रहे हो! क्या यही मातृभूमि के प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य है?' जिस देश

चन्द्रगुप्त इस समय देश की दुर्दशा के कारण वैसा करने में असमर्थ है। इसी बात को वह चाणक्य के मुख से कि 'परन्तु राजकुमारी उसका (चन्द्रगुप्त) असीम प्रेमपूर्ण हृदय मग्न हो जाएगा। वह बिना पतवार की नौका के इधर उधर रहेगा।' उसकी पुष्टि सुनकर मगध के लिए लौटने के अपने विचार पर बल देती है। अन्त में, अपने जीवन के प्रत्येक प्रयत्न को असफल पाकर, चन्द्रगुप्त से अपना प्रेम स्पष्ट करती हुई कहती है कि 'कल्याणी ने वरण किया था एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त, परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए। इसलिए उस प्रणय को, प्रेम पीड़ा को, पैरों से कुचल कर, दबाकर खड़ी रही।' अपनी वंश-मर्यादा एवं पितृ-भक्ति की स्मृति में वह अपने प्रेम की आहुति चढ़ाकर आत्महत्या कर लेती है।

इस प्रकार कल्याणी के चरित्र के आकर्षण हैं--कर्त्तव्यनिष्ठ होना, प्रेम और कर्त्तव्य को एक ही मूल की दो शाखाएँ समझना अर्थात् अनुभूति में प्रेम और अभिव्यक्ति में कर्त्तव्य, आत्माभिमानी होना तथा स्वावलम्बी होना। और सबसे अधिक आकृष्ट करती है उसकी मानवीय दुर्बलताएँ जो सभी की सहानुभूति का कारण बनती हैं।

कार्नेलिया

यह कार्नेलिया ही तो है जिसके मुख से भारत-प्रेम की अभिव्यक्ति प्रसाद ने 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत से कराई है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के इस पात्र में भावुकता कूट-कूट कर भरी हुई है। यह मातृ-विहीना है जिसके चरित्र में भावात्मकता की प्रबलता है, चारित्रिक गम्भीरता है, बौद्धिकता अथवा मानसिक दृढ़ता है। भावात्मकता से भरा हुआ यह पात्र नाटक में ऐसा है जिसके जीवन में मानवी उतार-चढ़ाव देखने को नहीं मिलते। उसके जीवन में भारत-सम्राज्ञी बनने तक समरसता ही बनी रहती है। उसका दर्शन नाटक में तीन बार तीन परिस्थितियों में होता है जिसमें उसके प्रेम का क्रमिक विकास ही देखने को मिलता है। पहली बार दाण्ड्यायन के आश्रम में जब वह भारत में पहली बार आई है, उस समय चन्द्रगुप्त की ओर उसका आकर्षण व्यक्त होता है और प्रकट होता है उसका भारत प्रेम—जब वह कहती है

'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुञ्ज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने शैल श्रेणियाँ हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप, भोले कृषक और सरल कृषक बालिकाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं।' यह उसकी तृतीय स्थिति का उद्गमस्थल है। दूसरी बार जब वह भारत आती है तो फिलिप्स से बातें करती हुई दिखाई गई है, जहाँ चन्द्रगुप्त ने फिलिप्स से उसकी रक्षा की है—तभी से उसका दृढ़ प्रेम चन्द्रगुप्त के प्रति प्रारम्भ हो जाता है। जब उसे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा तो वह अपने पिता को पूर्व-स्मृति दिलाकर उसे रोकना चाहती है। तीसरी बार उसके दर्शन मगध के राजमहल में होते हैं जबकि वह मगध की सम्राज्ञी होती है। यह उसके प्रणय का पर्यवसान है।

भारतभूमि और चन्द्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया का प्रेम क्रमिक रूप से विकसित हुआ। प्रथम बार चन्द्रगुप्त को वह दाण्डायन के आश्रम में सतृष्ण देखती है। दूसरी बार स्वगत-कथन में फ़िलिप्त के व्यवहार के पश्चात् कहती है—'वह भी आह कितना आकर्षक है। कितना तरंग संकुल है। इसी चन्द्रगुप्त के लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी भारत सम्राट होने की। उसमें कितनी विनयशील वीरता है।' भारत से विदा होते हुए वह भाव भरे शब्दों में चन्द्रगुप्त से कहती है—'परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ। स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर दग्ध हो जाती हैं।' भारत में द्वितीय आगमन पर वह अपने पिता से पूछती है—'चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी आप ही ने मृत्यु मुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी...और उसी ने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी', पिता-पुत्री का वार्तालाप कार्नेलिया के हृदय का प्रेम चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम परितुष्ट अभिव्यक्ति करता है। घुटने टेककर रोती हुई वह पिता से कहती है—'मैं स्वयं पराजित हूँ। मैंने अपराध किया है। पिता जी चलिए इस भारत की सीमा से दूर चलिये, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी।' इस प्रकार राजकुमारी के हृदय की अपने पिता के सम्मुख सहज वृत्ति का सलज्ज अभिव्यंजन आकर्षक है।

में ऐसी नारियाँ होंगी, उसकी स्वतन्त्रता अमरता के रूप में सदैव विद्यमान रहेगी। उसकी इसी निःस्वार्थ देशभक्ति और पवित्र भावना से ही तो अन्त में आम्भीक उससे क्षमा-याचना करता है और कहता है—'बहन तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है·········तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है, आम्भीक की आवश्यकता न थी······तूने तो गांधार राजवंश का मुख उज्ज्वल कर दिया है।

इन गुणों के अतिरिक्त उसमें सरलता, निष्कपटता एवं विनोदी होने का गुण भी विद्यमान है। आचार्य चाणक्य भी उसके लिए—'साधु अलके साधु' कहता है। उसका यह सन्देश उसके चरित्र का सन्देश ही है। 'राज्य किसी का नहीं है, सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है·······स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त तक इस आर्य साम्राज्य के सेवक हैं······इसके लिए मर मिटो।'

कल्याणी

स्त्री-पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी की एक अपनी ही दृष्टि रहती है कि वे अपने स्त्री-पात्रों को केवल वासना की ही पूर्ति-भर के लिए नहीं बनाते। मानवीयता के वशीभूत होकर चाहे उनमें कितना ही उन्माद दिखाया गया हो पर वह केवल परिस्थितिवश ही। प्रसाद जी के अधिकांश नारीपात्रों का प्रेम आदर्श है। वे अपने सुन्दर मनोराज्य में विचरण करते हुए भी सहसा अपने भावों की अगाधता को प्रत्येक के सामने प्रकट नहीं करने देतीं, यहाँ तक कि प्रतिकूल परिस्थिति होने पर वे उन्हें कुचल भी देती हैं अतः उनका प्रेम संयमित और त्यागपूर्ण कहा जा सकता है। कल्याणी का चरित्र भी ऐसी ही नारी-मर्यादाओं के बीच में विकसित हुआ है। उसके चरित्र का कुछ अंश स्कन्दगुप्त की विजया और देवसेना के चरित्रों से भी संकलित किया गया है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक में इसको 'विषकन्या का ही रूप मिल पाया है। प्रसाद जी ने पहले ही 'कल्याणी-परिणय' लिखकर तथा बाद को चन्द्रगुप्त नाटक के कल्याणी पात्र की इतिहास प्रसिद्ध भूल को सुधारने का सफल प्रयत्न किया है। कल्याणी देवसेना की भाँति प्रारम्भ में तो चन्द्रगुप्त का प्रेम संवारती है और

फिर विजया की भाँति अपने को असफल पाकर आत्महत्या कर लेती है ।

कल्याणी नन्द-जैसे विलासी राज की कन्या है फिर भी उसके विचार बहुत सरल और उसका चरित्र आत्म-सम्मान, स्वावलम्बन और दृढ़ता का आधारित अवलम्बन लिए हुए है। वह सर्वप्रथम पहले अंक के चौथे दृश्य में आकर अपने पिता की शासन नीति से खिन्न होकर अपनी सखी से कहती—'देखती हूँ समस्त प्रजा उनसे त्रस्त है और भयभीत रहती है। प्रचण्ड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है।' जब पर्वतेश्वर उनसे विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता, तव उसके व्यक्तिगत सम्मान और कुल के सम्मान की भावना एकदम उद्दीप्त हो उठती है। तभी तो अपने पिता से कहती है—'पिताजी, मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल कन्या हूँ,, उस क्षत्रिय को यह दिखला दूँगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं।' प्रतिशोध की भावना से ही पुरुष वेश धारण करके वह पर्वतेश्वर की सहायतार्थ पहुंचती है। कोमल और सरल बालिका का यह कृत्य सराहनीय है। उचित अवसर पर उसे सहायता पहुँचाती है तथा अपना अभीष्ट सिद्ध करती है। सत्य एवं कर्त्तव्यनिष्ठा कल्याणी सदैव अपने ध्येय के लिए जागरूक रहती है तभी तो नीच प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होने वाले पर्वतेश्वर की प्रतिक्रिया स्वरूप व परिस्थितिजन्य क्रोध के कारण, वह हत्या कर डालती है।

मौर्यकुमार चन्द्रगुप्त से उसकी बाल्य मैत्री है। अतः उसके प्रति स्वाभाविक रूप से प्रेम होना सम्भव है। तभी तो वह स्नातक होकर आये हुए चन्द्रगुप्त को देखकर कहती है—'आप मुझे न भूले होंगे'। तभी तो वह अपने पिता नन्द की राज्य सभा में चन्द्रगुप्त के पक्ष का समर्थन करती है तभी तो पंचनद प्रदेश के युद्ध में सम्मिलित हुई कल्याणी चन्द्रगुप्त को देखकर कहती है—'केवल तुम्हें देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होंगे।' इन सभी अभिव्यक्तियों में उसका मानव-हृदय बोल रहा है। प्रेमी हर स्थिति में प्रिय को यह बताना चाहता है कि उससे वह प्रेम करता है। साथ ही, अपने प्रिय के उद्गार भी अपने प्रति सुनना चाहता है। कल्याणी बहुत समय तक अपने प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम के ही रूप में चन्द्रगुप्त से नहीं पाती, फिर भी अधीर और निराश नहीं होती। वह समझ लेती है कि

वाली सुकुमारी। उसके इसी छलकपट से रहित भोले जीवन पर ही तो चन्द्रगुप्त मुग्ध होता है और वहाँ उसे ताँबूलवाहिनी से बढ़कर अपनी मित्रता की प्रतिक्रांत समझने लगता है।

सचमुच प्रसाद जी ने इस मानवी पात्र की सृष्टि में अपने अन्य नाटकों के स्त्री पात्रों से कुछ उपादानों का संचयन किया होगा। सृष्टि से पूर्व अन्तर्गत में 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना पात्र का भी धूमिल स्वरूप रहा होगा। अन्तर यही है कि मालविका का एकान्त प्रेम चन्द्रगुप्त से बना ही रहता है। इसी प्रेम के निर्वाह के लिए वहीं वह सेविका, दासी कभी-कभी ताम्बूलवाहिनी बनाई जाती है, पर कहीं भी प्रिय की उपलब्धि के रूप में सुख की एक श्वास भी उसके होंठों को नहीं चूम पाती। उसकी एकमात्र सम्पत्ति है 'समर्पण', उसके जीवन का लक्ष्य है 'प्रेम' और उसका एकमात्र करणीय है 'कर्त्तव्य'। उसी के स्वगत-कथन में उसके जीवन की समस्या सुलझी हुई देखिए—'फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं। एक स्निग्ध-समीर का झोंका आता है, निःश्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने के लिए है? नहीं, सबके लिए एक ही नियम नहीं। कोई रोने के लिए है, कोई हँसने के लिए।

द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने चन्द्रगुप्त में हेलन, जो प्रसाद जी की कार्नेलिया है, और छाया जो प्रसाद जी की मालविका है, दोनों का साहित्यिक समन्वय करके दोनों ही को चन्द्रगुप्त की परिणीता बनाया है। प्रसाद जी ने, मालविका का निष्ठुर अन्त करके कार्नेलिया को ही चन्द्रगुप्त की रानी बनाया है क्योंकि वैसे करने से भारतीय संस्कृति पर आघात पहुंचता। इस प्रकार यह चरित्र असामयिक अन्त में मुग्ध करने वाली अपनी विशेषताओं से परिपूर्ण है।

सुवासिनी

सुवासिनी-जैसे नारी-पात्र प्रसाद के सभी नाटकों में देखने को मिलते हैं। 'अजातशत्रु' नाटक में मागधी जो चारित्रिक विशेषता लेकर अवतरित हुई है, 'स्कन्दगुप्त' नाटक में विजया का चरित्र जिन विशेषताओं के ताने-बाने से बुना गया है, वही विशेषताएँ देशकाल की परिस्थिति से परिवर्तित होकर चन्द्रगुप्त

नाटक में सुवासिनी में प्रकट हुई हैं। ऐसे चंचल प्रकृति के नारी-पात्र, जिनका चरित्र उत्थान-पतन के हिंडोले में झूलता हुआ अन्तिम आकर्षक परिणति को प्राप्त होता है; सभी नाटकों में मिल ही जाते हैं।

चन्द्रगुप्त नाटक में सुवासिनी के अनेक रूप हमें दृष्टिगत होते हैं—शकटार की पुत्री सुवासिनी, नन्द की नर्तकी सुवासिनी, चाणक्य की पूर्वपरिचिता एवं अनुरंजिता, सुवासिनी राक्षस की प्रणयिनी सुवासिनी—ये सभी रूप उसकी बाह्य परिस्थिति से रोध के आवरण विशेष हैं, जिन्हें पहनकर वह अपने को तूफानों और झंझावतों से बचाती हुई आगे बढ़ती है। मूलरूप में वह एक नारी ही है और नारीगत सम्पूर्ण विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं। जनप्रिय अमात्य शकटार की यह एकाकिनी अनाथ कन्या सर्वप्रथम 'वसन्तोत्सव की रानी और सुन्दरियों की महारानी' के रूप में मगध सम्राट् के विलासकानन में देखी जाती है उसके मन में पूर्व परिचित चाणक्य के द्वारा किए गए व्यंग्य कि 'वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ' का प्रतिकार लेने के कारण तुमको राजचक्र में बौद्धमत का समर्थन करना होगा।' सचमुच वह राक्षस की 'अनुचरी' है और नन्द की विलास लीला को क्षुद्र बनाना चाहती है।

परिस्थितियों से लड़ते हुए भी सुवासिनी का व्यक्तित्व कहीं कथंकित होकर बैठ नहीं गया है यद्यपि वह नन्द की रंगशाला की राजनर्तकी हो गई है, फिर भी वह राक्षस की ही प्रेयसी बनी रहना चाहती है, यही तो सुवासिनी के चरित्र का आकर्षण है। पर सुवासिनी का दूसरा रूप भी है—जब उसके पिता बंदीगृह से मुक्त होते हैं तो वह आदर्श आर्य बालिका की भाँति प्रणय को दबाकर मर्यादापूर्ण कर्त्तव्य को सम्मुख रखती है। 'उसके प्रेम में वासना की उद्दीप्तता नहीं है। वह राक्षस को समझाती है—तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम देख नहीं रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय बिछुड़ जायेगा, एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जायेगी। जब सुवासिनी को राक्षस की क्षुद्र प्रवृत्ति का परिचय मिल जाता है तब वह चाणक्य से कहती है—'परिणय राक्षस से! नहीं, असम्भव है।' अन्त में, चाणक्य के आदेश से विवश होकर वह राक्षस से ही विवाह कर लेती है। इस प्रकार सुवासिनी के सम्पूर्ण चारित्र का विश्लेषण

कार्नेलिया में वाक्-चातुर्य पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। तभी तो वह दोनों वार फिलिप्स को हत-बुद्धि करती है और पिता को अपने अनुकूल बना लेती है। उसे भौतिक आकर्षण अभिभूत नहीं करते और न उसका प्रेमी हृदय युद्ध की विकरालता देखना चाहता है। स्वाभिमानी एवं आत्मगौरव की विशेषताएँ भी उसमें हैं, तभी तो उसने देशद्रोही राक्षस को ये अपशब्द कहे हैं—'मेरे यहाँ ऐसे लोगों को देशद्रोही कहते हैं···जिस देश ने तुम्हारे पालन-पोषण करते पूर्व उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नहीं हो रहे हो ?' कार्नेलिया की छिपी हुई वीर भावना उस समय प्रकट होती हैं जब भारतीय सैनिक सिल्यूकस को पराजित करके यवन-शिविर में प्रवेश करते हैं, उस समय का उसका यह कथन—'चिन्ता नहीं, ग्रीक बालिका भी प्राण देना जानती है।···ग्रीक का आत्मसम्मान जिये, तथा अपने चरित्र की निष्कलंकता के लिए छुरी निकाल कर आत्महत्या के लिए सन्नद्ध होना उसकी दृढ़या और वीरता का द्योतक है। सारांश यह है कि कार्नेलिया के चरित्र में नारीगत सहृदयता, सहानुभूति, भावुकता, विद्वत्ता, योग्यता, प्रकृति प्रेम, स्वाभिमान, आत्मगौरव आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

कार्नेलिया के चरित्र में प्रसाद जी ने ग्रीक सभ्यता की छाया दिखाई है और चन्द्रगुप्त में भारतीय संस्कृति की रेखा। उनका उद्देश्य था ग्रीक सभ्यता पर भारतीय संस्कृति के गौरव का उत्कर्ष दिखाना। वह उन्होंने कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त की परिणीता तथा भारत की सम्राज्ञी बनाकर सिद्ध कर दिया है।

द्विजेन्द्रलाल राय ने इसी पात्र को हेलन नाम दिया है। राय की हेलन विश्वप्रेम का प्रतीक है। विश्वप्रेम के प्रवाह में वह इतना बह जाती है कि पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल जाती है। जब वह पिता की हार पर प्रसन्न होती है तब पाठकों को उसकी यह प्रवृत्ति खटकती है प्रसाद की कार्नेलिया ऐसी नहीं है। उसमें पिता-पुत्री का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध बना रहता है। इस प्रकार कार्नेलिया का सरल और शिष्ट चरित्र आकर्षणीय बन गया है।

मालविका

मालविका वह सुकुमारी कलिका है, जो उपवन में अपने अस्तित्व का ही अधिकार दिखा सकी है, पर बाह्य वातावरण की अनुकूलता में प्रमुदित होकर कभी खिल न सकी और एक दिन काल—माली ने उसकी अतृप्त अभिलाषाओं के साथ ही उसे निष्ठुरतापूर्वक तोड़ लिया। वह जीवन भर हँसने का प्रयास तो करती रही है, पर निष्ठुरता की प्रतिकूल सीमाओं ने उसे स्वाभाविक रूप से, अन्तर के विकास के साथ हँसने नहीं दिया। सचमुच मालविका का जीवन पवित्र सलिला गोमुखी गंगा के समान है, जिसका उद्गम सभी के नेत्रों और हृदयों को मुग्ध करता है, पर वह कठोर शिलाओं की सीमाओं में अपने को विकसित नहीं कर पाती तथा कुछ ही विकास के पश्चात् चट्टानों के नीचे उसका प्रवाह होने लगता है। इस सेवा और त्याग की मूर्तिमती देवी का प्रथम दर्शन नाटकीय जटिलता के बीच में होता है। 'प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना'—सिंधु प्रदेश की यह रहने वाली है तथा 'और देशों को देखने की इच्छा से भ्रमण करने निकल पड़ी है। तक्षशिला में अलका से परिचय हो जाने पर वह कुछ दिन उसी के साथ निवास करती है तो यवनाक्रमण होता है। उद्भाण्ड के पुल का मानचित्र इसी ने तो बनाया है। यही तो घायल सिंहरण की सुश्रूषा बड़ी सहृदयता और निष्ठा से करती है। मालव में उद्यान में उसका प्रथम साक्षात् चन्द्रगुप्त से होता है। वहाँ वह चन्द्रगुप्त की वीरता को सुनकर तथा उसके कार्य को देखकर आकर्षित होती . . इसी समय चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण का किंचित् उन्मेष 'स्नेह से हृदय . . ा हो जाता है' इन शब्दों में होता है और चन्द्रगुप्त भी उसकी सरलता पर मुग्ध है। युद्ध की भावना इस कोमल हृदया की प्रकृति के ही विपरीत है। अलका से मालव दुर्ग में हुए वार्तालाप से यह प्रकट होता है कि वह स्वभाव से ही युद्ध नहीं चाहती। वह अलका से कहती है—"मैं डरती हूँ—घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका! मैंने सेवा-व्रत लिया है।" वह अपने प्रिय चन्द्रगुप्त के लिए सब कुछ करना यहाँ तक कि झूठ बोलने का भी निश्चय कर लेती है। जब चाणक्य उस पर चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा का भार सौंप देता है तब वह अपने प्राणों को न्यौछावर करके उसकी रक्षा करती है। इतनी दृढ़ निश्चया निकली वह मधु भरे हृदय

किया है। उनमें सभी श्रेष्ठ और निर्मल तत्त्व विद्यमान हैं। जैसे नारी हृदय की उदारता, अनन्यता, कोमलता, करुणा, सहृदयता आदि उदात्त वृत्तियां उनकी अपनी निधि हैं। सत्त्व गुण से व्याप्त करुणा, विनय, प्रेम, सहानुभूति, आत्म-समर्पण, क्षमाशीलता, वात्सल्य की भावना सच्चाई के लिए दृढ़ता से सामना करने की प्रवृत्ति के साथ-साथ विरोधी तत्त्वों को भी दमन करके अथवा विषम-परिस्थितियों का शमन करके आगे बढ़ने की उनमें क्षमता है। इतना होते हुए भी ये नारी पात्र मंच पर भाषण देते हुए नहीं सुने जाते और न टेर-टेर कर औरों को अपना अनुयायी बनाने के लिए ही दुहाई देते हैं। ये तो स्वयं चलते हैं और यदि अन्य पात्र इनके सदाचरण आदि गुणों से प्रभावित होकर अनुगमन करते हैं तो ये नारी-पात्र अपने हार्दिक विस्तार से उनको भी साथ कर लेते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी अपनी भावुकता से ये भी छले जाते हैं। इस प्रकार विश्लेषण करने पर प्रसाद के नारी-पात्रों की तीन श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं—१. आदर्श और कर्त्तव्यनिष्ठ पात्र—ये पात्र पुरुषों की भाँति चंचल और ज्योतिपूर्ण होते हैं। कालिक और स्थानिक परि-स्थितियाँ इनको बाँधने में असमर्थ होती हैं तूफानों को शान्त करने और फिर से तूफान उठाने की इसमें शक्ति होती है। २. महत्वाकांक्षी पात्र—ये वे पात्र हैं जो महत्वाकांक्षा के पालने में भूलते हुए अपने चरित्र का परिस्थितियों के अनुसार उतार-चढ़ाव दिखाते हैं। इनके चरित्र का मध्यकाल सद्वृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों का समन्वित रूप होता है जिनमें दुष्प्रवृत्तियों का पलड़ा भारी होता है पर इनके चरित्र का अन्त शोभन में होता है। ३. काल्पनिक पात्र—तीसरी कोटि के पात्र काल्पनिक जगत् के होते हैं। प्रकृति सुन्दरी ने जिन्हें अपने हाथों से रचा है, पुरुषों का सौकुमार्य ही उनकी काया है, वीणा की मधुर तान ही उनका कण्ठ है संघर्षों से जो घबराते हैं, सेवा वृत्ति ही जिनका मार्ग है तथा विश्व प्रेम ही जिनका लक्ष्य है। ये पात्र अपनी मार्मिकता एवं मधुरता से पाठकों को मुग्ध कर लेते है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में इन तीनों प्रकार के पात्रों का सुन्दर चित्रण है। अलका, कल्याणी प्रथम कोटि के अचल और आदर्श पात्र हैं। सुवासिनी चंचल प्रकृति का मध्यकोटि की पात्र है। कार्नेलिया और मालविका काल्पनिक जगत की पात्र है, जिनका हृदय भावना से परिपूर्ण है।

इनके अतिरिक्त प्रसाद के कुछ नारी-पात्र ऐसे भी हैं जो सापत्न्य डाह की ऊष्मा से, गृहकलह के प्रतिमास्वरूप नाटक में अपना अस्तित्व रखते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में मनसा और सूरमा हैं, 'अजातशत्रु' में वासवी और छलना हैं, 'स्कन्दगुप्त' में अनन्तदेवी और देवकी हैं जो अपने-अपने अधिकार के लिए व्यथित होती हैं। ध्रुवस्वामिनी पात्र सपत्नीक द्वेष से जर्जरित नहीं है फिर भी चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के संघर्ष का कारण है। 'चन्द्रगुप्त' एक नया चित्रपट उपस्थित करता है .... यह कितना निसर्ग सुन्दर है और कितना स्मरणीय है। वही तो कहती है—'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' इधर मालविका भी कहती है—'मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना मेरा सिन्धु देश है।' इन दोनों ही पात्रों में बहुत कुछ स्वाभाविक समता है। दोनों के ही उदार हृदय अपने-पराये की सीमा से आगे बढ़ जाते हैं। दोनों में ही क्षमाशीलता विद्यमान है। दोनों ही पाप के प्रति तो उदासीन, पर पापकर्त्ता के प्रति दयालु दिखाई देती हैं। कार्नेलिया में यदि कुशल वाक्पटुता है तो मालविका में वाणी का संयम विद्यमान है। कार्नेलिया में उदारता अज्ञान-प्रसूतिका नहीं है उसमें दार्शनिक चिन्तन की भी प्रवृत्ति है तो मालविका के कथनों में भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का दार्शनिक पक्ष मिलता है। दोनों में ही मनुष्यता का गुण उस आभूषण की भाँति शोभता है, जो दर्शकों की दृष्टि को आकृष्ट करने की सामर्थ्य रखता है। सारांश यह है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में नारी पात्रों की मार्मिकता सर्वथा विशेष आकर्षण का केन्द्र है।

करने पर निम्न तथ्य उपलब्ध होते हैं—प्रथम, सुवासिनी सुख-दुःख के पालने में पली है और उसका सौन्दर्य व संगीत-प्रेम उसे जीवन के आरोहों और अवरोहों पर ले जाता है जिसका प्रारम्भ उच्च संघर्षमय जीवन क्षुद्रता की भूमि पर तथा अन्तिम परिणति उच्च मंच पर होती है। द्वितीय वह मानवीय दुर्बलताओं में भरी एक नारी है, उसका जीवन महत्त्वाकांक्षी है। तृतीय, वह परिस्थिति को अपने अनुकूल ढालने वाली एवं कर्त्तव्यशीला नारी है। उसने राक्षस के प्रति समर्पण में, पिता की इच्छा के अनुकूल होने में, ग्रीक शिविर में चाणक्य की आज्ञा से दूतीत्व करने में अपने कर्त्तव्य को निभाया है। चतुर्थ, सुवासिनी एक प्रेमिका है। पंचम, उसके चरित्र में मानवीय संबल है, तभी तो वह अनेक प्रलोभनों को ठुकरा देती है। उसका प्रारम्भिक जीवन मेघों से ढकते-निकलते चन्द्र के समान है तथा निष्कलंक पूर्ण ज्योतित चन्द्र के समान है। वह अपने को हारकर भी अपने व्यक्तित्व को कहीं नहीं हारती।

: ६ :

चन्द्रगुप्त : नारी भावना की मार्मिकता

ऐतिहासिक नाटक चन्द्रगुप्त लिखने से पूर्व तो यह प्रसिद्ध हो गया था कि प्रसाद जी स्त्री-प्रधान नाटक लिखते हैं। उनके अन्य सभी नाटकों में नारियों की मर्यादा, गौरवपूर्ण चरित्र एवं उनकी हार्दिक स्निग्धता से पुरुषपात्र धुँधले पड़ जाते हैं। इसका मुख्य कारण रहा है प्रसाद जी की संवेदनात्मक प्रवृत्ति। जिस कोमल हृदय से तन्मयतापूर्वक प्रसाद जी ने किसी नारी का कलात्मक सृजन किया है—उसकी समता में रुक्ष पुरुषपात्र---चाहे वह नायक ही क्यों न हो, टिक नही पाता है। राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी, देवसेना, मल्लिका, अलका आदि ऐसे ही तो लोक-विश्रुत पात्र हैं, जिनकी स्रोतस्विनी शक्ति से नायक भी प्रेरणा-शक्ति ग्रहण करता है। चन्द्रगुप्त नाटक के प्रकाश में आने पर उपरोक्त मान्यता में कुछ शिथिलता आई क्योंकि इसमें नारियों को ऊपर नहीं वरन् पुरुषों के समकक्ष खड़ा करके कन्धे से कन्धा मिलाकर सांसारिक संघर्षों में चलाया है। स्त्री और पुरुष दोनों ही पात्र चन्द्रगुप्त में समान स्तर पर चलकर समाज का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

नारी पात्रों के चित्रण में प्रसाद की कोमलता संवेदनात्मक प्रवृत्ति तो काम करती है, पर सबसे प्रमुख कार्य होता है उनकी भारतीयता का। इसलिए ही तो उनका यथार्थ भी आदर्शोन्मुख ही है। प्रायः सभी स्त्री-पात्र किसी विशेष आदर्श को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाये, उसे प्रत्येक स्थिति में निर्वाह की शक्ति लिए हुए अग्रसर होते दिखाई देते हैं, पर उनका हार्दिक पक्ष कहीं भी विस्मृत और आवृत नहीं दिखाई देता है—आदर्श स्त्री-पात्रों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—आदर्श सदो पात्र और आदर्श विरोधी स्त्री पात्र आदर्श पात्रों में प्रसाद जी ने चुन-चुनकर आकर्षणीय मानवीय गुणों को केन्द्रित

चरित्र का प्रभाव पड़ता है। चाणक्य के व्यक्तित्व का प्रभाव नाटक के सभी पात्रों पर कुछ कम और कुछ अधिक है। वह नाटक में किसी का गुरु है तो किसी का शत्रु, किसी का प्रेमभाजन है तो अनेक का श्रद्धास्पद, किसी को वह राष्ट्रभक्ति की भावना से निष्णात करना चाहता है तो किसी की प्रतिद्वन्द्विता स्वीकार करता है। वह आत्मबल और पौरुषेय का मेरुदण्ड भी है। सारांश यह है कि फलभोक्ता की दृष्टि को छोड़कर उसके चरित्र में नायकत्व की सभी कसौटियाँ विद्यमान हैं। तो क्या हम उसे नायक मान लें ? जब हम इस प्रश्न का समुचित विवेचन करते हैं तो यही पाते हैं कि चाणक्य चन्द्रगुप्त नाटक का नायक नहीं हो सकता। इसका उत्तर यही है कि यद्यपि चाणक्य स्वयं सूत्रधार है, पर वह भी अपने कार्य-व्यापार चन्द्रगुप्त के हाथों ही सम्पादित करना चाहता है। यदि चाणक्य मस्तिष्क की काल्पनिक शक्ति है तो चन्द्रगुप्त उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति। बिना मानसिक कल्पना के शरीर में गतिविधि नहीं हो सकती और बिना शरीरी माध्यम के वह कल्पना कोरी कल्पना ही रह जायेगी। इस क्षेत्र में चाणक्य की मानसिक मेघा चन्द्रगुप्त जैसी शक्ति पाकर ही अपने प्रयत्न में कृतकृत्य हुई है। यद्यपि चाणक्य का त्याग उसे नायकत्व की सीमा में खींच लेता है पर फल की अप्राप्ति के कारण ही चाणक्य नायक-पद से वंचित हो जाता है। चन्द्रगुप्त फल की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष ही प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है और अन्त में उसे ही फल की सम्प्राप्ति होती है। नाटककार ने नाटक का नाम 'चन्द्रगुप्त' इसी आधार पर रखा है कि चाणक्य से भी अधिक चन्द्रगुप्त नायक पद का अधिकारी है। नाटक की तीनों मुख्य घटनाएँ—यवन आक्रान्ता का दमन, नन्दवंश का उन्मूलन और एक-छत्र आर्यसा म्राज्य के स्थापन में चन्द्रगुप्त ही पाठकों के सम्मुख आता है। अतः चाणक्य नाटक का नायक कदापि नहीं हो सकता।

अब चन्द्रगुप्त को नायक पद पर आरूढ़ करके देखना है कि क्या वह सचमुच इस पद के योग्य है अथवा भाग्य से या पक्षपात से उस पद पर इसको अधिष्ठित कर दिया गया है। यहाँ हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त प्राचीन एवं नवीन शास्त्रीय विचारधारा के अनुकूल ही नायक सिद्ध होता है। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में ही श्रोता, द्रष्टा अथवा पाठक सभी को चन्द्रगुप्त पात्र के उत्थान-

पतन में विशेष रुचि दृष्टिगत होती है। वह सर्वगुण सम्पन्न है। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की जो महत्ता स्वीकार की है वह अपनी किसी कमजोरी के कारण नहीं अपितु इसलिए कि महापुरुष शील मर्यादादि के प्रतिष्टापक होते हैं। इससे उनका यश दिगन्त में फैलता है। इसलिए चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की शरण नही ली कि उसमें बुद्धि की कमी हो।

चन्द्रगुप्त एक ऐतिहासिक पात्र है। उसके चरित्र ने प्रसाद को ही नहीं वरन् अन्य नाटककारों की लेखनी को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। उसका सम्बन्ध सिकन्दर के आक्रमण से है। प्रसाद ने अपने नायक चन्द्रगुप्त के चरित्र को वैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषित किया है। यद्यपि द्विगेन्द्रलाल राय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ की कठपुतली बना रहता है। यहाँ प्रसाद जी ने अपनी योग्यता के कारण उसका चरित्र स्वावलम्बी, स्वाभिमानी तथा आत्मविश्वासी के रूप में चित्रित किया है। वह चाणक्य की उक्तियों का सम्मान तो करता है, वह सिंहरण के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना ठीक समझता है, पर चतुर्थ अंक में उसका चरित्र बहुत ऊँच हो जाता है। जब चाणक्य और सिंहरण के चले जाने पर वह कहता है—'पिता गए, माता गई, गुरुदेव गये, कन्धे से कन्धा मिड़ाकर प्राण देने वाला चिर सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना ही पड़ेगा और रहेगा।' जब सिंहरण चन्द्रगुप्त को यह पत्र भेजता है कि 'कोई बलाधिकृत जाय तो वह अपना अधिकार सौंप दे' तब भी चन्द्रगुप्त विचलित नही होता— साहस को छोड़ना उसके स्वभाव के विपरीत था। वह वीरभावापन्न हैं। उसने प्राण देने वाले वीरों को देखा है, उसे विजयलक्ष्मी के मंगल गान का पूर्ण विश्वास है। वह पद का भूखा नहीं है, इसीलिए तो सम्राट् के स्थान पर सैनिक बनना स्वीकार करता है। इसी विश्वास पर तो वह सिंहरण से कह देता है कि 'सिंहरण को छुट्टी दो। दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।' तात्पर्य यह है कि सबके साथ छोड़ देने पर भी उसके धैर्य ने उसका साथ नही छोड़ा।

कार्य घटना के मुख्य सूत्र के रूप में भी वही हमारे सामने आता है। भारत में यवनों के पैर न जमने देना और विश्व विजेता होने के अभिमान को

: ७ :

चन्द्रगुप्त : नायक

नायकत्व का निर्धारण करने के लिए जब हम 'चन्द्रगुप्त' का अनुशीलन करते हैं तब हम एक उलझन में पड़ जाते हैं। नायक निर्धारण के समय चन्द्रगुप्त नाटक के चार पात्र क्रमशः हमारे सम्मुख आते हैं। वे हैं—पर्वतेश्वर, सिंहरण, चाणक्य और चन्द्रगुप्त। ये क्रमशः नायकत्व के पद पर अपने को अधिष्ठित कराने के लिए आग्रह करते हैं। ऐसी स्थिति में धीमान् पाठक शास्त्र की अथवा पूर्व परम्परा की शरण में जाता है। नाट्य शास्त्र की दृष्टि से जो भी गुण नायक के लिए निश्चित किए गए हों, उनकी कसौटी पर पात्रों को कसता है। इस निमित्त सर्वप्रथम साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से नायक के गुण अवलोकनीय हैं--

(१) नायक को धीर प्रशान्त होना चाहिए।

(२) समाज जीवन, दर्शन तथा राजनीति का नायकत्व के क्षेत्र में वह अधिकारी हो। उसका नाम इतिहास प्रसिद्ध हो।

(३) नायक में सात्विक प्रवृत्ति की प्रबलता होने के कारण शोभा विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थिरता, तेज, लालित्य और औदार्य सात्विक ये गुण होने चाहिएँ।

(४) आरम्भ से लेकर अन्त तक नायक का सम्बन्ध प्रमुख कार्य मे बना रहे और अन्त मे वही फल का अधिकारी हो।

(५) आत्म-बल एवं पौरुष उसके व्यक्तित्व का मेरुदण्ड होना चाहिए।

यद्यपि आधुनिक मान्यताओं में कुछ हेर-फेर हुआ है। आज यह आवश्यक नहीं है कि नायक धीर प्रशान्त ही हो, धीर ललित और धीरोदात्त भी हो सकता है। साथ ही, नायक में 'सात्विक प्रवृत्तियों की प्रबलता' को ही आधुनिक युग स्वीकार नहीं करता। चारित्रिक दुर्बलताओं वाले पात्र भी नायक होते हैं।

क्योंकि, वे ही जीवन के अधिक निकट होते हैं। अब हम उक्त कसौटी पर प्रत्येक पात्र का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि वह कहाँ तक नायकत्व के अधिकारी हैं।

जहाँ तक पर्वतेश्वर का सम्बन्ध है, वह तो 'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक नहीं हो सकता; क्योंकि इसका कार्य नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक नहीं है। वह प्रथम अंक के नवें दृश्य में मंच पर आता है और चौथे अंक के प्रथम दृश्य में ही उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। इस बीच में भी वह नाटक-कार्य का अग्रणी बनकर कार्य नहीं करता। यद्यपि वह यवनों का प्रवल विरोध करता है, पर नाटक की सम्पूर्ण घटनाएँ उसके पीछे-पीछे नहीं चलती उसका चरित्र भी दुर्बल तन्तुओं से बना हुआ है, निश्चय उसका अस्थिर है, उसकी मृत्यु का कारण उसकी कामवासना है और नाटक के फल का अंश उसे किंचित मात्रा में भी प्राप्त नहीं हो सका है। इतिहास में उसका सम्पूर्ण जीवन उल्लि-खित नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त नाटक नायक किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकता।

दूसरा नाम आता है सिंहरण का। सचमुच सिंहरण का कार्य-व्यापार नाटक के प्रारम्भ से अन्त तक विस्तृत है। वह स्पष्ट वक्ता, निर्भीक और सच्चा वीर भी है। मित्रता को वह प्राणों से अधिक समझता है। राष्ट्रीय भावना में वह ओत-प्रोत है। कृतज्ञता के बन्धन को स्वीकार करके उसने सिकन्दर के प्रति प्रत्युपकार दिखाकर राष्ट्रीय ऋण की निवृत्ति करके बहुत बड़ी उदारता दिखाई है। फिर भी, फल-भोक्ता की दृष्टि से वह पीछे रह जाता है। कथा-विकास का वह नेतृत्व नहीं कर पाता, कार्य-व्यापार उसके पीछे-पीछे नहीं चलता, अतः उसे नायकत्व के पद पर अधिष्ठित करना न्याय संगत नहीं है।

तीसरा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण नाम आता है चाणक्य का, जिसकी अन्तर्विचारधारा ही सम्पूर्ण नाटक की कार्यशीला शक्ति है। चन्द्रगुप्त जिसका साधन मात्र है। चाणक्य का नाम भी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों में से है। आद्योपान्त नाटक की सभी घटनाओं में उसका योग है। नाटक में जितना व्यापक चन्द्रगुप्त का शील, व्यक्तित्व और चरित्र उद्घाटित हुआ है उससे किसी प्रकार कम चाणक्य का नहीं है। पाठकों पर चाणक्य के महत्त्वपूर्ण

धारण करने वाले सिकन्दर के आक्रमण को विफल बनाने का श्रेय उसको ही है। भारतीय स्वतन्त्रता को परतन्त्रता से कलंकित न होने देने का प्रण करके, सर्वथा साधनाहीन होने पर भी अदम्य उत्साह एवं सराहनीय अध्यवसाय के बल पर उसी ने तो सम्पूर्ण विघ्नों पर सफलता प्राप्त की है। अन्त में विजय का सेहरा उसी के सिर बाँधा जाता है। मगध का विशाल साम्राज्य एवं यवन-कुमारी कार्नेलिया की प्राप्ति 'फल' के रूप में उसे ही होती है।

चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व स्वभाव से ही तेजस्विता-सम्पन्न है। नाटक के सभी प्रमुख पात्र उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो चुके हैं। सिकन्दर चन्द्रगुप्त के विषय में कहता है—'यह तेजस्वी युवक कौन है', साथ ही यवन सैनिक-शिविर से आम्भीक, फिलिप्स, एनसाक्रेटीज को घायल करते हुए असाधारण वीरता से उसका वहाँ से निकलना उसके नायकत्व का अधिकारी है। सिल्यूकस उसके विषय में कहता है—'चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है। यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है।' कार्नेलिया भी उसे 'आर्य वीर' शब्द से सम्बोधित करती है। मालविका उसको 'अद्भुत युवक' बतलाती है। मालवों की युद्ध परिषद् उसे सम्मिलित-सेना का सेनापति बनाकर उसका सम्मान करती है। प्रतिद्वन्द्वी पर्वतेश्वर के विचार चन्द्रगुप्त की चारित्रिक विशेषताओं को बढ़ाते हैं। वह कहता है, "मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य को न कर सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया ...... मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूं कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है।" इसके अतिरिक्त राक्षस नन्दादि भी उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हैं। चन्द्रगुप्त में महापुरुषों की सी हार्दिकता भी विद्यमान है। मालविका को वह 'स्वर्गीय कुसुम' कहता है। कल्याणी के हृदय में भी चन्द्रगुप्त के प्रति मधुर स्निग्ध स्मृति जागृत रही है। अलका और सिंहरण भी यदि किसी को सहयोग प्रदान करते रहे हैं तो वह नायक चन्द्रगुप्त को।

सम्पूर्ण नाटक में चाणक्य की कूटनीति फल-प्राप्ति के लिए पर्दे के पीछे प्रयत्नशीला बनी रही है, पर फल-भोक्ता चन्द्रगुप्त ही होता है। तृतीय अंक पर आकर नाटक समाप्त किया जा सकता था—पर चतुर्थ अंक चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने, उसको स्वावलम्बी दिखाने, नायकोचित उसकी न्यायप्रियता

दिखाने के लिए ही सृजा गया है। तात्पर्य यह है कि नाटक का लक्ष्य ही चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाना है। प्रसाद जी ने नाटक का नामकरण भी चन्द्रगुप्त के चरित्र की प्रमुखता के ही कारण किया है। नाटक के प्रारम्भ में प्रसाद जी ने जो प्रस्तावना लिखी है उसमें भी चन्द्रगुप्त के वंश और उसकी विशेषताओं का ही विशेष रूप से उल्लेख हुआ है।

यह माना कि नायक चन्द्रगुप्त का चरित्र क्रमशः अपनी परिपुष्टता को प्राप्त हो सका है। प्रथम दृश्य में तो उसके सम्मुख राष्ट्र की स्पष्ट कल्पना भी नहीं थी वह मालव और मगध में भेद करता है। यह उसकी दूरदर्शिता नहीं है वरन् उसकी प्रारम्भिक अवस्था है। नाटककार ने अपनी कला को क्रमशः विकास दिया है जो नाट्य-रचना की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि चरित्र का स्वाभाविक विकास होना नाटक में आवश्यक रहता है। नायक चन्द्रगुप्त पूर्ण रूप से मनुष्य है, देवता नहीं। उसमें मानवीय दुर्बलताएँ और सबलताएँ दोनों ही गुण विद्यमान हैं। उसके यही गुण पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। साथ ही प्रसाद जी ने उसे उच्चकुलजन्मा सिद्ध करके उसको इस कसौटी पर भी खरा उतारा है कि नायक उच्च वंश का ही होना चाहिए।

आलोचकों ने चन्द्रगुप्त के नायक होने में एक दोष और लगाया है कि चन्द्रगुप्त नाटक के सभी स्तर के स्त्री-पात्रों से प्रेम करना बुरा नहीं समझता। वह मालविका से भी प्रेम करता है तो कार्नेलिया से भी, कल्याणी तो उसकी बचपन की साथिनी है ही। इस विषय में इतना ही कहना उचित है कि नारी पक्ष की ओर आकर्षित होने के कारण ही चन्द्रगुप्त का नायकत्व नहीं छीना जा सकता क्योंकि चन्द्रगुप्त नाटक आधुनिक युग में लिखा गया है और आधुनिक युग नारी को भी उसका अपना विशेष स्थान प्रदान करता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो मनोविज्ञान की दृष्टि से नारी-जगत् के साथ अन्याय होता। नारी पुरुष की बाधक नहीं है साधक है, उत्साह प्रदायिनी है, लक्ष्य प्रदायिका है, फिर भी उसकी ओर क्यों न आकृष्ट हुआ जाय। हाँ, चन्द्रगुप्त के मार्ग में मालविका अवश्य कुछ फिसलन उत्पन करती है पर उसके मार्ग को अवरुद्ध कहीं भी नहीं किया। उसी मालविका ने चन्द्रगुप्त के लिए अपना जीवन भी तो अर्पित कर दिया है और वह उसकी मृत्यु पर 'आह मालविका !

स्वर्गीय कुसुम' कहकर ही अपने अग्रिम कर्त्तव्य के लिए अग्रसर हुआ। इसी प्रकार वह कार्नेलिया के विषय में स्निग्ध होता हुआ 'गुरुदेव इतनी निष्ठुरता' अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ हो जाता है। वैसे भी जो व्यक्ति कठोर कर्त्तव्य का पालन करता है उसके जीवन में थोड़ा-सा माधुर्य लाना भी आवश्यक है। नहीं तो वह मनुष्य से पत्थर अथवा संवेदनशील देवता बनकर रह जायगा। चन्द्रगुप्त के द्वारा मालविका से 'रणभेरी से पहले मधुर मुरली की तान सुनना' उस भारतीय विचारधारा की पुष्टि है जिसमें शूरवीर मरण से पूर्व उत्सव मनाया करते हैं।

अन्त में, यही कहना है कि प्रसाद जी का दृष्टिकोण चरित्र-चित्रण में समन्वयवादी रहा है जिसके आदर्श और यथार्थ का समन्वय है जिससे पात्र मनुष्य ही बना रहता है। अतः उनकी नाटकीय कला के दृष्टिकोण से भी नायक चन्द्रगुप्त ही है और वे उसके नायकोचित वर्णन में पूर्ण विजयी हुए हैं।

सारांश में, यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी के दृष्टिकोण से जिस चन्द्रगुप्त में त्याग, कृतज्ञता, प्रवीणता, पाण्डित्य, अनुरागी प्रवृत्ति, रूप-यौवन का पूर्ण उत्साह, तेजस्विता, सुशीलता, वीरोन्माद, विजय का उत्साह, क्षमा, स्वभाव का तारल्य आदि गुण विद्यमान हैं। वही केवलमात्र नाटक का नायक है।

: ८ :

चन्द्रगुप्त : नायिका

प्रत्येक नाटक में जिस प्रकार एक नायक होता है उसी प्रकार एक नायिका भी रहा करती है। नायिकाओं का भेदोपभेद विवेचन यद्यपि शृंगार की सीमा तक खींचकर ले जाता है तथापि नाटक में आई हुई स्त्री पात्रों की मनोवृत्ति का तो विवेचन हो ही जाता है। उन सबमें एक विशेष पात्रा होती है जिस को नायिका का पद प्रदान किया जाता है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में तो नायिका के गुणों का भी विशेष वर्णन हुआ है। उनमें यौवनावस्था के साथ कुलशील एवं प्रेम की आन्तरिक अनुभूति की श्रेष्ठता होनी चाहिए। कुलाभिमान स्त्रियों के चरित्र को पतन से बचाता है अतः प्रमुख नायिका में यह गुण होना आवश्यक है। प्रमुख नायिका में आठ अंग या गुण होना आवश्यक है। ऐसी अष्टांगवती नायिका को 'देव' के 'नवरस' में इस प्रकार बताया गया है—

जा कामिन में देखिए, पूरन आठों अङ्ग।
याहि बखाने नायिका, त्रिभुवन मोहन रग ॥
पहले जोबन रूप गुन, सील प्रेम पहिचानि।
कुल वैभव भूषण बहुरि, आठों अङ्ग बखानि ॥'

'चन्द्रगुप्त' आधुनिकता की दृष्टि से लिखा गया नाटक है। उसमें इस प्रकार की शृंगारकालीन कोई भी नायिका नहीं है। नायिका का फलभोक्त रूप छिपा दिया गया है। चन्द्रगुप्त में अलका, कल्याणी, कार्नेलिया, सुवासिनी, मालविका ये प्रमुख नारी पात्र हैं जो नायिका पद के लिए चुनी जा सकती हैं। मालविका और सुवासिनी दो ऐसे नारी पात्र हैं जो कार्य-व्यापार कहीं भी, किंचित्-मात्र भी नेतृत्व नहीं कर पाते तथा मुख्य घटना को प्रभावित नहीं करते, चाणक्य की इच्छा मात्र की पूर्ति करने में ही कृतकार्य बने रहते हैं। कल्याणी एक ऐसी पात्रा है जो यौवन-रूप-सम्पन्न होने के साथ-साथ कथा-व्यापार को

भी प्रत्यक्ष रूप में अग्रसर करवाती है, पर वह क्षत्रिय-कुलोद्भव नहीं है और न उसे अन्त में किसी प्रकार के फल की उपलब्धि ही हो पाती है। उसका आत्म-हत्या कर लेना ही उसको नायिका पद की अधिकारिणी नहीं रहने देता। कार्नेलिया इस दृष्टि से भी सफल है, क्योंकि उसे रूप-यौवन भी प्राप्त है। और वह फल-प्राप्ति के रूप में साम्राज्ञी पद को भी प्राप्त कर लेती है। पर उसमें उच्चकुलोद्भवता का गुण नहीं है; क्योंकि, यवनों को म्लेच्छ समझे जाने की प्रथा प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। अब रह जाता है अलका, जो नाटक में कार्नेलिया और मालविका ये दो पात्र ऐसे हो सकते थे यदि वे सपत्नीक बनते। तात्पर्य यह है कि नाटकों में स्त्री पात्र या तो नाटक की मुख्य कथा को संचालित करते हैं अथवा किसी-न-किसी रूप में निवास व संघर्ष के लिए प्रेरणा अवश्य देते हैं।

अब हम 'चन्द्रगुप्त' नाटक में आये स्त्री-पात्रों की मार्मिकता और कारुणिक सहृदयता का भी अवलोकन कर लें जो अपने इन विशिष्ट गुणों से सभी को आकर्षित कर लेते हैं। इन नारी-पात्रों के विषय में प्रसाद जी का अपना ही मत 'अजातशत्रु' नाटक में इस प्रकार है—'नारी के राज्य की सीमा विस्तृत है; और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री जाति करुणा है। इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप। ······क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकार कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।'

चन्द्रगुप्त नाटक की मालविका और कार्नेलिया ऐसे ही कोमल पात्र हैं, जो भारतीय आदर्शों के सर्वदा अनुकूल रहते हुए अपनी कोमलता, उदारता और स्निग्धता का प्रसार करते हैं। नाटक के अधिकांश पुरुष-पात्र इनके इन गुणों से प्रभावित होते हैं। चन्द्रगुप्त मालविका को 'स्वर्गीय कुसुम' सचमुच जिसकी सुगन्धि सम्पूर्ण नाटक में विकीर्ण है, कहता है। यह वह पुष्प है जो हँसता हुआ तो आता है पर मकरन्द गिराकर ही अपना अस्तित्व समाप्त कर लेता है। उस अलौकिक पुष्प मालविका के मुख से ही सुनिये—'फूल हँसते हुए आते हैं फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं। एक स्निग्ध समीर का

झोंका आता है और विश्वास फेंककर चला जाता है।' लोक के लिए विश्रामदायी वाटिका के समान पाठकों को भी हार्दिक छाया में विश्राम करने का स्थान है।

दूसरा पात्र है कार्नेलिया—जो भावुक और सहज सुन्दर है, जो भारत भूमि के कण-कण से प्रेम करती है। प्रकृति ही जिसकी क्रीड़ास्थली है। भारतीय संस्कृति की छाप जिसके हृदय पर विराजमान है, जो नारीगत कोमलता और सहृदयता के कारण आत्मीय जनों के अतिरिक्त परिजनों को भी मनुष्य समझ कर प्रेम करती है। वह प्रकृति-प्रेमिका है। देखिए—'सिन्धु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सम्मुख उपरोक्त सभी गुणों से सम्पन्न है। साथ ही, वह उच्चकुलोत्पन्न भी है। सिंहरण के साथ परिणय रूप उसकी फल-प्राप्ति में सहायक है। मुख्य रूप से उसका कार्य भी आर्यावर्त में एकच्छत्र राज्य की स्थापना एवं विपक्षियों का दमन करना ही उसका मुख्य लक्ष्य रहा है। उसका देशभक्त रूप ही अधिक प्रभावक है। उसका त्यागपूर्ण तपस्वी जीवन आकर्षण का केन्द्र रहा है। अतः चन्द्रगुप्त नाटक में नायिका के उच्चपद पर अलका को सहर्ष बैठाया जा सकता है।

: ९ :

चन्द्रगुप्त : संवाद योजना

"संवाद या कथोपकथन ही एक ऐसा माध्यम है जिसके आधार पर नाटक नाटक सिद्ध होता है; अन्यथा उपन्यास, कहानी, कविता आदि साहित्यिक विधाओं में तो उपन्यासकार, कहानीकार व कवि आदि को प्रत्यक्ष रूप से कुछ-न-कुछ अथवा सब कुछ कहने का अवसर मिलता है, नाटककार को अपने कथोपकथनों के आधार पर ही परोक्ष रूप में संकेत कर देने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में नाटक के संवाद असिधार के समान ऐसे तीक्ष्ण होने चाहिए जो प्रयोग करते ही अपनी लक्ष्य-सिद्धि कर सकें। उनमें शिथिलता के कारण कथानक में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए। सफल संवाद वही कहा जाता है जो चरित्र-चित्रण में पूर्ण सहयोग प्रदान करे।" प्रसाद के संवादों में दोदों गुण कूट-कूट कर भरे हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक से ध्रुवस्वामिनी का यह कथन, 'ओह, तो मेरा कोई रक्षक नही। नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नही हूं। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है, उसकी रक्षा मैं ही करूँगी" कथावस्तु को आगे बढ़ाने के साथ ही उसकी चारित्रिक विशेषता क्षत्रियत्व को भी प्रकट कर रहा है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के संवादों में गुम्फन और सारगर्भिता आदि गुण भी देखने को मिलते हैं। 'अजातशत्रु' नाटक में नायक अजातशत्रु के इन शब्दों में—"राजकर मैं न दूँगा। यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गई। काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है। तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं बनाया।" इससे उसकी चारित्रिक कठोरता, उग्रता और उद्धत स्वभाव तो प्रकट होता ही है, साथ ही, काशी के शासन की अस्त-व्यस्तता भी प्रकट होती है। अतः कहा जा सकता है कि प्रसाद के संवाद साभिप्राय रहने हैं।

संवादों को व्यावहारिक, रंगमंच के अनुकूल बनाने के लिए उनमें संक्षिप्तता का गुण होना भी आवश्यक होता है। लम्बे संवादों में नाटक की व्यावहारिकता समाप्त हो जाती है। प्रसाद के संवादों में इस गुण के उल्लेखन का दोष लगाया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि तर्क-वितर्क अथवा सिद्धान्त-समर्थन में प्रसाद के पात्र अपनी प्रवृत्ति को संयमित नहीं कर सके हैं। जैसे 'स्कन्दगुप्त' के चतुर्थ अंक में ब्राह्मण-श्रमण का संघर्ष, 'चन्द्रगुप्त' में युद्ध परिषद में हुआ वार्तालाप, 'जनमेजय का नागयज्ञ' का प्रथम दृश्य तथा अजातशत्रु नाटक का शक्तिमती-कारायण संवाद, इस प्रकार के दोष से परिपूर्ण दिखाई देते हैं; पर कहीं-कहीं जब यह विवाद अंशों में विभक्त होकर आता है तो क्रियाशीलता और नाटकीय विकास दोनों ही में प्रवाह बढ़ जाता है। प्रसाद की संवाद-योजना में दूसरा दोषपूर्ण प्रभाव पड़ा है उनकी भावुकता का। पात्रों की भावुक प्रवृत्ति के कारण कथनों में जो दीर्घता आती है वह रंगमंच की दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती है। ऐसे अनेक स्थल 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' इन तीनों प्रमुख नाटकों में देखने को मिलते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर जब कवित्व उफनने लगता है तब तो भावों की बाढ़-सी आ जाती है। जैसे 'स्कन्दगुप्त' में जब भानुगुप्त और मुद्गल कविता के पीछे पड़ गये हैं।

दोष की ये प्रवृत्तियाँ होते हुए भी प्रसाद के संवाद विषय-संगत और परिस्थिति के अनुकूल ही कहे जाने चाहियें। जब वीररस का चित्रण होता है तब संवादों में आवेश और उत्कर्ष से भरा हुआ उत्साह सभी को आकर्षित करता है। प्रेम-प्रसंग छिड़ने में संवादों का माधुर्य और मंदगति लुभावनी प्रतीत होती है। तेजस्वितापूर्ण संवाद 'स्कन्दगुप्त' नाटक में 'गांधार की घाटी', व 'कुभा के रणक्षेत्र' में और 'मालव की राज्यसभा' में दिखाई देते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक में ग्रीक शिविर में हुए सिकन्दर के साथ चन्द्रगुप्त का वार्तालाप आता है। प्रेमपूर्ण और भावुकता प्रधान संवाद तो 'स्कन्दगुप्त' के तृतीय अंक में उपवन में तथा अन्तिम दृश्य में एवं 'चन्द्रगुप्त' के कई दृश्यों में देखने को मिल जाते हैं।

संवादों में जब कार्यगति को प्रेरणा मिल जाती है तो वे संवाद नाटक की दृष्टि में अच्छे माने जाते हैं, क्योंकि किसी कार्य में प्रवृत्ति कराने वाले संवादों में

परिणामी सक्रियता देखने को मिलती है। प्रसाद के सभी नाटकों में इस प्रकार के प्रेरक संवाद बहुत देखने को मिलते हैं। इस प्रकार के संवाद की हीनता होने पर निश्चित ही कथावस्तु विश्रृंखलित दिखाई देती है। उपदेश या वितर्क के रूप में रक्खे गये संवादों से नाटकीय प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकों में एकांतिकता नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर विषय वस्तु संकीर्ण होकर केन्द्रित हो जाती है। ऐसे संवाद भी प्रसाद के नाटकों में मिलते हैं। संवादों में काव्य का प्रयोग तो प्राचीन भारतीय नाटकों से ही मिलता है, पर प्रसाद जी ने ज्यों की त्यों यह पद्धति नहीं अपना ली है, उनमें पारसी नाटकों के संवादों का भी प्रभाव मिलता है। कहीं-कहीं भावों के वेग को अथवा विषय में ओज और उत्साह भरने के लिए संवादों में थोड़ी-बहुत काव्य की पंक्तियाँ मिल ही जाती हैं। प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में काव्यमय संवादों की अधिकता रही है, पर शनैः शनैः नाट्यकला के साथ-साथ यह प्रवृत्ति भी लुप्त होती गई है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' में काव्यगत संवादों की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'चन्द्रगुप्त' में हूण आक्रमण की त्राहि-त्राहि भी काव्यमय ही है पर चन्द्रगुप्त नाटक में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है।

छोटे-छोटे स्वगत-भाषण, जो परिस्थिति का द्योतन करने में समर्थ हैं, नाटकीय सक्रियता ही उत्पन्न करते हैं। स्वगत-कथन का प्रयोग जब मंच का एकाकी पात्र ही करता है तब कुछ स्वाभाविकता रहती है। दूसरे पात्र की उपस्थिति में जब यह स्वगत भाषण पढ़े जाते हैं, तो उनमें संगति देखने को नहीं मिलती। इनके प्रयोग की दृष्टि से भी प्रसाद जी पर छींटा-कशी होती है कि प्रसाद के स्वगत-कथन उपदेश की प्रवृत्ति, भाषण-प्रवृत्ति एवं दीर्घता लिए होने के कारण रंगमंचीय अस्वाभाविकता लेकर प्रयुक्त हुए हैं, पर यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं है; क्योंकि, कुछ स्वगत-कथन तो इस कोटि में आते हैं, शेष तो परिस्थिति, पात्र और अभिनेयता की दृष्टि से पूर्णरूपेण अनुकूल ही दिखाई देते हैं। उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि प्रसाद के संवादों पर अस्वाभाविकता का दोष सर्वथा मिथ्या है, किंचित् परिष्कार के पश्चात् वे अभिनेयता में पूर्ण उपयोगी सिद्ध होंगे।

अब हम प्रसाद के प्रमुख नाटकों को प्रकाश में लाते हुए 'चन्द्रगुप्त' नाटक

के संवादों का विवेचन करेंगे। मोटे तौर पर संवादों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—कथावस्तु प्रकाशक कथोपकथन, चरित्र प्रकाशक कथोपकथन और तुरन्त बुद्धि प्रकाशक कथापकथन। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आधार पर इन्हीं तीनों प्रकार के कथोपकथनों का विश्लेषण करेंगे—

(१) **कथावस्तु प्रकाशक कथोपकथन**—ऐसे कथोपकथन नाटक की कथा और विकास की सामान्य गतिविधि का परिचय देते हैं। ऐसे कथनों के आधार पर ही कथावस्तु व्यवस्थित होती है। ये ही उसे आगे बढ़ाते हैं। ऐसे कथोपकथन शृंखला की कड़ियों की भाँति एक दूसरे से गुम्फित दिखाई देते हैं। एक कड़ी समाप्त नहीं हो पाई तब तक दूसरी का सूत्र मिल गया। इस प्रकार के कथन नाट्य रचना में बड़ा कार्य करते हैं। इन कथनों में इनकी संक्षिप्तता तो इनका गुण रहता ही है पर विवरणात्मक संकेतों की उपलब्धि भी इनके द्वारा होती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में हुआ चाणक्य और सिंहरण का कथोपकथन इसी कोटि का है। इस कथोपकथन से तत्कालीन राजनैतिक स्थिति और विद्यार्थी जीवन की झलक तो मिलती है, साथ ही नाटक की भविष्य की योजना भी संकेतित होती है। देखिए—

चाणक्य—'केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था।

सिंहरण—'आर्य ! मालवों को अर्थ शास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अर्थंशास्त्र की।'

चाणक्य—'अच्छा अब तुम मालव जाकर क्या करोगे ?'

सिंहरण—'अभी तो मालव ही नहीं जाता। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।'

चाणक्य—'मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ आए हैं ?'

सिंहरण—'मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा।'

इस संक्षिप्त वार्तालाप में भावी गतिविधि का पूर्ण संकेत मिलता है। इस नाटक का प्रमुख रस वीर ही है। अतः प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही आम्भीक

सिहरण, चन्द्रगुप्त और चाणक्य के कथोपकथनों में पूर्ण दर्प, गर्व और उत्साह देखने को मिलता है। इस प्रकार 'स्कन्दगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य का कथोपकथन जो स्कन्दगुप्त और पर्णदत्त में हुआ है, इसी कोटि का है। इसके द्वारा भी गुप्त साम्राज्य की परिस्थिति का परिचय मिलता है।

(२) **चरित्र प्रकाशक कथोपकथन**—ऐसे कथोपकथनों से पात्रों का आन्तरिक परिचय, उनका अन्तर्द्वन्द्व और विशिष्ट कार्य योजना का परिचय मिलता है। एतद् सम्बन्धी यदि पात्रों का स्वभाव प्रेक्षक समझ सकें तो ऐसे वार्तालाप को सार्थक ही समझना चाहिए। चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में सिंहरण और आम्भीक का संवाद एक दूसरे की चारित्रिक विशिष्टता को प्रकट करता है हमें आम्भीक की देशद्रोही प्रवृत्ति, सिंहरण की निर्भीकता, चाणक्य का ब्राह्मणत्व इन्ही संवादों के द्वारा जानने को मिलता हैं। इसी अंक के छठे दृश्य में भी सिंहरण और यवन का वार्तालाप उन दोनों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करता है। गांधार नरेश और अलका का वार्तालाप उन दोनों की मनोवृत्ति को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर का वार्तालाप उन दोनों के चरित्र-चित्रण में पूर्ण सहायक होता है। इस कथोपकथन में प्रारम्भिक वाक्यों में सिकन्दर को प्रलोभन देने वाली नीति और चन्द्रगुप्त की अनुपम निर्भीकता और साहस प्रकट होता है।

(३) **तुरन्त बुद्धि प्रकाशक कथोपकथन**—वार्तालाप के मध्य में ही आई हुई ऐसी उक्तियाँ जो पात्र की प्रत्युत्पन्न मतित्व प्रकट करती हैं, इसी प्रकार के कथोपकथनों में आती हैं। ऐसी उक्तियों में नाटककार की कुशलता ही प्रकट होती है। ऐसे वार्तालाप में पात्रों की चारित्रिक विशेषता तो प्रकट नहीं होती, हाँ उनकी सूझ-बूझ का दर्शन तो हो ही जाता है। ऐसी उक्तियों का प्रमुख कार्य यह होता है कि वे दर्शकों में उत्सुकता बढ़ाती हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम दृश्य में ही ऐसा उदाहरण मिल जाता है। जब गांधार कुमारी अलका सिंहरण की निर्भीकता से प्रभावित होती हुई क्रोधाभिभूत अपने भाई आम्भीक को कहती है —"भाई, इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना बलवान वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहरणीय है। जाने दो। इस

प्रकार यद्यपि आम्भीक उसको डाँट ही देता है, पर नाटककार ने सिंहरण के प्रति उसका आकर्षण दिखा ही दिया है। इसी प्रकार वही सिंहरण और अलका के एकान्त मिलन में भी हुए वार्तालाप में प्रत्युत्पन्न- मतित्व के गुण देखने को मिलते हैं। इसी तरह का द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य का कार्नेलिया व फिलिप्स का कथोपकथन भी है। फिलिप्स कार्नेलिया से कहता है—

"कुमारी, न जाने फिर कब दर्शन हों, इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।" इस असम्भावित प्रश्न के उत्तर में कार्नेलिया कहती है—"तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स।" फिलिप्स —प्राण देकर भी नहीं कुमारी! परन्तु प्रेम अन्धा होता है।" कार्नेलिया— तुम अपने अन्धेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स।" इसी प्रकार पर्वतेश्वर के साथ हुए अलका के वार्तालाप में उसकी तुरन्त बुद्धि का ही परिचय मिलता है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के कथोपकथनों पर कवित्वपूर्णता, दार्शनिक स्पर्श, बौद्धिकता एवं लम्बे स्वगत कथनों का रंगमंच की दृष्टि से दोष लगाया जाता है और इसमें उत्तरदायी ठहराया जाता है। प्रसाद के रंगमंचीय अज्ञान पर मेरी दृष्टि से इस प्रकार का दोष लगाना ही एक बहुत बड़ा दोष है, क्योंकि प्रसाद का रंगमंचीय ज्ञान तो अनेक स्थानों पर प्रकट हुआ है। उन्होंने अपनी 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में रंगमंच के विषय में कितना शोधपूर्ण लेख लिखा है। ऐसे विद्वान् पर रंगमंचीय अज्ञान का आरोप लगाना ठीक नहीं है। कुछ स्वगत-भाषणों के विषय में ऐसा कहा जा सकता है पर उनको तो निर्देशक की सहायता से संक्षिप्त किया जा सकता है। उनकी भी अपनी विशेषता यह है कि वे भी परिस्थिति एवं पात्रों की मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल ही हैं। द्वितीय अंक के सातवें दृश्य में संवाद बड़े हैं पर वे युद्ध परिषद् के प्रसंग में होने के कारण अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते क्योंकि उस समय तो अपना पक्ष समर्थन करना ही पड़ता है और फिर जब शेक्सपीयर के 'जूलियस सीजर' नाटक में एन्टोनियो की स्पीच अस्वाभाविक नहीं हो सकती तो चाणक्य जैसे कुशल राजनीतिज्ञ के मुख का भाषण कैसे अस्वास्थ्यकारी एवं अस्वाभाविक सिद्ध हो सकेगा। शकटार की लम्बी दुःखपूर्ण कहानी के कथन में भी यही दोष

लगता है, पर वहाँ पर भी परिस्थिति कुछ और है, पता नहीं उसके हृदय में कितनी उमंग विद्यमान है और कब से वह नहीं बोल सका है, पर यह निश्चित है कि अभिनय के समय दर्शकों की दृष्टि इन छोटी-छोटी बातों पर, कि इतने दिन का भूखा यह इतना कैसे बोल सकता है, अथवा उसकी स्मृति अब भी इतनी प्रबल कैसे हो सकती है, नहीं जायेगी वरन् उसकी दुःखद अवस्था पर करुणा ही उत्पन्न होगी ?

इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त नाटक में कथोपकथन की परिस्थिति से साम्य रखते हैं—जहाँ राजनैतिक उथल-पुथल है वहाँ के कथोपकथन उत्साह से परिपूर्ण है, पर जहाँ प्रेम-व्यापार चलता है वहाँ शब्दों में स्वाभाविक कोमलता, स्निग्धता एवं भावों की प्रबलता देखने को मिलती हैं। इनमें व्यावहारिकता का गुण निहित है। पात्रों की स्थिति एव मर्यादा का भी संवादों में निर्वाह हुआ है। पूर्व प्रसंग के अवरोधक संवाद को रोककर अन्य प्रसङ्गों के संबाद का प्रारम्भ कथावस्तु और वातावरण में चमत्कार उत्पन्न करता है जैसे सिंहरण के कहते-कहते ही आम्भीक का सहसा प्रवेश करके यह कहना कि 'युवक तुम कौन हो ?' इसी प्रकार राक्षस के कहते-कहते ही राजदरबार में चाणक्य का सहसा प्रवेश करके यह कहना—"परन्तु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघविहार के लिए उपयुक्त हो," आश्चर्य और भविष्य के कौतूहल को उत्पन्न करता है। इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की संवाद-योजना और उसी दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' सफल नाटक सिद्ध हुआ है।

: १० :

चन्द्रगुप्त : देशकाल-चित्रण

प्रसाद के नाटकों में भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग का चित्रण है। उस काल की संस्कृति और सभ्यता का चित्रण करने में प्रसाद जी सफल चितेरे कहे जा सकते हैं। सांस्कृतिक चित्रण से तात्पर्य केवल आध्यात्मिक, सामाजिक और धार्मिक चित्रण से ही नहीं है वरन् उस काल के व्यक्तियों का सामूहिक और व्यक्तिगत व्यापारों और विचारों का चित्रण करना भी उसमें सम्मिलित रहता है पर नाटकों में उपन्यासों की भाँति विस्तृत क्षेत्र नहीं होता जिसमें कि नाटककार विवरणात्मक ढंग से सम्पूर्ण घटनाओं का विस्तृत उल्लेख कर सके। नाटकों से तो लघु-स्थल होने के कारण नाटककार की ओर से स्थान-स्थान पर संकेत-भर होता चलता है पर वातावरण-चित्रण के कारण एवं उसके अभिनय से स्वतः ही तात्कालिकता और तत्देशिकता मुखरित होने लगती है। प्रसाद जी के सभी नाटकों का भवन-निर्माण इतिहास की आधार भूमि पर है अतः पात्र भी आपने अधिकांशतः इतिहास-प्रसिद्ध ही लिए हैं। कुछ पात्र ऐसे अवश्य हैं जो कल्पना-प्रसूत हैं, पर ऐतिहासिक आवरण के कारण वे कृत्रिम से प्रतीत नहीं होते। इसी प्रकार अधिकांश घटनाएँ ऐतिहासिक ही हैं पर उनका विधान कल्पना के सामंजस्य से ऐतिहासिक बनाया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रसाद का चरित्र-चित्रण और वातावरण-निर्माण कालानुरूप और स्थानानुसार हुआ है जिन चरित्रों ने अपने-अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है उन्हीं को प्रसाद जी ने अपने नाटक का नायक बनाया है अथवा उनकी चारित्रिक भव्यता के अनुकूल ही नाटकों में उन्हें स्थान प्रदान किया है। ऐसे पात्र हैं—बुद्ध, व्यास, चाणक्य आदि। दूसरे प्रकार के ऐतिहासिक पात्र वे हैं जो जीवन भर संघर्ष से जूझकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हुए समाज और राष्ट्र की रक्षा के निमित्त युद्ध, विद्रोह और

क्रांति में सम्मिलित होते हैं—जैसे चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, प्रसेनजित्, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि ।

उनके प्रत्येक नाटक में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों की अच्छी झाँकी देखने को मिलती है । जैसे 'अजातशत्रु' नाटक में ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म का संघर्ष, 'स्कन्दगुप्त' में उत्तराधिकारी अधिनियम की हिन्दू संस्कृति के अनुरूप व्याख्या, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में उस काल की धार्मिक स्थिति की सफल अभिव्यक्ति हुई है । ऐतिहासिक घटनाएँ कल्पना के सहारे चित्रित हुई हैं, पर वे अपना मूल सर्वत्र सुरक्षित रखती हैं । यहाँ तक प्रसाद के नाटकों में सामान्य विवेचन होने के पश्चात् अब हमें 'चन्द्रगुप्त' नाटक में उस काल की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों का तत्कालीन स्वरूप निर्धारित करना है ।

राजनैतिक स्थिति—'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी मौर्यकाल को चित्रित करने में संलग्न रहे हैं । यह काल ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व का है । उस समय के सिकन्दर और सिल्यूकस के विदेशी आक्रमण का इस नाटक में चित्रण किया है । इस आक्रमण का मुख्य कारण प्रसाद जी ने भारतीयों की पारस्परिक फूट, मानसिक संकीर्णता और राष्ट्रीय एकता का अज्ञान ही बताया है । पर्वतेश्वर का गान्धार नरेश और मगध दोनों से ही विरोध था इसलिए उन दोनों से सैन्य-सहायता न मिली । परिणामस्वरूप उसकी पराजय हुई । स्वतन्त्र गणतन्त्र थे, पर वे आपस में संघर्षरत थे । सम्पूर्ण देश को साम्राज्य के रूप में देखने की भावना उनकी नहीं थी । मगध का शासन स्वेच्छाचारी और विलासी हो गया था । उस काल में ऐसा नहीं था कि वीरता सुषुप्त और लुप्त ही पड़ी हो, पर उसका उपयोग सामूहिक हित के लिए नहीं होता था । व्यक्तिगत स्वार्थ और अपने देशबन्धु पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने की भावना से ही तो यवनों का स्वागत करता है । प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही प्रसाद जी ने राजनैतिक डांवाडोल स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है—"आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है । उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर हैं......दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही

है।" इसी अंक के पाँचवें दृश्य में चाणक्य के मुख से इस द्वेष की झलक प्रसाद जी ने पुनः कराई है—"यवन की विकटवाहिनी निषेध पर्वतमाला तक पहुँच गई है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसन्धि है। सम्भवतः समस्त आर्यावर्त पदाक्रांत होगा। उत्तरापथ में बहुत छोटे गणतन्त्र हैं, वे उस सम्मिलित पारसीक यवन बल को रोकने में असमर्थ होंगे।" उस काल में राष्ट्रीय भावना पर प्रान्तीयता का बोलबाला था। चन्द्रगुप्त जैसा शिक्षित युवक भी तो यही कहता है कि "हम मागध हैं और यह (सिंहरण) मालव!" राष्ट्र चेतना वाली अलका भी तो सिंहरण से कहती है—"तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है।" देश की यही संकीर्ण मनोवृत्ति ही तो सिकन्दर की विजय का कारण बनी। एकतन्त्र और प्रजातन्त्र की विचारधारा का उल्लेख भी नाटक में दो स्थानों पर हुआ है—एक तक्षशिला से लौटे हुए ब्रह्मचारी स्नातक के मुख से, दूसरे मालव परिषद् के अधिवेशन में। प्रथम का उल्लेख सम्भव है प्रजातन्त्रीय शासन के गुणों और नन्द के विलासी और स्वेच्छाचारी भावना के लिए ही किया गया है। देखिये—'गणतन्त्रों में प्रजा वन्य-वीरुध के समान स्वच्छन्द फल-फूल रही है। इधर उन्मत्त मगध साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है।"

'चन्द्रगुप्त' नाटक में दो राजाओं की शासन नीति का ही उल्लेख है, यद्यपि पर्वतेश्वर और गांधार नरेश इन दो राजाओं का भी वर्णन है। नाटक में नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य इन दोनों की शासन नीतियों के सम्बन्ध में संकेत मिलते हैं तथा दोनों सम्राटों के क्रमशः पतन और उत्थान के कारण रूप कथन भी नाटक में प्रयुक्त हैं। नन्द विलासी, आलसी, मद्यप और प्रजा के सुख-दुःख की चिंता न करने वाला राजा था और जो राजा जनता की चिंता नहीं करता, जनसमूह उसे पदच्युत कर देता है। जो राजा स्वयं यह कहे कि "नागरिकों पर तो मैं राज्य करता हूँ; परन्तु मेरी मगध की नागरिकाओं का शासन मेरे ऊपर है।" मगध राज्य की इसी विलासिता का ही चित्रण ब्रह्मचारी के इस कथन में है—"मगध को उन्माद हो गया है, वह जन साधारण के अधिकार अत्याचारियों के हाथ में देकर विलासिता का स्वप्न देख रहा है।" राजकुमार कल्याणी का कथन भी पुत्री होते हुए सम्राट् नन्द

की क्रूरता और नृशंसता का परिचय देता है—"महाराज के उद्यान में भी लतायें ऐसी हरी-भरी नहीं, जैसे राज आतंक से वे भी डरी हुई हों। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता, डरते भले ही हों..... प्रचण्ड शासन के कारण उसका बड़ा दुर्नाम है।"

राजा नन्द की धर्मनीति भी लचर-पचर, अस्थिर एवं अमर्यादित रूप में ही चित्रित है। तक्षशिला से शिक्षा समाप्त करके आये हुओं में से एक कहता है—"वह सिद्धान्तविहीन नृशंस (नन्द) कभी बौद्धों का पक्षपाती और कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर, दोनों में भेद-नीति चलाकर, बल संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है।" तात्पर्य यह है कि सम्राट् नन्द कूटनीति के बल पर ही राज्य संचालन कर रहा था और चारित्रिक योग्यता के आधार पर नहीं। मगध का साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तरी भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था, पर नन्द ने उसको जीर्ण-शीर्ण बना रखा था। चाणक्य के बुद्धि-कौशल ने उसका पुनर्गठन किया। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त की शासन नीति मर्यादित और जन-जीवन के अनुकूल रही है, त्याग उसके मूल में रहा है क्योंकि महान् तपस्वी और त्यागी चाणक्य ही उपदेष्टा था।

चन्द्रगुप्त नाटक उस काल की शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी की झलक भी हमारे सामने उपस्थित करता है। तक्षशिला गुरुकुल का चित्रण तो प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही आता है, पर विद्यार्थी और उनके विचारों का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। उस काल में आज के युग की-सी शिक्षा-पद्धति नहीं थी। जिस प्रकार आज शिक्षा का माध्यम एकमात्र धन हो गया है, उस काल में आर्थिक दृष्टि से असमर्थ विद्यार्थी भी उच्च शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ थे। चाणक्य भी तो एक ऐसा ही निर्धन छात्र था जिसने अध्यापन कार्य करके गुरु-दक्षिणा चुकाई थी। विद्यार्थी देश की स्थिति से अवगत रहा करते थे, आवश्यकता पड़ने पर देश के सक्रिय आन्दोलन में जुट जाते थे। सिंहरण और चन्द्रगुप्त इसी प्रकार के विद्यार्थी हैं। उस काल में विद्यार्थियों के लिए केवल पुस्तकों का अध्ययन शिक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता था। व्यावहारिक जीवन की शिक्षा का प्रबन्ध भी गुरुकुलों में किया जाता था।

सामाजिक स्थिति—चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल तक आते-आते बौद्ध

धर्म का प्रभाव और प्रसार भी भारत में हो चुका था। वैसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ही भारत में थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज की दृष्टि से सुव्यवस्था बनाए हुए थे। पर प्रायः बौद्ध धर्म के कुप्रभाव से इस विधान में शिथिलता आने लगी थी। परिणामस्वरूप ये चारों वर्ण अविश्वास और विद्वेष से भरने लगे थे। नन्द के राज्यकाल में यह दुष्परिणाम अपनी सीमा को पहुँच चुका था। क्षत्रिय आम्भीक चाणक्य-जैसे ब्राह्मण पर अविश्वास रखते हुए कहता है—'बोलो ब्राह्मण मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पल कर मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन!" तो उधर ब्राह्मणत्व के गर्व में चूर चाणक्य भी उत्तर देता है—"राजकुमार ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत पीकर जीता है।" अन्त में, ब्राह्मण चाणक्य ही आम्भीक को 'अविश्वासी क्षत्रिय' से सम्बोधित करता है। उधर नाटककार के अनुसार शूद्र नन्द स्पष्ट रूप से ब्राह्मणों का विरोध करता है। तभी तो ब्राह्मण शकटार और चणक को अन्धकूप में चाणक्य, वररुचि, राक्षस को बन्दीगृह में डलवा देता है। क्षत्रिय शासक पर्वतेश्वर की राज्य सभा में भी ब्राह्मण चाणक्य का अपमान होता है। तभी तो वह अपना 'पद-दलित ब्राह्मणत्व' लेकर उसके राज्य में चला जाता है। क्षत्रिय-शूद्र के द्वेष का संकेत भी नाटक में मिलता है। प्राच्य देश के बौद्ध राजा नन्द को शूद्र समझ कर ही तो क्षत्रियाभिमानी पर्वतेश्वर उसकी कन्या को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार क्षत्रिय राजा पर्वतेश्वर का जातीय अभिमान और शूद्र राजा नन्द का व्यक्तिगत अभिमान राष्ट्र को नीचा दिखाने में सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार 'चन्द्रगुप्त' नाटक में उस काल की सामाजिक व्यवस्था बड़ी ही उच्छृंखल दिखाई देती है। उस काल में विवाह आदि के सम्बन्ध में कुल-मर्यादा की बहुत बड़ी महत्ता थी। कायरता और वीरता की भावना व्यक्ति के निरादर और आदर का कारण बनती थी। यही कारण था कि पर्वतेश्वर ने अपनी भगिनी का विवाह कायर आम्भीक से नहीं किया था। इन्हीं दुर्बलताओं के कारण व्यक्तिगत बैर राष्ट्रीयता को अपने पंजों में दबोचे रहता था। उस काल में स्त्रियाँ भी परोक्ष रूप में और प्रत्यक्ष रूप में युद्ध में सहयोग देती थीं। विजयी होने पर राजा का राजधानी में स्वागत होता था।

धार्मिक स्थिति—इस नाटक में बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म का चित्रण हुआ है पर इन दोनों के तात्कालिक स्वरूप में बहुत अन्तर आ गया था। दोनों ही अपने मूल तत्वों का परित्याग करके एक-दूसरे के विरोध में खड़े थे और इस विरोध में सहयोग देता था राज्याश्रय। बौद्ध धर्म का अनुयायी होने के पश्चात् राक्षस उस शिक्षा केन्द्र तक्षशिला को जिसमें उसने स्वयं शिक्षा पायी होगी, व्यर्थ बताते हुए कहता है—"केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है।" तो दूसरी ओर विरोधी ब्राह्मण चाणक्य उत्तर में कहता है—"परन्तु बौद्ध धर्म की शिक्षा मान और व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती। भले ही वह संघ विहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।" इस प्रकार यह धार्मिक संघर्ष चलता रहा, जिसका लाभ राजा नन्द और आक्रमणकारियों को होता रहा। इस धार्मिक संघर्ष में ब्राह्मण धर्म का पक्षपाती तक्षशिला का गुरुकुल स्रोत का कार्य करता था। इतना होते हुए भी संस्कार-पद्धतियाँ वैदिक धर्म के आधार पर ही होती थीं, जैसे विवाह संस्कार आदि। शिविर में अलका और सिंहरण का विवाह इसी प्रकार सम्पन्न हुआ। इस काल में पुरोहित आदि की मान्यता विद्यमान थी। वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त नाटक में साहित्य, संगीत और व्याकरण की अध्ययन सम्बन्धी सूचनायें संकेत रूप में मिल जाती हैं।

: ११ :

चन्द्रगुप्त : राष्ट्रीयता की भावना

साहित्यकार युग दृष्टा एवं युग सृष्टा होता है। समय की आवश्यकता को समझ कर तदनुरूप अपनी लेखिनी का उपयोग करना प्रसाद जी जैसे सजग साहित्यकार की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल था। प्रसाद जी ने अनुभव किया था कि भारत दिनानुदिन अधिक पंगु होता जा रहा है। कारण यह कि विदेशी सरकार ने दीर्घकाल तक भारत पर शासन करने के उद्देश्य से यहाँ की जनता को मानसिक दृष्टि से रुग्ण और हीनता की भावना से ग्रस्त रखने का निश्चय कर रखा था ताकि जनमानस जागृत होकर आजादी की माँग न करें। प्रसाद जी ने इस तथ्य को समझा कि राष्ट्रीयता की भावना का विकास करके ही अंग्रेज जैसे खूंखार शत्रु से आजादी प्राप्त की जा सकती है। यही कारण है कि उन्होंने अपने सभी नाटकों में राष्ट्रीयता की भावना के उन्मेष के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किये। किन्तु प्रसाद की राष्ट्रीय भावना एक विशेष कोटि की है। दूसरे शब्दों में उनकी राष्ट्रीयता का विवेचन करते समय हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वे ऐतिहासिक नाटककार हैं और ऐतिहासिक नाटककार इतिहास की सर्वथा उपेक्षा कैसे कर सकता है। यदि वह ऐसा करेगा तो अनेक सैद्धान्तिक दोष स्वतः उठ खड़े होंगे। यही कारण है कि व्यापक राष्ट्रीय भावना के समर्थक होते हुए भी प्रसाद जी ने राष्ट्रीयता के पुराने और संकीर्ण विचारों को भी यथास्थान अभिव्यक्ति दी है। ऐसे स्थलों को देखकर हमें प्रसाद की राष्ट्रीय भावना पर संदेह नहीं करना चाहिए बल्कि ऐतिहासिक नाटककार की सीमा समझकर उसे प्रासंगिक अभिव्यक्ति मान लेना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रसाद ने जिस युग को अपने नाटकों का विषय बनाया है उस युग में राष्ट्रीयता की भावना प्रान्तीयता

की भावना तक ही सीमित थी। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त, अलका आदि जैसे सजग पात्र भी प्रान्तीयता की भावना से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। चन्द्रगुप्त कहता है—

"आर्य हम मागध हैं और यह मालव।"

अलका प्रान्तीयता की भावना से आक्रांत है—

"गणतन्त्र में सब प्रजा वन्यवीरुध के समान फल फूल रही है। इधर उन्मत्त मगध साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है।"

राष्ट्रीयता की भावना का संदेह साहित्यकार दो रूपों में दे सकता है—(१) जातीय अभिमान से मण्डित पूर्व पुरुषों की वीरता का गौरव गान कर तथा (२) वर्तमान परिस्थिति की हीनता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर उससे मुक्त होने की प्रेरणा देकर। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीयता की भावना जगाने के उद्देश्य से इन दोनों पद्धतियों का उपयोग हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' के स्त्री एवं पुरुष दोनों ही श्रेणियों के पात्र देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत हैं। चन्द्रगुप्त, अलका और सिंहरण जिस प्रकार निजी सुख-सुविधाओं का त्याग कर राष्ट्रीय हित में लगे रहते हैं, वह वास्तव में उत्कृष्टतम है। प्रसाद की लेखिनी से निःसृत राष्ट्रीयता की अजस्रधारा ने तत्कालीन विद्वानों को भी आकृष्ट किया था। तभी एक विद्वान ने कहा था—

"नैराश्यपूर्ण वर्तमान और भविष्य में प्रसाद जी के आशावादी नाटक राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर करने के अनुपम साधन हैं। इस रूप में इनका महत्व किसी राष्ट्रीय नेता से कम नहीं। नाटककार प्रसाद की अन्यतम विशेषता यही है कि उनके नाटक साहित्यिक दृष्टि से जितने उपादेय है, राष्ट्रीय भावना को उन्मेय करने में भी वे इतने सफल हैं।

राष्ट्रीयता की भावना के उन्मेष के लिए सर्वप्रमुख चीज यह है कि देश के गौरवमय अतीत के प्रति जनता में आकर्षण पैदा किया जाय। प्रसाद जी ने इस कार्य को बड़ी दक्षता पूर्वक किया है। उन्होंने अपने नाटकों की कथावस्तु का चयन भारतीय इतिहास के गौरवमय अतीत से किया है। इस उद्देश्य से

उन्होंने वैदिक काल से लेकर बारहवीं शती तक के भारतीय इतिहास का मनोयोग पूर्वक अध्ययन मनन और आलोड़न किया। 'करुणालय' में वैदिक काल का, 'सज्जन' में महाभारत काल का, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में उपनिषदकाल का 'अजातशत्रु' में बौद्ध काल का, विशाख में बौद्धों के पतन काल का, 'चन्द्रगुप्त' में यूनानियों के आक्रमण काल का, 'स्कंदगुप्त' में हूणविद्रोह काल का, 'राज्यश्री' में हर्षकाल का तथा 'प्रायश्चित्त' में जयचन्द काल का ऐतिहासिक अवलम्ब लेकर कथावस्तु निर्मित की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद का समग्र नाटक-साहित्य ही राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत है। फिर भी 'चन्द्रगुप्त' में व्यक्त राष्ट्रीयता की भावना अधिक सशक्त है।

डा० दशरथ ओझा ने उचित ही कहा है—

"प्रसाद जी जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रकट होता है। प्रसाद जी भारत के प्राचीन गौरव का गान करने वाले, राष्ट्रीयता के चटक रंग में रंगे ऐसे कुशल नाटककार हैं, जिन्होंने भारतीय इतिहास के उस उन्नत हिन्दू काल की प्रमुख घटनाओं को अपने ग्रन्थों के लिए चुना है जिस पर आज कोई भी देश गौरव कर सकता है।" इस नाटक में तत्कालीन इतिहास को राष्ट्रीयता के ढांचे में ढालने का सफल प्रयत्न किया गया है। उस समय का भारत व्यक्तिगत वैमनस्य का भार था, जबकि "आर्यावर्त का इतिहास लिखने के लिए कुचक्र और प्रताड़ना की लेखिनी और मसि प्रस्तुत हो रही थी "और" उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर" थे, संभवतः समस्त आर्यावर्त पदाक्रांत होने वाला था। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतन्त्र थे जो 'सम्मिलित यवनबल को रोकने में असमर्थ' थे। सारांश यह कि उचित नेतृत्व और स्वस्थ भावना के अभाव में देश की राष्ट्रीयता की प्रेरणा देने वाला तथा छिन्न-भिन्न हुई इस राष्ट्रीय शक्ति को एकत्रित करने वाले किसी महामानव या प्रभावशाली व्यक्ति की आवश्यकता थी। आचार्य चाणक्य ने अभी आवश्यकता की पूर्ति 'चन्द्रगुप्त' नाटक में की है। प्रसाद ने चाणक्य के माध्यम से देश के प्रति अपनी समग्र श्रद्धा भावना को उड़ेल दिया है। आचार्य चाणक्य अपने शिष्यों को इसी व्यापक राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाते हैं—

"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न, परन्तु आत्मसम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।" देश में कुछ अंभीक जैसे गद्दार भी होते हैं किन्तु सिंहरण जैसे वीर की कमी भी नहीं होती। अलका कहती है—

आर्यावर्त के सब बच्चे अंभीक जैसे नहीं, वे इसकी मान प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कर जायेंगे। अलका का यह विश्वास निराधार नहीं क्योंकि उसे सिंहरण जैसे वीर पुरुष की निम्न उक्ति पर विश्वास है—

"परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त है।... गांधार आर्यावर्त से भिन्न नहीं है, इसलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।" इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटककार ने तत्कालीन इतिहास का सहारा लेकर 'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय-भावना के उन्मेष में एक गति दी अतीत की घटनाओं द्वारा वर्तमान के लिए राष्ट्रीयता का अमर सन्देश दिया है जो 'चन्द्रगुप्त' के एक-एक पात्र के जीवन और उसे उनके कार्यों से स्पष्ट है। यदि हम चाणक्य और अलका इन पात्रों की उक्तियों पर ध्यान दें तो उक्त तथ्यों की पुष्टि होगी। चाणक्य का चित्रण नाटककार ने राष्ट्रनायक के रूप में किया है। वह दूरदर्शी राजनीतिज्ञ है। वह समझ जाते हैं कि—"अब केवल परिणति से काम नहीं चलेगा। अर्थशास्त्र और दण्डनीति की आवश्यकता है। हर सच्चे राष्ट्र सेवक की भाँति उसे भी क्षोभ है कि—

"कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है। क्या इसलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था। ...यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों का भेद न रखेंगे। राष्ट्र जब शत्रुओं के आक्रमण के खतरे से गुजर रहा हो, तो उस समय अलका जैसी राष्ट्र-सेविका का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अलका कितनी सजग है, यह निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

'तक्षशिला के वीर नागरिको ! एक बार अभी-अभी सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था, आर्यावर्त-प्यारा देश-ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः

पददलित होने जा रहा है, तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों में देखेगा। राजा कायर है और तुम ?" राष्ट्र के नौजवान सपूतों को सम्बोधित कर अलका कहती है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।

असंख्या कीर्ति—रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाहसी,
सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी
अराति सैन्य सिन्धु में—सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

प्रस्तुत गीत की एक-एक पंक्तियाँ देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत हैं। नाटककार ने अलका के माध्यम से अपने उस हृदय के उद्‌गार को शब्द प्रदान किया है जो सदा सर्वदा यही चाहता है कि देश सुखी और "मृद्ध बने। अलका के निम्न शब्द—

"राज्य किसी का नहीं है। वह अनुशासन का है—भाई, तक्षशिला तुम्हारी नहीं और हमारी भी नहीं है। तक्षशिला आर्यावर्त का एक भू-भाग है, वह आर्यावर्त का होकर रहे, इसके लिए मर मिटो।" यह सिद्ध करते हैं कि प्रसाद जी राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानते थे।

पराधीन जनमानस में शक्ति-संचार के लिए प्रसाद जी ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में जातीय अभिमान की अभिव्यक्ति भी बड़े प्रभावशाली ढंग से की है। किये गए उपकार का बदला चुकाना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है।

तभी चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को वन्दी नहीं बनाता । वह कहता है—

"यवन सेनापति ! आर्य कृतघ्न नहीं होते । आपको सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देना ही मेरा कार्य था ।" भारतीय गुणग्राही होते हैं । चाणक्य सिकन्दर से कहते हैं—

"तुम वीर हो सिकन्दर ? भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं ।" प्रसाद जी ने विदेशी पात्रों के मुख से भी भारतीय गौरव का कथन कराया है। कार्नेलिया का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' शीर्षक गीत अत्यंत मार्मिक है । सिकन्दर कहता है—

"आर्यवीर ! मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचलिस्त की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को ।"

इस प्रकार सिद्ध है कि 'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय-भावना की प्रभावशाली अभिव्यक्ति हुई है ।

: १२ :

चंद्रगुप्त : अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र

जब व्यक्ति का स्वार्थ 'स्व' की सीमा को तोड़ राष्ट्र या देश की सीमा से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है अथवा जब उसके लिए एक के स्थान पर सम्पूर्ण देश ही लक्ष्य में आ जाता है तब वही भावना विशेष राष्ट्र भावना या राष्ट्रीयता कहलाती है। १९ वीं शताब्दी के मध्य भाग से भारतवर्ष में समाज सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन आरम्भ हो गये थे। इस सम्बन्ध में ब्रह्म-समाज, थियोफिकल सोसाइटी एवं आर्यसमाज के नाम उल्लेखनीय हैं। विचार-वान् व्यक्तियों में यह धारणा निश्चित हो गई थी कि देश में जागरण की क्रान्ति लाने के लिए राष्ट्रीयता की भावना आवश्यक है। कांग्रेस की स्थापना इसी समय की राजनीतिक क्रान्ति की सूचक है। साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों ने भी सरकार की दमन नीति के विरोध में राष्ट्रीयता का ही शंख फूँका। सन् १९२१ के बाद गांधी जी के हाथों में कांग्रेस का नेतृत्व आया, तभी से स्वराज्य की भावना जागरूक होकर आगे बढ़ने लगी। अत्याचारों को दबाने के लिए राष्ट्रीय भावना में मतवाले सत्याग्रहियों ने कमर कस ली। देश के साहित्यकार जो अब तक कविता रूप में ही राष्ट्रीय भावों की उद्भावना करते थे, वे ही अथवा अन्य जागरूक साहित्य-सृजक नाटकों के द्वारा भी उन्हीं भावों को व्यक्त करने लगे थे। 'जख्मी पंजाब' नामक नाटक ऐसे ही भावों का प्रतीक है। इस प्रकार जन्मभूमि के प्रति सच्ची चाह और उसे पूर्ण स्वतन्त्र कराने की भावना नाटकों के माध्यम से जनता में अधिक फैली। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक राष्ट्रीयता के सच्चे प्रतीक हैं।

प्रारम्भ में प्रसाद जी ने सन् १९१०-१४ तक चार एकांकी नाटक लिखे। उनमें ऐतिहासिक प्रवृत्ति के अनुसार ही उन्होंने राष्ट्रीयता का पोषण किया

है। सन् १९२१ में प्रकाशित विशाख की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है— इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है क्योंकि हमारी गिरी अवस्था को उठाने के के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर और कोई उपयुक्त आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे सन्देह है।" स्कन्दगुप्त में पहुंचकर यह राष्ट्रीय भावना और अधिक निखरी है। उसके इतिहास वृत्त में नवीन भारत की राष्ट्र भावना साकार हो उठी है। पर 'चन्द्रगुप्त' तक आते-आते प्रसाद जी में राष्ट्रीय-चेतना का पूर्ण विकास दिखाई देने लगता है। उसकी विषय-वस्तु का आदि-अन्त एवं केन्द्र बिन्दु राष्ट्रीय भावना ही है। उनकी राष्ट्रीय भावना ने ही उनके आदर्श को उपस्थित किया है और कला का संस्पर्श पाकर अपना चरम उत्कर्ष इसी नाटक में पाया है। इस नाटक में भयंकर प्रतिहिंसा और विराट् त्याग दोनों का सुन्दर आदर्श पाया जाता है—'मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का काम लोगे तभी वह आत्मसम्मान मिलेगा।' वहीं पर सिंहरण के शब्दों में अखण्ड भारत के ऐक्य की कैसी अनुभूति होती है—'मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है, यहाँ क्या समग्र आर्यावर्त है।' | स्वतन्त्रता-आन्दोलन में राजनीतिज्ञों की प्रतिध्वनि चन्द्रगुप्त में स्पष्ट रूप में सुनने को मिलती है—'उठकर पुस्तक रख वीर! गुलामी की तोड़ो जन्जीर।' प्रसाद की राष्ट्रीय विचारधारा को नाटक में इस प्रकार संवेदित किया गया है।

चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद जी ने मर्मभेदक साधनों द्वारा राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने अतीत के गौरव को ऐसे भव्य रूप में चित्रित किया है कि मन उसी की दीप्तता में मुग्ध हो जाता है। स्वतः ही उसको पढ़कर राष्ट्रीय स्वाभिमान स्फूर्त होने लगता है इसके लिए उन्होंने इतिहास की वही घटनाएँ अपनाई हैं जो राष्ट्रीय स्फूर्ति प्रदायक हैं। वस्तुतः वर्तमान सदैव भूत का ही तो बेटा होता है और भूत से ही तो प्रेरणा ग्रहण करता है। कुछ आलोचक प्रसाद की इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति के ऊपर पलायनवादी मनोवृत्ति का दोष लगाते हैं। किन्तु यह धारणा निर्मूल है, क्योंकि यह वृत्ति दोष की सीमा में तभी जा सकती है जबकि कोई वर्त्तमान से पलायन

भूत या भविष्य की स्वर्णिम मरीचिकाग्रों के ग्रावरण में ग्रपने को ढकना चाहता हो। पर प्रसाद ने तो ग्रतीत को वर्तमान के प्रेरणा स्रोत के रूप में ही ग्रहण किया है। उनके इस चित्रण में तो वर्तमान ग्रौर भविष्य को स्वस्थ ग्रौर प्रगति विधायक रूप में चित्रित करने की योजना रही है। डा० सत्येन्द्र इस विषय में लिखते हैं—"इतिहास को प्राणवान् करके प्रसाद ने ग्राधुनिक युग के लिए विचार सामग्री दी; उसको दिशा-दर्शन कराया। समस्या नाटक उन्होंने नहीं लिखे पर समस्याग्रों से पीछे वे नहीं हटे। ऐसी कौन-सी सामयिक समस्या थी जो उनके नाटकों में शाश्वत मानवी समस्या के धरातल पर प्रस्तुत नहीं हुई हो।" उक्त कथन के ग्राधार पर कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त नाटक में वर्तमान राष्ट्रीयता सुदृढ़ ग्राधार भूमि पर जमी हुई है। इसके कथानक का मुख्य उद्देश्य भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना ही है। नाटक की नायिका ग्रलका ग्राधुनिक स्वातन्त्र्य-ग्रभियान की नेत्री के रूप में ही चित्रित हुई है। प्रसाद के प्रमुख ग्रालोचक डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है, 'उसके (ग्रलका के) देश-प्रेम में वर्तमान राजनीतिक ग्रान्दोलन का व्यवहारिक प्रतिनिधित्व दिखाई पड़ता है।' उसके द्वारा गाया गया 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' नामक प्रयाण गीत भारतीय जन ग्रान्दोलन की मूल भावना को व्यक्त करता है।

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक में पात्रों का ऐसा उदात्त चरित्र संगठित किया है कि उसको पढ़ते ही राष्ट्रीय स्वाभिमान सजग हो उठता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त, सिंहरण, ग्रलका ग्रादि पात्र इसी प्रकार के हैं। ये ऐसे ग्रादर्श पात्र हैं कि जिनमें देश-भक्ति कूट-कूटकर भरी है ग्रौर जिनका वैयक्तिक स्वार्थ राष्ट्र-स्वार्थ में पराभूत हो चुका है। राष्ट्र हित की सिद्धि के लिए ये ग्रपने जीवन को भी हथेली पर लिए फिरते हैं। तभी तो चन्द्रगुप्त 'मरण से भी ग्रधिक भयानक का ग्रालिंगन करने के लिए सदा तैयार होता है। कर्त्तव्यपरायण चाणक्य सदैव ग्रपने पथ पर ग्रडिग रहने के, साधन को प्रमुखता न देकर सिद्धि को ही ग्रपना ग्रन्तिम लक्ष्य मानता है। तभी तो वह स्वयं सुवासिनी के प्रति प्रेमांकुर रखते हुए भी ग्राकर्षित नहीं हो सका ग्रौर समय-समय पर राष्ट्रीय कर्त्तव्य की सिद्धि के लिए चन्द्रगुप्त को भी ऐसे झमेलों से सावधान

करता रहा है। सम्पूर्ण देश को इकाई मानते हुए राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत चाणक्य कहता है—'एक साथ दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है।' इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का कितना स्पष्ट चित्र उसके सामने है—"क्योंकि राष्ट्र का शुभ चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं, सच्चा ब्राह्मण तो वही है जो अपने-पराये की भावना से ऊपर उठ गया हो; देश-प्रेमियों के लिए जननी और जन्म-भूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती है।" चन्द्रगुप्त का यह कथन भी राष्ट्रीय स्वाभिमान से परिपुष्ट है—'आर्य ! संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।'

सिंहरण और अलका भारतीय संस्कृत के मूर्त रूप हैं ही। उनके उदारता सहिष्णुता, निर्भीकता, स्वार्थहीनता आदि गुण राष्ट्रीय सम्मान के ही द्योतक हैं। सिंहरण का गुरुकुल का प्रथम परिचय ही—'आर्य मालवों को अर्थ-शास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी अस्त्र-शस्त्र की',वीरत्व की भावना को द्योतित करता है। घायल सिकन्दर पर कब क्रुद्ध मालव सैनिक टूट पड़ने को आतुर हो उठते हैं। उस समय सिंहरण पर्वतेश्वर के प्रति किए हुए उपकार को सोचकर उसके प्राणों की रक्षा कर,राष्ट्रीय ऋण का भुगतान करता है। अलका तो अपने भाई और पिता से भी देश-प्रेम के कारण विद्रोह करती है तथा माता-पिता, राज्य आदि सभी का परित्याग करके अनुपम त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करती है जिस प्रकार स्वतन्त्रता-संग्राम में नारियों को देखकर पुरुष प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं वैसे ही चन्द्रगुप्त नाटक में भी। व्यक्तिगत सुख को राष्ट्रीयता की वेदी में स्वाहा कर देना ही अनुपम राष्ट्रीयता है। चन्द्रगुप्त नाटक की अलका इसी बात का उदाहरण है।

इस प्रकार नाटक के विभिन्न पात्रों की उक्तियों में राष्ट्रीय भावना उच्छलित होती दिखाई देती है। चाणक्य के कथनों में तो असामयिक संकीर्ण भावनाओं की प्रतिध्वनि भी मिलती है। यथा—'तुम मालव हो यह मागध ! यह तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्मसम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। सिंहरण से कथन में भी संकीर्ण प्रांतीयता के प्रति विद्रोह

है—'परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं है, गांधार भी है।' अलका के लिए तो देश का कण-कण प्यारा है—'मेरा देश है, मेरे पहाड़ है, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं। इस प्रकार इस नाटक में मगध का चित्रण सम्पूर्ण देश के रूप में है। इसकी प्रत्येक समस्या देश की समस्या है।

विदेशी पात्रों के मुख से निकली हुई जो भारत भूमि को महत्ता देने वाली उक्तियाँ हैं वे भी राष्ट्रीयता को गौरवान्वित करती हैं। प्रसाद के अन्तर में यही गौरव पृष्ठभूमि के रूप में कार्य करती है। इन्हीं उक्तियों के आधार पर भारत का विश्व गुरुत्व सिद्ध होता है। कार्नेलिया तो अलका की ही भाँति भारत के कण-कण से प्रेम करने वाली थी। 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत में उसकी भारत प्रेम सम्बन्धी अनुभूति छलक पड़ती है। भारत की महत्ता से अनुप्राणित होकर वह चन्द्रगुप्त से कहती है—'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान प्रेम होता जाता है यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान की पालना, यह प्रेम की रंगभूमि—भारत भूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं अन्य देश मनुष्य की जन्मभूमि हैं, यह भारत देश मानवता की जन्मभूमि है विश्वविजेता सिकन्दर भी तो भारत के गौरव से अभिभूत होकर वीर पर्वतेश्वर से कहता है—''मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय स्वप्न देखा है। होमर की कविता में पढ़ी हुई कल्पना से मेरा हृदय भरा है, उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा है।' तभी तो वह भारत को अभिनन्दित करता है। अन्त में उसका यह कथन भारत के राष्ट्रीय गौरव को कितना बढ़ाता है—धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया और हृदय देकर जाता हूँ।'

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीय चेतना आद्योपान्त ओत-प्रोत है। यदि उसकी भूमिका नाटक में भारत के अतीत की स्वर्णिम झाँकी है तो दूसरी ओर वर्तमान समस्याओं का चित्रण एवं समाधान भी विद्यमान है। इसमें प्रसाद की ज्वलन्त राष्ट्रीय चेतना सजीव हुई है। यह अमर कृति युगों तक भारतीय गौरव को जागृत करने में समर्थ रहेगी, ऐसा विश्वास है।

: १३ :

चन्द्रगुप्त : रस-सृष्टि

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार यहाँ के संस्कृत नाटकों का प्रचलन रसानुभूति की आधार भूमि पर हुआ था। इसीलिए तो नाटकों को काव्य माना गया है और ये दृश्य व श्रव्य दोनों ही कोटियों में माने जाते हैं। इन काव्यानुरूप नाटकों की अनुभूति रसानुमुख है। यह रसानुभूति आनन्दात्मक है। भरतमुनि के अनुसार रसनिष्पत्ति का सिद्धांत 'विभावानुभावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् प्रमुख स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं। यह सिद्धान्त पूर्णरूपेण नाटक को दृष्टि में रखकर ही निश्चित किया गया था। मूलरूप में शृंगार, रौद्र और वीर एवं बीभत्स ये चार ही रस माने गये थे। हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक का सन्निभाव क्रमशः इन्हीं के अन्तर्गत कर लिया जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भरतमुनि ने नाटकों में रस का सन्निवेश केवल कुतूहल शान्ति के लिए ही स्वीकार नहीं किया था, वरन् उसका उद्देश्य का आनन्द का विस्तार, जो नाट्य के माध्यम से सर्व-साधारण तक पहुंचाया जा सकता है। नाटक के अभिनय के द्वारा विशिष्ट वासना को साधारणीकृत करके सामान्य के लिए आनन्दमय बनाया जा सकता है और सामान्य धरातल पर पहुंच कर भावना एक मानवीय वस्तु बन जाती है, व्यक्ति विशेष की नहीं। उस व्यक्ति-पात्र-विशेष के सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बनकर रस की सृष्टि करते हैं तथा रस की यही पूर्णता रसास्वाद की वस्तु होती है।

प्रसाद जी भारतीय रसवाद को पूर्णरूपेण मानने वाले हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त में मिलन अथवा अभेद वा अद्वैत की प्रमुखता रहती है, उसमें लोक-मंगल की कामना अन्तर्निहित रहती है। इसलिए प्राचीन काल से रस नाटकों की

अपनी वस्तु रहा है । तभी तो प्रसाद 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' वाले सिद्धान्त के अनुयायी हैं । प्रसाद का कोई भी नाटक 'दुःखान्त' नहीं है, यहाँ भी भारतीय सिद्धान्त का ही अनुगमन है । भारत में जीवन के यथार्थ चित्रण को ही नाटक में प्रमुखता इसलिए नहीं दी जाती कि उसमें प्रेक्षकों को जीवन की दुर्बलताओं से दूर करके आनन्द लोक में विचरण करने की योजना रहती है । वैसे भी जो चित्र हम जीवन में देखते हैं यदि वैसे ही नाटक में भी मिलें तो जीवन की विभीषिका से अपना त्राण कहां हो सके और हम पर शुभ प्रभाव किस प्रकार से पड़ सकेगा ? अर्थात् नहीं पड़ पायेगा । इसलिए प्रसाद भारतीय नाट्य-योजना के अनुसार ही अपने नाटक के मध्य में पात्रों के जीवन को पूर्ण संघर्ष से रत दिखाते हैं, पर अन्त उनका आनन्ददायक अथवा प्रसादात्मक ही रहा है । अजातशत्रु नाटक के अन्त के विषय में कुछ सन्देह हो सकता है, पर वह भी पूर्णरूपेण प्रसादान्त नाटक है । बिम्बसार की मृत्यु तो वहाँ होती है, पर साथ ही महात्मा गौतम की अमोघ वाणी भी उच्चरित होती है, आंसू तो निकलते है पर प्रसन्नता के आंसू होते हैं । इसी सिद्धान्त के आधार पर ही तो करुण रस को सुखान्त मानते हैं जबकि उसके उपादान दुःखानुभूति कराने वाले से प्रतीत होते हैं । प्रसाद ने अपने नाटकों में शृंगार, वीर और शान्त रसों को ही प्रमुखता दी है । अन्य रस रसाभास के रूप में इन्हीं रसों के अंग होकर ही आये हैं ।

अब हम चन्द्रगुप्त में वर्णित रस का विवेचन करेंगे । इस नाटक में प्रमुख रस वीर ही है । शृंगार रस उनका सहायक बनकर आया है । वैसे तो स्थान-स्थान पर शान्त रस की झाँकियाँ मिल जाती हैं । नाटक में वर्णित प्रमुख तीन घटनायें हैं—१. यवन आक्रमणकारियों का विरोध; २. नन्द वंश का उन्मूलन और ३. मौर्य वंश की स्थापना । अतः इनकी सिद्धि के लिए नाटक की विचार धारा के दो पक्ष किए जा सकते हैं । १. राजनीति प्रधानता । २. प्रणयनीति विवर्धन । इन दोनों विचारधाराओं के रूप में वीर रस और शृंगार रस तुष्ट हुए हैं । कथावस्तु के उद्देश्य के मूल में युद्ध की व्यवस्था परिव्याप्त है । तीनों घटनायें—सिकन्दर से युद्ध, नन्द से युद्ध और सिल्यूकस से युद्ध—इन्हीं पर फलवती हुई हैं । सर्वत्र वीर रस का स्थायी भाव उत्साह दिखाई देता है । हां

राजनैतिक उथल में शृंगार रस की धारा अवश्य परिच्छिन्न एवं खण्डित-सी दिखाई देती है। पर जहाँ राजनीति भी प्रणयनीति का स्वागत करती है। वहाँ शृंगार रस की जय-जयकार होती है। तीनों घटनाओं का मुख्य केन्द्र नायक चन्द्रगुप्त ही दिखाई देता है इसलिए वही वीर रस का आश्रय है। आलम्बन अवश्य तीन हो जाते हैं—सिकन्दर, नन्द और सिल्यूकस। सिकन्दर को जब आलम्बन मानेंगे तब उद्दीपन होगा—पर्वतेश्वर का पराभव—जो सिकन्दर के प्रताप और उत्कर्ष को बढ़ाता है, इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप चन्द्रगुप्त को उद्दीपन होगा। इसके अतिरिक्त सिंहरण के पास सिकन्दर का सन्देश भेजना भी मालव नेता मुझसे आकर भेंट करें और मेरी जलयात्रा की सुविधा करें, उद्दीपन विभाव के ही अन्तर्गत आते हैं। अलका जब आकर यह कहती है कि 'पर्वतेश्वर ने प्रतिज्ञा भंग की है, वह सैनिकों के साथ सिकन्दर की सहायता के लिए आया है' तो यह सूचना भी उद्दीपन का काम करती है। सिंहरण के द्वारा सिकन्दर को दर्पपूर्ण उत्तर—'हाँ, भेंट करने के लिए मालव सदैव प्रस्तुत हैं—चाहे संधि-परिषद् में या रण भूमि में।' तथा चन्द्रगुप्त और सिंहरण के द्वारा युद्ध के लिए किया गया और युद्ध निश्चय, वीर रस के अनुभाव के अंतर्गत आता है। इसके अतिरिक्त दूसरे अंक के नवें-दसवें दृश्य में धृति, स्मृति, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारियों का भी सफल चित्रण दिखाई देता है। जब सिंहरण सिकन्दर के सैनिकों से कहता है—'ले जाओ, सिकन्दर को उठा ले जाओ, जब तक और मालवों को यह विदित न हो जाय कि यह वही सिकन्दर है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है', तथा चन्द्रगुप्त जब सिल्यूकस से कहता है—जाओ यवन ! सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना'—इन दो उदाहरणों से गर्व संचारी भाव की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। औत्सुक्य संचरी भाव का भी एक उदाहरण देखिए—'यवन—दुर्ग द्वार टूटता है और अभी हमारे वीर सैनिक इस दुर्ग को मटियामेट करते हैं।'—इस कथन में मालवों के लिए उत्सुकता भरी हुई है। सिंहरण के इस कथन में धृतिभाव सफल हो गया है—'कुछ चिन्ता नहीं दृढ़ रहो। समस्त मालव सेना से कह दो कि सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा।'

जब नन्द वीर रस का आलम्बन बनता है तब भी आश्रय चन्द्रगुप्त ही रहता है और वहां भी उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संचारियों की सफल अनुभूति होती है। शकटार जब भूगर्भ से निकल कर अपनी वेदनामयी कहानी कहता है, मौर्य और उसकी पत्नी को जब बन्दी बनाया जाता है, राक्षस और सुवासिनी को अन्धकूप में डालने का राज निर्णय सुनाया जाता है, तो ये घटनाएँ उद्दीपन का कार्य करती हैं। नन्द के अत्याचार एवं माता की स्वयं के होते हुए ऐसी दुरवस्था देखकर चन्द्रगुप्त के द्वारा प्रतिज्ञा करना एवं क्रांति के विविध उपाय अनुभाव की कोटि में आते हैं। इसी प्रकार संचारी भावों के भी उदाहरण मिल जाते है।

तीसरी घटना में जब सिल्यूकस आलम्बन बनता है तब भी चन्द्रगुप्त ही आश्रय बना रहता है। चाणक्य, सिंहरण आदि के चले जाने पर जो विषम स्थिति उत्पन्न होती है, यह विषमावस्था चन्द्रगुप्त के लिए उद्दीपन का कार्य करती है। जब सिल्यूकस अपने दूत साइर्वटियस के द्वारा चन्द्रगुप्त को समझाने का प्रयत्न करता है, तो उसकी प्रतिक्रिया चन्द्रगुप्त में अनुभाव का कार्य करती है। वह कहता है—'मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूं, तो भी क्षत्रिय हूँ। रणदान जो माँगेगा, उसे दूंगा। युद्ध होना अनिवार्य है।' युद्ध स्थल में चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस का जो वार्तालाप होता है वह भी वीररस के अनुभाव को ही पुष्ट करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में वीररस की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित दिखाई देती है। अब हम उपर्युक्त तीनों घटनाओं में वीर रस का तालिका द्वारा विवेचन करेंगे। प्रथम घटना के रसांग निम्न प्रकार हैं—

१. आलम्बन	—	सिकन्दर
२. आश्रय	—	चन्द्रगुप्त
३. उद्दीपन	—	(१) पर्वतेश्वर पराजय से यवनवाहिनी में उत्साह।
		(२) प्रतिक्रिया स्वरूप चन्द्रगुप्त में उत्साह जागरण।
		(३) पर्वतेश्वर का अपनी प्रतिज्ञा से विचलित होना।

		(४) सिंहरण को सिकन्दर का सन्देश।
४. अनुभाव	—	(१) सिंहरण की निर्भीकता।
		(२) चन्द्रगुप्त के साथ सिंहरण का युद्ध की क्रियाशीलता में उद्योग।
		(३) युद्ध निश्चय।
५. संचारी भाव	—	चन्द्रगुप्त का सिल्यूकस से, सिंहरण का सैनिकों से, यवन का कथन एवं मालव सैनिक का कथन क्रमशः गर्व, धैर्य औत्सुक्य तथा स्मृति संचारियों की पुष्टि करता है।

द्वितीय घटना के रसांग —

१. आश्रय	—	चन्द्रगुप्त
२. आलम्बन	—	नन्द
३. उद्दीपन	—	(१) नन्द का अत्याचार।
		(२) शकटार का भूगर्भ से बाहर अपनी करुण कहानी कहना।
		(३) मौर्य दम्पति का बंदी बनाया जाना।
		(४) राक्षस-सुवासिनी को अन्धकूप की आज्ञा।
४. अनुभाव	—	(१) चाणक्य की प्रतिज्ञा।
		(२) माता-पिता की दुःखद अवस्था पर चन्द्रगुप्त का उत्तेजित होना।
		(३) विद्रोही-प्रवृत्ति के लक्षण।
		(४) शकटार का मनुष्य के ऊपर अविश्वास प्रकट करना।
५. संचारी भाव	—	नन्द के राज दरबार में विद्रोहियों के प्रति कथन, शकटार का अपने पुत्रों की नृशंस हत्या की याद आदि रूप में कथन, गर्व और स्मृति संचारियों की पुष्टि करते हैं।

इस घटना की सिद्धि तो वीर रस में ही होती है पर अन्त बीभत्स रस में।

तृतीय घटना के रसांग—

१. आश्रय	—	चन्द्रगुप्त
२. आलम्बन	—	सिल्यूकस
३. उद्दीपन	—	(१) चाणक्य का चन्द्रगुप्त से रूठकर जाना और सिंहरण द्वारा उसका अनुगमन किया जाना। (२) विषम परिस्थिति में चन्द्रगुप्त का उत्साह।
४. अनुभाव	—	चन्द्रगुप्त के द्वारा क्षत्रियत्व का आश्रय लेकर युद्ध के लिए तत्पर होना।
५. संचारी भाव	—	चन्द्रगुप्त के कथनों में 'गर्व','स्मृति' की पुष्टि।

चन्द्रगुप्त नाटक का दूसरा अनुपूरक रस श्रृंगार है जो लुकता-छिपता उभरता-दबता प्रारम्भ से अन्त तक चलता रहता है और अन्त में तो श्रृंगार रस की ही विजय दिखाई देती है। इस प्रकार इस नाटक में प्रसाद जी ने वीर रस के विरोधी रस श्रृंगार को उसका सहयोगी बनाकर इस नाटक में प्रयुक्त किया है। इस नाटक का प्रारम्भ राजनीति को लेकर चलता है, मध्य घोर संघर्षमय है, फिर भी अन्त प्रणय भावना के आधार पर श्रृंगार की विजय के रूप में ही हुआ है। आलोचक तो यह कह सकते हैं कि कार्नेलिया का परिणाम तो राजनैतिक परिणाम ही है, पर सच बात तो यह है कि यह राजनैतिक गठबन्धन नहीं है। इस नाटक में प्रसाद जी ने इस प्रणय का क्रमशः विकास दिखाया है। अचानक यह सम्बन्ध-सूत्र बँधते दिखाई देता तो निश्चय ही अन्त को राजनैतिक विजय के रूप में स्वीकार कर सकते थे, पर ऐसा नहीं हुआ। इस नाटक में वीरों के संघर्षपूर्ण जीवन को प्रेम की शीतल छाया में पुष्ट किया गया है। कहा जाता है कि बिना विप्रलम्भ के श्रृंगार पूर्ण नहीं होता, पर प्रसाद जी चूंकि संयत और मर्यादित विचारों के नाटककार हैं अतः उनके प्रेम-चित्रण में एक निष्ठा, विश्वास, त्याग और आत्मसम्मान की वृत्तियाँ

भरी पड़ी हैं तथा भारतीय चारित्र्य गठन की विभूतियाँ अलका, मालविका और कल्याणी में भली प्रकार दिखाई देती हैं। फिर भी वियोग का एक हल्का चित्रण सुवासिनी एवं मालविका के गीतों में देखने को मिलता है। वियोग की पुष्टि इस नाटक में इसलिए नहीं हो सकी है कि ये पात्र लौट फेर कर रंगमंच पर आते ही रहे हैं।

इस नाटक में शृंगार की पुष्टि के छः चित्र देखने को मिलते हैं पर शृंगार रस की पुष्टि सभी में नहीं हो सकी है। केवल अलका और सिंहरण का प्रणय व्यापार ही रसत्व को प्राप्त हो सका है। प्रेम अभिव्यक्त करने की वे घटनायें निम्न हैं—

(क) अलका और सिंहरण का प्रणय।

(ख) सुवासिनी और राक्षस का प्रणय।

(ग) चन्द्रगुप्त और कल्याणी का प्रणय।

(घ) चन्द्रगुप्त और मालविका का प्रणय।

(ङ) चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का प्रणय।

(च) सुवासिनी और चाणक्य का प्रणय।

प्रथम घटना के अतिरिक्त अन्य सभी सूत्रों के विकास में अवरोधक हुआ है राजनीति का भारीपन। इसलिए वे प्रेम-व्यापार उभर नहीं पाये हैं। राक्षस और सुवासिनी का प्रणय तो एक प्रकार से राजनैतिक चाल ही समझना चाहिए, यद्यपि इन दोनों का प्रणय वास्तविक ही रहा था। इसी प्रकार अन्य प्रणय व्यापारों में भी शृंगार रस की संवेदनात्मक अनुभूति का आभासमात्र ही हो सका है। चाणक्य और सुवासिनी का प्रणय तो एक प्रकार से स्मृति की एक झलक ही बनकर रह गया है। सिंहरण और अलका के प्रणय-व्यापार में रसांगों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. आश्रय	—	प्रथम अलका तत्पश्चात् सिंहरण भी।
२. आलम्बन	—	अलका।
३. उद्दीपन	—	(१) तक्षशिला के गुरुकुल में घटित घटना।
		(२) राजनैतिक परिस्थिति।
		(३) आम्भीक का देशद्रोहत्व।

(४) यवन आक्रमण ।

४. अनुभाव — (१) मानचित्र निर्मित कराना ।
(२) स्वयम् बन्दी होना ।
(३) गांधार की सीमा से बाहर जाना ।
(४) राज्य में क्रान्ति फैलाना ।
(५) सिंहरण को सतत् उत्साहित करना ।

५. संचारी भाव — सिंहरण के कथन—"वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा, फिर चिन्ता किस बात की ?" में 'गर्व' और 'विश्वास', 'मैं तुम्हारी सुख-शान्ति के लिए चिन्तित हूँ', अलका के इस कथन में चिन्ता आदि संचारी भाव अभिव्यक्त होते हैं ।

इस प्रकार श्रृंगार रस का भी पूर्ण परिपाक देखने को मिलता है ।

इन दोनों रसों के अतिरिक्त शान्त रस की भी स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति हुई है । जैसे दाण्डायन के कथनों में, आश्रमवासी चाणक्य की अनुभूतियों में एवं नाटक की परिसमाप्ति के अवसर पर । इस प्रकार रस-दृष्टि में यह नाटक पूर्ण सफल है ।

: १४ :

चन्द्रगुप्त : संघर्ष-योजना

(अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व)

भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक का लक्ष्य निर्दिष्ट शील-स्वभाव वाले पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखकर उनके वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-संचार करना रहा है। नाटक सुखान्त ही होते थे, उनमें एक कार्य होता था, जिसकी सिद्धि कुछ निश्चित सी रहती थी। तदनुकूल ही भारतीय नाट्य-प्रणाली में कार्य की पांच अवस्थाएँ मानी गई हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फलागम या कार्य की सिद्धि उनका उद्देश्य अवश्य रहता था और उनका झुकाव मूलतः प्रथमतः और प्रमुखतः आदर्श की ओर रहता था। भारतीय नाटक काव्य माने जाते थे और इसका तो प्रथम विवेचन ही नाटक के प्रसंग में किया गया था। ढले हुए साँचे वाले पात्र रहने के कारण उनमें शील-वैचित्र्य के लिए स्थान ही नहीं था।

इसके विपरीत पाश्चात्य नाट्याचार्य नाटक के कथानक में संघर्ष और क्रियाशीलता को मुख्य स्थान देते हैं तदनुकूल कार्य की पांच अवस्थाएँ (संघर्ष का) आरम्भ, विकास, चरम सीमा, नियति और समाप्ति मानते हैं। योरुप में क्रमशः शील-वैचित्र्य-प्रदर्शन को प्रमुखता प्राप्त होती गई है और वहाँ दृष्टि आदर्श की अपेक्षा यथार्थ पर अधिक रहती है। "यहाँ तक कि किसी नाटक के सम्बन्ध में वस्तुविधान एवं चरित्र-विधान की चर्चा का ही चलन हो गया, और यथातथ्यवाद के प्रचार से वहाँ रहा-सहा काव्यत्व भी झूठी भावुकता कहकर हटाया जाने लगा।"

हिन्दी साहित्य में प्रसाद का युग एक संक्रांति-युग कहा जा सकता है। उनके सम्मुख एक ओर तो नवयुगप्रवर्तक भारतेन्दु जी प्राचीनता के प्रतिनिधित्व

के रूप में खड़े थे और दूसरी ओर पश्चिमी नाटकों की अभिनय-कला अपनी नवीन मोहिनी शक्ति का जादू डाल रही है। इसी सन्धिकाल में प्रसाद जी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन किया। उन्होंने भारतीय-संविधान का भी ध्यान रक्खा और पाश्चात्य शील-वैचित्र्य-प्रदर्शन को भी अपनाया उनके नाटकों में नाटक के अन्त में फल-प्राप्ति भी होती है और योरोपीय ढंग का संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व भी देखने में आता है। काल्पनिक स्त्री-पात्रों का सृजन करके वे नाटकों में सरसता लाते हैं और काव्य की एक पृथुल अन्तर्धारा उनके नाटकों में प्रवाहित होती रहती है। शील-वैचित्र्य-प्रदर्शन का ध्यान रखते हुए भी उनके पात्र आदर्शवादी बने रहते हैं।

प्रसाद के नाटकों की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यही संघर्षमय कथानक का विधान है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व का संतुलित सम्मिश्रण रहता है। घटनाएँ पर्वनिर्दिष्ट पथ पर नहीं चलती; प्रत्युत् परिस्थिति और प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक मार्ग बनाती चलती हैं। उनमें आरोह-अवरोह होता है। अतः धारा कभी वेगवती हो जाती है और कभी मन्थर गति वाली। "घटनाओं में कहीं युद्ध का कोलाहल है तो कहीं शान्ति; कहीं संकीर्णता, क्रोध, ईर्ष्या और हत्या है, तो कही औदार्य, क्षमा, प्रेम और सेवा।"

प्रसाद के नाटकों में संघर्ष का आभास नाटक का प्रथम दृश्य खुलते ही मिल जायेगा—नाटक के प्रमुख पात्र रंगमंच पर आकर प्रारम्भ में ही बाह्य-द्वन्द्व प्रकट कर देते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दर्शक अभी बैठ ही पाता है कि सिंहरण की उक्तियाँ उसे सचेत कर देती हैं—"शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा", और "आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर हैं।" तथा—"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लौह आस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा, चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजयमाला हाथ में लिए उस सुन्दर नीललोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे।"

यही संघर्ष का आभास है, जिसका विकास आगे होता है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ आई हैं और परस्पर टकराती हैं। संघर्ष का विकास

होता है और वह चरमावस्था को प्राप्त होकर समाप्ति को प्राप्त होता है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक से बाह्य-द्वन्द्व के कुछ अन्य उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१) "चाणक्य-यवनों की विकटवाहिनी निषेध-पर्वतमाला तक पहुंच गई है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसन्धि है। सम्भवतः समस्त आर्यावर्त्त पादाक्रान्त होगा। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतन्त्र हैं, वे उस सम्मिलित पारसीक यवन-दल को रोकने में असमर्थ होंगे। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है। इसलिए मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिए।"

(२) "सिंहरण—हाँ! आर्य! प्रचण्ड विक्रम से सम्राट् ने आक्रमण किया है। यवन सेना थर्रा उठी है। आज के युद्ध में प्राणों को तुच्छ गिनकर वे भीम-पराक्रम का परिचय दे रहे हैं। गुरुदेव! यदि कोई दुर्घटना हुई तो! आज्ञा दी जाए, अब मैं अपने को नहीं रोक सकता! तक्षशिला और मालवों की चुनी हुई सेना प्रस्तुत है, किस समय काम आवेगी?"

बाह्य-द्वन्द्व से भी अधिक प्रबल प्रायः प्रसाद के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व रहता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि यही अन्तर्द्वन्द्व बाह्यद्वन्द्व का प्रेरक और संचालक है। बाह्यद्वन्द्व का सम्बन्ध पात्रों के वचनों और कार्यों से रहता है जिनके मूल में अन्तःप्रेरणा ही काम करती है। "हृदय में विरोधी भावों का संघर्ष किस प्रकार होता है, और पात्र विशेष प्रकृति या संस्कार की किस विशेषता के कारण सत् असत् मार्गों में किस प्रकार चलने का निश्चय करता है, इसी का चित्रण 'अन्तर्द्वन्द्व' कहलाता है।" 'चन्द्रगुप्त' नाटक में संघर्ष का आभास प्रथम दृश्य में मिल अवश्य गया, पर इसकी दृढ़ता का प्रारम्भ हमें वहाँ समझना चाहिए, जहाँ इस संघर्ष के संचालक नेता के मानसिक द्वन्द्व का आरम्भ है—"पिता का पता नहीं, झोपड़ी भी न रह गई। सुवासिनी अभिनेत्री हो गई—संभवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है। इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था। मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असम्भव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा। नहीं तो नाश ही करूँगा। (ठहरकर)—एक बार चलूँ, नन्द से कहूँ। नहीं, मेरी वृत्ति वही मिल जावे, मैं शास्त्र व्यवसायी नहीं रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई-बुराई से क्या?"

और आगे इसी मानसिक द्वन्द्व का एक चित्र प्रथम अंक के सातवें दृश्य में मिलता है, जहाँ पिंजड़े में बन्द सिंह और घायल सर्प की भाँति चाणक्य अपनी विवशता के लिए गरजता है और फुफकारता है—

"समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना ? परन्तु मन में इतने संकल्प और विकल्प ? एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लौह-शृंखले ! एक बार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भंग कर दूँ। क्या रोने लगूँ। इस निष्ठुर यन्त्रणा की कठोरता से बिलबिलाकर दया की भिक्षा माँगूँ ? माँगूँ कि मुझे भोजन के लिए एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक बार स्वतन्त्र कर दो ! नहीं चाणक्य ! ऐसा न करना। नहीं तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जाने वाली एक बामी हो जायेगा। तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा। (ऊपर देखकर) क्या कभी नहीं ? हाँ, हाँ कभी किसी पर नहीं।"

प्रसाद के पात्रों का अन्तरतम उनके अन्तर्द्वन्द्वों में ही उद्घाटित होता है। उनके पात्र सत्-असत् के ही नहीं, एक ही मार्ग के दो भागों पर भी इधर-उधर हिलते-डुलते हैं, निश्चय नहीं कर पाते। कहीं वृद्ध गांधार नरेश अपनी व्यथा सुनाते हैं—"बूढ़ा हो चला, परन्तु मन बूढ़ा न हुआ। बहुत दिनों तक तृष्णा को तृप्त करता रहा, पर तृप्त नहीं होती। आम्भीक तो अभी युवक है, उसके मन में महत्वाकांक्षा का होना अनिवार्य है। उसका पथ कुटिल है, गंधर्व नगर की-सी सफलता उसे अपने पीछे दौड़ा रही है। (विचारकर) — हाँ, ठीक तो नहीं है; पर उन्नति के शिखर पर नाक के सीधे चढ़ने में बड़ी कठिनता है।"

तो कहीं पर्वतेश्वर का मानस झोंके खाता हुआ दिखाई देता है—'आह ! कैसा अपमान ! ···· सो भी एक स्त्री के द्वारा। और सिकन्दर के संकेत से। प्रतिशोध ! रक्त-पिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोंच रही है। मारूँ या मार डालूँ ?······तो फिर जीकर क्या करूँ ?"

अपमान की यन्त्रणा में दबा मानव निश्चय नहीं कर पाता। दूसरी ओर मगध की राजकुमारी कल्याणी के ये शब्द एक असफल जीवन के अन्तःरुदन के परिचायक हैं--"मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बंदिनी है। मैं वही तो हूं—जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था। वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदण्ड—ऐश्वर्य ! अब तुलना में सबसे छोटी हूँ। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है। (सिर झुका लेती है)—तो जब नन्दवंश का कोई न रहा, तब एक राजकुमारी बचकर क्या करेगी ?"

प्रसाद के नाटकों में प्रायः सभी पात्र इसके शिकार रहते हैं। जितना ही संघर्ष बाहर है, उतना ही अन्दर। "आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का युद्ध।"

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि प्रसाद के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व-बहिर्द्वन्द्व का सुन्दर समन्वय पाया जाता। द्वन्द्व आन्तरिक और बाह्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। कहीं-कहीं तो दोनों का विकास भी होता चलता है और वह भी साथ-साथ। पर प्रसाद के द्वन्द्व अन्त में जाकर शान्त हो जाते हैं, मन निर्मल हो जाता है, बाह्य संसार में सुख-शान्ति हो जाती है। द्वन्द्वों की यहाँ समाप्ति होती ही है, पर शान्ति भी होती है। पाश्चात्य नाटकों में द्वन्द्वों की समाप्ति दुःखमय भी हो सकती है; पर प्रसाद के नाटक अन्त में सुख की एक शान्त शीतल छाया छोड़ देते हैं। बीच में भी द्वन्द्वों के साथ ही साथ प्रसाद प्रेम की निर्झरणी भी बहाते हैं। काल्पनिक स्त्री-पात्रों की सृष्टि द्वारा प्रसाद का लक्ष्य रहता है कि अन्तर्विद्रोह और बाह्याक्रमण से देश-रक्षा के कार्य में संलग्न एवं राजतन्त्र के चक्र के निरन्तर परिचालक वीर युवक 'घने प्रेम तरु तले' बैठकर इन रमणियों के साथ स्फूर्ति और नवीन शक्ति का अर्जन करें और प्रेक्षकगण वीर के साथ ही श्रृंगार का भी रसास्वादन कर सकें।

: १५ :

चन्द्रगुप्त : प्रसाद का कवि रूप

डा० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटकों के विषय में लिखा है—"प्रसाद के नाटक सभी मधुर्सिचित हैं। वे मूलरूप में कवि हैं, अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर खण्डों को एकत्रित करके उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया। अतएव परिणामस्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ, उनका वातावरण रूप और रंग से जगमग उठा है।"

प्रसाद के नाटकों में उनके गीतों के सुन्दरतम उदाहरण भरे पड़े हैं। "उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस का रूप-यौवन, चटकीला रंग एवं विलास की उष्णांध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति संचरण करती रहती है।"

प्रसाद के नाटकों में वस्तुविधान, चरित्रांकन, कथोपकथन, वातावरण, सारभूत प्रभाव सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का संचार होता रहा है। चाणक्य जैसा पात्र भी कविता का भागी हुआ है—उसके कर्म कठोर व्यक्तित्व में बाल-स्मृतियाँ भाँवरें ले रही हैं—"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं।"

'चन्द्रगुप्त' नाटक गद्यगीतों का अक्षय भण्डार है। प्रेम, स्मृति आदि की भावपूर्ण काव्यमय व्याख्या देखिए—

"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुट लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ

मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

"धड़कते हुए रमणीक वक्ष पर हाथ रखकर, उस कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है और राजकुमारी, वही काम-संगीत की तान सौन्दर्य की लहर बनकर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

इसी प्रकार भावावेश में, आनन्दातिरेक में, दुःख की तीव्रता में भी पात्र काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करने लगता है। उदाहरणार्थ---

"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लौह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजयमाला हाथ में लिए उस सुन्दर नील लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर से नाचेंगे।"

कहीं-कहीं भाषा के साधारण स्थलों पर भी काव्यात्मकता आ गई है--- स्वगत-कथन तो विशेषकर काव्यात्मक भाषा में ही लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ "हाँ, हाँ, रहस्य है। यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त्त की सुख-रजनी की शांति-निन्द्रा में, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है।"

"फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं। आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं। एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, निःश्वास फेंककर चला जाता है।"

'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद के कवि-रूप का सबसे अधिक स्पष्ट परिचय उसमें प्रयुक्त गीतों में मिलता है। 'चन्द्रगुप्त' में कुल १३ गीत मिलते हैं, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. नेपथ्य गीत	—	'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।'
२. राक्षस द्वारा गाया गया	—	'निकल मन बाहर दुर्बल आह।'
३. सुवासिनी द्वारा गाये गये	—	'तुम कनक किरण के अन्तराल में।'
		'आज इस यौवन के माधवी कुन्ज मे।'
		'सखे, वह प्रेममयी रजनी।'
४. अलका द्वारा गाये गये	---	'हिमाद्रि तुंग श्रृङ्ग से।'

'प्रथम यौवन की मदिरा से मत्त।'
'बिखरी किरण अलक व्याकुल हो।'

३. मालविका द्वारा गाये गये— 'मधुप कब एक कली का है।
'बज रही वंशी आठों याम की।'
'आ मेरी जीवन की स्मृति।'

१. कल्याणी द्वारा गाया गया— 'सुधा-सीकर से नहला दो।'
२. कार्नेलिया द्वारा गाया गया— 'अरुण यह मधुमय देश हमारा।'

नाटक में प्रसाद जी द्वारा गीतों के प्रयोग भी सकारण हैं। जब कोई पात्र व्यापार अथवा वार्तालाप द्वारा अपने भावोच्छ्वास को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है, तो वह गीतों का आश्रय ढूँढ़ता है। इसी प्रकार जब सभी पात्र एक ही विचारधारा में निमज्जित हो जाते हैं, तो समवेत स्वर में गीत फूट पड़ता है। अत: प्रसाद को जहाँ एक जन समूह की भावना का आरोह और अवरोह दिखाना अभीष्ट होता है, वहाँ उनकी भाषा वैयक्तिक गान की भाषा से भिन्न होती है।

इन गीतों में सामूहिक गीत पर्याप्त उपयोगी हैं और एकांत गीत भी, भावोच्छ्वास की अभिव्यक्ति एवं किसी भावना-विशेष के उद्बोधन के कारण नाट्योपयोगी हैं। राष्ट्रीय गीतों ने नाटकों में जीवन ही फूँक दिया है। नर्तकियों के गीत कहीं अस्वाभाविक और अनाटकीय भी हो सकते हैं, पर कहीं-कहीं वे सोद्देश्य हैं और कभी तो किसी पात्र के सुप्त चेतना-सागर को जागृत करने के निमित्त निर्मित किये हैं और कभी पात्र पर नाटककार का अभीष्ट प्रभाव डालने के लिए।

प्रसाद के दो सामूहिक गीत हिन्दी साहित्य की अमर निधि बन गये हैं—

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।

यह गीत 'वन्दे मातरम्' के समान ही राष्ट्रीय जीवन-प्रदायक बन गया है। उनका यह गीत स्वर और लय पर नृत्य करता है और छन्द वीर भावों के साथ

अकड़ कर चलता है। इसमें जातीय गर्व और शालीनता है, ओज और कोमलता है।

गीतों की नाटकीय उपयोगिता समय, स्थान, पात्र और विषय के अनुसार उनकी उपयुक्तता भी उनकी कला के अंग हैं। जब ग्रीक राजकुमारी कार्नेलिया भारतीय वैभव और ज्ञान से आश्चर्यान्वित एवं पुलकित होकर उसकी प्रशंसा करती है। (समय), जब वह बननास्वरूप गाने लगती है। (स्थल), उदार हृदय कार्नेलिया ग्रीक की होने पर भी भारत के महत्त्व एवं गुण-गान करने में हिचकिचाती नहीं। (पात्र), प्रसाद जी अपनी कल्पना के सहारे देश-प्रेम की सुन्दरतम भावना (विषय) को कार्नेलिया के मुख से प्रकट करवाते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।

बाबू गुलाबराय का कथन है —"प्रसाद के राष्ट्रीय गीत देशानुराग उत्पन्न करते हुए जगत् की अपूर्णताओं, कठोरताओं एवं कर्कशताओं को मंगलमय भगवान् की मंगल-विधायिनी के सहारे स्निग्ध और सुडौल बनाने की कामना प्रकट करते हैं।"

'चन्द्रगुप्त' में सौन्दर्य-प्रेम-सम्बन्धी गीत सबसे अधिक हैं। इनके सौन्दर्य-वर्णन में स्थूलता के स्थान पर वायवी दिव्यता अधिक है। उनकी दृष्टि सुन्दर वस्तुओं के बाह्यरूप झाँकी देखती हुई अन्तरालय में प्रविष्ट होती है। जहाँ उसे विश्रांति मिलती है। वह लाक्षणिक प्रयोग और सांकेतिक अभिव्यक्ति की सहायता से सौन्दर्य के अन्तस्थल में निवास करने वाली रहस्यमयता को प्रत्यक्ष कराना चाहते हैं। इस शैली का उसका प्रसिद्ध गीत है—

तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

"प्रेमी की आशा, निराशा, मिलन, विरह, सुख-दुःख, उल्लास-कसक आदि को प्रकट करने के लिए लिखे गये उनके प्रेम-गीतों में मादकता के साथ शक्ति है, ज्वाला के साथ शीतलता है।" उपमाएँ और रूपक नितान्त नवीन हैं। उनका 'प्रेम तरु' तापित और दग्ध को छाया प्रदान करता है। इस प्रकार प्रसाद के गीतों में प्रेमी-जीवन के विविध चित्र पाये जाते हैं। प्रेमी-हृदय का कोना-कोना वह झाँक आये हैं। उन्होंने नाटकों में दर्जनों गीत प्रेमी की आशा-

निराशा, मिलन-विरह, सुख-दुःख, उल्लास-कसक आदि को प्रकट करने के लिए लिखे हैं। 'निकल मत बाहर दुर्बल आह' में आशा-निराशा का झीना वस्त्र लहरा रहा है। इसी प्रकार 'प्रथम यौवन मदिरा से मत्त' गीत अतीत-स्मृति की सुनहरी चादर फैलाता हुआ दर्शकों को मनोहारी ही लगेगा इन गीतों में लाक्षणिक प्रयोगों का अद्‌भुत सौन्दर्य है।" अमूर्त्त की तुलना मूर्त्त से करते हुए विविध अलंकारों का विधान किया गया है। नितांत नवीन रूपकों और उपन्यासों की योजना की गई है और सांकेतिक अभिव्यक्ति की सहायता भी ली गई है। प्रसाद जी "बाह्य प्रकृति पर मानवी भावों का आरोप करते हैं।" कहीं-कहीं द्वित्व लाक्षणिक प्रयोगों का आवरण भेद कर तथ्य तक सृष्टि ले जानी पड़ती है, तो वह कभी-कभी निराश हो जाता है। तब पाठक कह उठता है कि प्रसाद के गीत प्रसाद-गुण रहित हैं।

गीतों की दुर्बोधता का एक और कारण है—प्रसाद का सौन्दर्य-बोध की नवीन व्याख्या प्रसाद के गीत सौन्दर्यानुभूति के तारतम्य की ओर निर्देश करते हैं। एक ही सुन्दर पदार्थ दर्शकों को दृष्टि-सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न स्तर तक पहुंचाता है। दृष्टि-सामर्थ्य के अभिप्राय है—(१) चर्म चक्षुओं की सामर्थ्य, (२) बुद्धि-दृष्टि की सामर्थ्य और (३) आत्मदृष्टि की सामर्थ्य। इन दृष्टियों के अनुसार सौन्दर्य-बोध के ३ रूप हुए। प्रथम रूप कामुक एवं संयमहीन व्यक्तियों के गीतों में पाया जाता है; दूसरा रूप संयमी साधकों के गीतों में और तीसरा रूप अध्यात्मवादियों के गीतों में।

(१) प्रथम रूप वाले गीत अति सामान्य होने के कारण अपेक्षाकृत स्पष्ट है। विलासियों के रूप में कड़ी ज्वाला दिखाई पड़ती है—

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला।।

(२) संयमी साधकों की सौन्दर्यानुभूति दूसरे प्रकार की है। वे सौन्दर्य के अन्तःपुर में निवास करने वाली जगत् की आलोक-वासना सती-लक्ष्मी का दर्शन करते में समर्थ हुए हैं। "जिसे साधकों के कण्ठ से अनुभूति की तन्मयता के क्षणों में जो संगीत फूट पड़ता है, वह सुधारस की वर्षा करता है।" इस प्रकार के गायक हैं—कल्याणी, मालविका, देवसेना। उदाहरणार्थ—कल्याणी का यह गीत 'सुधा-सीकर से नहला दो।'

संयमी की प्रेम-साधना पद्धति निराली है। उसकी सबसे बड़ी आराधना तन्मयता की स्थिति की प्राप्ति है। इसमें प्रियतम की सौन्दर्य की मन रूपी शर का आधार बनना पड़ता है। प्रियतम की निरन्तर स्मृति ही शर-संधान का अभ्यास है। इस अभ्यास द्वारा अनुरागी मन प्रिय की अनुपम देन में एकाकार बन जाता है, चित्र पूर्ण बन जाता है। फिर विश्व-मंगल कामना में प्रणयी-प्रणयिनी की समस्त कामनाएँ विलीन हो जाती हैं। कल्याणी, मालविका देवसेना की यही सौन्दर्यानुभूति है।

(३) तीसरी कोटि में उन अध्यात्मवादियों के गीत आते हैं, जिन्होंने विश्व व्यापक प्रेम को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है। यहाँ सौन्दर्य, शिव और सत्य से निकल कर परिपूर्ण बन जाता है।

इन गीतों में दूसरी कोटि के गीत ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्हीं गीतों में प्रसाद 'मानव-प्रेम-साधना' का संदेश देते हैं। सात्विक जीवन बिताते हुए रागात्मिका वृत्ति से आत्मोसर्ग की स्थापना इनका उद्देश्य है। कल्याणी बुद्धि की सहायता से सौन्दर्य-बोध होने पर सुन्दर-असुन्दर का, मुख्य-गौण का भेद-भाव विलीन हो जाता है। धैर्य, क्षमा, शांति के बल से प्रेम का उज्जवल प्रकाश विकीर्ण होने लगता है और साधना सफल होने पर पार्वती के समान सती कल्याणी के मुख से निकल पड़ता है—

"सुधा-सीकर से नहला दो।
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायें वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को बहला दो।"

प्रसाद के नाटकों में काव्यत्व उनका स्वाभाविक गुण हो गया है और अधिकतर उनमें स्वाभाविकता बनी रहती है। कहीं-कहीं अवश्य इससे बाधा उपस्थित होती है। जैसे साधारण बात को भी काव्यात्मक भाषा में कहना, और ऐसे स्थानों पर स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो पाती। जहाँ कहीं अनावश्यक रूप से गीत आ गए हैं और पात्र दो-दो, तीन-तीन गीत गाने की सौगन्ध खाकर रंगमंच पर आता है, तो दर्शकों के धैर्य छूट जाने की भी सम्भावना है। सबसे बड़ी बाधा अभिनय में आती है, विशेषकर क्लिष्ट-काव्यात्मक-अलंकार बोझिल भाषा के विषय में। वैसे प्रसाद के गीत भाव और कला दोनों की दृष्टि से बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं।

: १६ :

चन्द्रगुप्त : गीति-योजना

भारतीय नाट्य-परंपरा में प्रारम्भ से ही हमें संगीत योजना के रूप में पद्यों का प्रयोग देखने को ही मिलता है। इसके प्रयोग की महत्ता देने का मूल कारण सम्भवत: प्रेक्षकों का मनोरंजन रहा होगा। उसके भी मूल में नाटककार के रस परिपाक की योजना कार्य करती रही होगी। अत: निश्चित रूप से नाटकों में प्रयुक्त संगीत परिस्थिति-विशेष को अभिव्यक्त करता रहा होगा। काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द की समकक्षता के कारण ही भारतीय कलाकृतियों में नृत्य और संगीत का इतना वैभव देखने को मिलता है। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों में सुन्दर काव्य के भी दर्शन होते हैं।

हिन्दी नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना में गीतयोजना की प्रवृत्ति संस्कृत नाटकों से पैतृक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण की है। हिन्दी के प्रारम्भिक नाटकों में गीतों का ग्रहण संस्कृत नाटकों से भी अधिक अपनाया गया है। इसका मुख्य कारण यह था कि गीतों के माध्यम से संवाद स्मृति-पटल पर अंकित किए जा सकते हैं और प्रेक्षकों तक सरलता से भावों को पहुंचाया जा सकता है। नाटकों के रचना-विकास में आगे चलकर गीत-योजना का मुख्य कारण दर्शकों का मनोरंजन और रसपरिपाक ही नहीं रहा, वरन् गीत मनोविज्ञान के सहायक बनकर प्रयुक्त होने लगे। गीतों के आधार पर पात्रों का चरित्र-विश्लेषण भी सरलता से किया जा सकता है। भारतीय नाट्य-साहित्य में यह स्थान मनोविज्ञान को प्रदान किया गया है। इस मान्यता का प्रभाव हिन्दी के नाटकों पर विशेष रूप में हुआ। अत: हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त गीतों का एकमात्र आधार अंग्रेजी साहित्य के प्रभावस्वरूप मनोविज्ञान ही है। हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त गीतों की परम्परा सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों के

अथवा रीतिकालीन शृंगारिक पदों में ढूँढ़ना व्यर्थ है। ये तो पूर्णरूपेण अंग्रेजी साहित्य के Lyrics अथवा गीतों का परिवर्तित रूप अथवा नवीनीकरण ही है।

गीत वास्तव में मानसिक उथल-पुथल की प्रतिक्रिया को ही द्योतित करते हैं इनमें व्यक्तिपन समत्व में अथवा समत्व व्यक्ति में लीन होने के लिए लालायित दिखाई देते हैं। गीतों में कवि अथवा काव्यकार का हृदय अभिव्यक्त होकर मुखरित होना चाहता है। सच्चे गीत तो वास्तव में अपनी मार्मिकता के कारण ही प्रसिद्ध होते हैं और मार्मिकता दुःखपूर्ण वातावरण के प्रभाव में ही पल्लवित होकर अपना कार्य सिद्ध करने में समर्थ हो सकती है। नाटकों में गान सम्बन्धी प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए अब हम 'चन्द्रगुप्त' के गीतों की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर यहाँ विचार करेंगे।

प्रसाद जी स्वभाव से ही कवि हैं, भावुक हैं। कवि अथवा भावुक को अपने भावों पर सयमन करना कठिन हो जाता है। अतः यह भावना अवसर पाकर सहृदया अथवा कोमल भावना-प्रधान पात्रों के मुख से निकल ही पड़ती है। इसी आधार पर प्रसाद ने अपने नाटकों में गीतों की योजना की है। स्वाभाविकता एवं उपयुक्तता उनमें यह रही है कि उन्होंने कोई भी गीत असहृदय और रूक्ष पौरुषपूर्ण पुरुष अथवा स्त्री के मुख से नहीं गवाया है। गीति-योजना की यह प्रवृत्ति उनके प्रारम्भिक नाटकों में अधिक रही है। पर बाद के नाटकों में गीतों को स्थिति एवं पात्रों के अनुसार ही प्रयुक्त कराया है, जिससे स्वाभाविकता बनी रहती है। हाँ, कहीं-कहीं उनके गीत में प्रसाद की दार्शनिकता भी टपकने लगती है, फिर भी समन्वित यह है कि उनका पाठ करने वाला पात्र दार्शनिक ही होता है। इस प्रकार की सामान्य गीति-योजना का विवेचन करते हुए हम देखते हैं तो यही पाते हैं कि उनके प्रयोगों में प्रसाद का मूल ध्येय पात्र-विशेष के उलझे हुए अथवा सुलझे हुए व्यक्तित्व का परिचय देना ही है। व्यक्ति की अस्पष्टता में प्रसाद के गीत उस पात्र-विशेष पर वरदहस्त का काम करते हैं। साथ ही, स्वयं में भी वे गीत काव्यत्व की पूर्णता एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गम्भीरता के लिए हुए हैं। उदाहरण के लिए 'अजातशत्रु' में पद्मावती के गीत, 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और विजया के गीत, 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी,

राक्षस, अलका, कल्याणी और मालविका के गीत पूर्णरूपेण परिस्थितियों के अनुकूल और तद्गत पात्र की मनोदशाओं का विश्लेषण करने वाले बन पड़े हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी प्रसाद की गीति-योजना पर दो प्रकार से दोषारोपण किया जाता है, "प्रसाद ने गीत नाटकों के लिये नहीं लिखे हैं, उन्होंने स्वतः ही परिपूर्ण मुक्तक के रूप में गीत लिखे हैं, उन्ही को उन्होंने नाटकों में यथावसर जड़ दिया है अथवा फिट कर दिया है।' दूसरा दोष यह लगाया जाता है, 'प्रसाद के गीत अभिनय में बाधक ही सिद्ध होते हैं क्योंकि एक पात्र कई-कई बार गीत गाता हुआ दिखाई देता है जिसमें बहुत समय गीतों के अभिनय में ही व्यतीत हो जाता है।" 'राज्यश्री' और 'विशाख' में तो गीतों की संख्या कम है, पर आगे के नाटकों में गीत अधिक हैं। एक बात यह और खटकती है कि उन्होंने अपने सभी स्त्री-पात्रों को गानप्रिय ही दिखाया है। चन्द्रगुप्त नाटक में कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी अलका सभी स्त्री-पात्र गीतों का प्रयोग करते हैं। इसके चतुर्थ अंक में तो अकेली मालविका ही तीन बार गीत गाती है। इनके अभिनय में लगभग ४० मिनट लग सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्कन्दगुप्त की देवसेना और अजातशत्रु की मागन्धी तो सात-सात बार लम्बे-लम्बे गीत गाती हैं। इन गीतों पर अभिनेयता का दोष भी लगाया जाता है।

उपर्युक्त दोषारोपण पर यदि शुद्ध-बुद्धि से विचार करें तो निराकरण और समाधान मिल जाता है। पहली बात तो यह है कि प्रसाद ने स्वतन्त्र रूप से भी गीत लिखे हैं और नाटकों में यथावसर उनको प्रयुक्त किया है, पर यह कोई दोष नहीं है। यह जड़ने का कार्य तो बड़े-बड़े जड़िया ही कर पाते हैं। उनमें पात्रों की स्थिति और मनोविज्ञान का सर्वथा उचित निर्वाह है। कोई भी गीत पात्र के व्यक्तित्व से बेमेल हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कुछ गीतों पर लम्बाई और उनकी दार्शनिकता के कारण अस्वाभाविकता और अभिनेयता का दोष लगाया जाता है, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि नाटककार का कार्य तो केवल नाटक लिखना है, निर्देशन नहीं। यह कार्य तो प्रमुख रूप से निर्देशक का ही रहता है। वह उन गीतों को काट-छांट कर अथवा मंच के अनुपयुक्त गीतों को

हटाने का कार्य कर सकता है और प्रसाद के सभी गीत तो ऐसे हैं नहीं जो अभिनेय न हों। देवसेना, सुरमा और कल्याणी के द्वारा गाए गए गीत सर्वथा स्थल, मात्रा और पात्र तीनों ही दृष्टियों से उपयुक्त हैं। इनके अतिरिक्त प्रसाद के गीतों की विशेषता यह है कि वे केवल प्रेक्षकों के लिए ही नहीं लिखे गये, सहृदय पाठक भी तो उन्हें पढ़कर आनन्द-विभोर होते हैं। उन गीतों की भावुकता, कलात्मकता तथा साभिप्रायता आदि गुण प्रसाद के गीतों के गौरव को बढ़ाते हैं।

अब हम विवेचनीय नाटक के गीतों का विश्लेषण करेंगे। इस नाटक में कुल १३ गीत गाये हैं जिनमें एक गीत पुरुष के द्वारा, एक नेपथ्य से तथा शेष ११ स्त्रियों द्वारा गाये गए हैं। इन सभी गीतों में पृथक्-पृथक् मनोवैज्ञानिक का परिवेश होते हुए भी गीतात्मक सौन्दर्य बहुत बढ़ा-चढ़ा है और अधिकतर रंग-मंच की परिस्थिति के अनुकूल हैं। सम्पूर्ण अंकों में गीतों का विभाजन इस प्रकार है—

संख्या	अंक	नायक-नायिका	विशेष
१	प्रथम	सुवासिनी	ये दोनों गीत मगध सम्राट् के विलास-
२	प्रथम	राक्षस	कानन में गाए गए हैं।
३	द्वितीय	कार्नेलिया	एकांत में भारतीय संगीत
४	द्वितीय	अलका	एकांत बन्दीगृह
५	द्वितीय	अलका	पर्वतेश्वर के सामने
६	तृतीय	सुवासिनी	नन्द की आज्ञा से
७	चतुर्थ	कल्याणी	एकांत उपवन में
८	चतुर्थ	नेपथ्य से	प्रेमोत्तेजक लघुगीत
९	चतुर्थ	मालविका	अपने प्रिय चन्द्रगुप्त की
१०	चतुर्थ	मालविका	तुष्टि के लिए
११	चतुर्थ	मालविका	एकांत में प्रेम भावना का उच्छ्लन
१२	चतुर्थ	अलका	प्रयाण गीत
१३	चतुर्थ	सुवासिनी	कार्नेलिया सखी के कहने के अनुसार

उपर्युक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि इस नाटक के प्रथम तीन

अंकों में गीतों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, पर चतुर्थ अंक में आधे से भी अधिक गीत हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रथम तीन अंकों में नारीपात्र अभिनय की दृष्टि से केवल एक प्रधानता को प्राप्त कर सका है, पर चतुर्थ अंक में आकर तीनों ही प्रमुख नारी-पात्र सम्मिलित रूप से रंगमंच के निकट ही दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त कल्याणी का प्रथम तथा अन्तिम गीत तथा नेपथ्य का गीत भी सुनने को मिलता है जो किसी भी दृष्टि से अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। स्थिति की दृष्टि से इन सभी गीतों को पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. **नर्तकियों के गीत**—यद्यपि इस नाटक में नर्तकी रूप में कोई भी नारी पात्र नहीं दिखाई देता; परिस्थितिवश नर्तकियों का अभिनय उन्हें करना पड़ता है। इस प्रकार के गीत नाटक में ६ हैं—जो विलास कानन में सुवासिनी, मालविका व राक्षस द्वारा गाये जाते हैं अथवा उन्हें नन्द, चन्द्रगुप्त तथा कार्नेलिया की आज्ञा या इच्छा के रूप में गाया हुआ समझना चाहिए। इन गीतों में अस्वाभाविकता या अभिनेयता का दोष लगाना ठीक नहीं है, क्योंकि ये गीत तो दूसरे की तुष्टि अथवा आज्ञा के परिपालन के निमित्त ही गाये गये हैं।

२. **एकांत गीत**—चन्द्रगुप्त नाटक में इस श्रेणी में चार गीत आते हैं, जो पात्र-विशेष की मानसिक स्थिति एव उनके भावों की अभिव्यक्ति ही करते हैं। इन पर भी अस्वाभाविकता का दोष इसलिए नही लग सकता कि पात्रों की विशेष स्थिति की सूचना देते हैं। वैसे भी व्यक्ति जब भाव विशेष अथवा वियुक्तावस्था में होता है तो उसका हृदय गान में परिवर्तित हो जाता है। नाटक में इन गीतों की गायिकाएँ हैं—कार्नेलिया, अलका, कल्याणी और मालविका, जो पूर्णरूपेण सहृदय और भावुक हैं।

३. **नेपथ्य से**—इस प्रकार का केवल एक ही गीत है। ऐसे गीत परिस्थिति में उत्तेजना भरने के लिए गाये जाते हैं।'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला' नामक गीत राक्षस के हृदय में सुवासिनी के प्रति उठी हुई शंका को द्विगुणित कर देता है। अतः यह गीत अभिनय एवं परिस्थिति दोनों के ही अनुकूल पड़ता है।

४. **प्रयाण गीत**—नाटक में इस प्रकार का केवल एक ही गीत है, जो संवेत स्वर से मञ्च पर गाया जाता है। मञ्च पर ऐसे गीत भी प्रेक्षकों के

हृदय में उत्साह और उमंग की तरंगें पैदा करते हैं। क्रियाशीलता में आकर्षण बढ़ता हैं। राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत 'हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' नामक गीत चाणक्य के संकेत पर अलका मञ्च पर गाती है। अतः यह गीत भी रंगमञ्च की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल है।

५. अब केवल एक गीत बचता है जिसकी श्रेणी तो एकान्त गीत ही होना चाहिए पर उसका उद्देश्य नर्तकियों की भाँति परिस्थितियों में उत्तेजना पैदा करना ही है। इस गीत को अलका पर्वतेश्वर के प्रसाद में विचित्र ढंग से पंचनद नरेश के सम्मुख गाती है। मंच पर इस गीत के अभिनय से परिस्थिति को संबल मिलता है।

विषय की दृष्टि से इन सभी गीतों में ११ गीत—प्रेम, वेदना, सौन्दर्य और मनोदशाओं का अभिव्यंजन करने वाले हैं। अवशिष्ट दो गीत—'हिमाद्रि तुंग शृंग से···' तथा 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' देशभक्ति और राष्ट्रीयता से परिपुष्ट हैं। इन गीतों में आध्यात्मिकता, दार्शनिकता एवं भावात्मक सौन्दर्य का स्पर्श बहुधा मिलता है। प्रथम अङ्क में गाया गया सुवासिनी का गीत उसके कोमल हृदय और लज्जाशीलता की अभिव्यक्ति करता है। वह राक्षस को प्यार करती है पर लज्जा वर्ज देना चाहती है। सुवासिनी कुछ लज्जानुगुणता होकर ठिठकती है फिर उद्‌गारों को उगल ही देती है। उसकी यह अवस्था इन पंक्तियों में स्वतः ही अभिव्यक्त हो जाती है—

वेला विभ्रम की बीत चली रजनी गंधा की कली खिली ?
अब सांध्य-आकुलित बूकूल कलित हो क्यों छिपते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

इस गीत का पूर्वांश वातावरण की मनोरमता को प्रकट करता है और बाद का आधा अंश राक्षस व सुवासिनी की स्थिति को स्पष्ट करता है। सम्पूर्ण नाटक में यह गीत अनुपम है, इससे सुवासिनी की पूर्व स्थिति, तत्कालीन परिस्थिति, आन्तरिक प्रेमी भावना प्रकट होती है। इस गीत के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रसाद में पात्रगत मनोवैज्ञानिकता परखने की अपूर्व शक्ति थी। इसी अङ्क में दूसरा गीत राक्षस गाता है, जो उसके अन्तर्द्वन्द्व की सूचना देता है। सुवासिनी अपने गीत से 'सौन्दर्य' शब्द के सम्बोधन में राक्षस का

संकेत करती है तो राक्षस अपने गीत में 'आह' के रूप के सुवासिनी को प्रतीक रूप में मानता है। भावों की तरंग देखिए—

निकल मत बाहर दुर्बल आह ! लगेगा तुझे हँसी का शीत,
शरद् नीरव माला के बीच तड़प ले चपला-सा भयभीत।

इस प्रकार दूसरे और तीसरे अङ्क के गीतों का विश्लेषण किया जा सकता है, पर चौथे अङ्क में मालविका तीन गीत गाती है। वे सर्वथा परिस्थिति के अनुकूल हैं। वहाँ कर्त्तव्यनिष्ठ चन्द्रगुप्त अकर्मण्यता की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। प्रेमदेवी मालविका उसके आन्तरिक संघर्ष का अध्ययन करती है। प्रेमिका का सबसे बडा कर्त्तव्य यह होता है कि वह प्रेमी को पथ से विचलित न होने दे। इसी ध्येय में मालविका गीत गाती है जिससे चन्द्रगुप्त की मानसिक विषमता शान्ति लाभ करती है। साथ ही, चन्द्रगुप्त की अस्थिर मनोवृत्ति की ओर एक तीखा व्यंग्य भी मिलता है। 'मधुप' इसमें चन्द्रगुप्त का प्रतीक है। एवं मल्लिका एवं सरोजिनी—कल्याणी और कार्नेलिया की ओर संकेत करते हैं। इस गीत में कितने कौशल से मल्लिका, चन्द्रगुप्त को व्यावहारिक जीवन का पाठ पढ़ाती है। स्वयं ही देखिए उस गीत को—

मधुप कब एक कली का है।
पाया जिसमें प्रेम रस सौरभ और सुहाग
बेसुध ही उस कली से मिलता भर अनुराग
बिहारी कुंज गली का है।
कुसुम धूल से धूसरित चलता है उस राह,
काँटों में उलझा तदपि रही लगन की चाह,
बावला रंग रली का है।
हो मल्लिका, सरोजिनी या यूथी का पुंज,
अलि को केवल चाहिए सुखमय क्रीड़ा कुंज,
मधुप कब एक कली का है।

स्थानाभाव के कारण एक गीत का विवेचन करने के पश्चात् इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। इसी अंक के छठे दृश्य में एक प्रणय गीत या उद्बोधन गीत आता है। यह गीत राष्ट्रीय भावना से परिपुष्ट गीत के बिना

अलका का चरित्र अधूरा ही दिखाई देता है। उनका नेतृत्व एवं क्रान्तिभावना इस गीत में भरी पड़ी है। देश का चित्र इसमें सजीव हो उठा है। इसी गीत के आधार पर कहा जा सकता है कि अलका में जन-जन में क्रांति भरने की शक्ति अन्तर्निहित है। इस गीत की राष्ट्रीय भावना तत्कालीन देश की भावना का भी प्रतिनिधित्व कर रही है। इस गीत में नवयुग की जागरूक चेतना है। एक-एक शब्द भारतीयता के रस में डूबा हुआ प्रतीत होता है। वह गीत यह है--

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी इस नाटक की गीति-योजना में पूर्णरूपेण सफल हैं।

: १७ :

चन्द्रगुप्त : भाषा-शैली

प्रसाद जी युग के गहन मनीषी हैं। जिस प्रकार उन्होंने अपने युग के लिए सांस्कृतिक चेतना एवं भारतीय विचारधारा की व्यवस्था की आवश्यकता समझी उसी प्रकार युगानुरूप भाषा का सुदृढ़ गढ़ निर्माण करने के लिए भी उन्होंने सतत् प्रयत्न किया। उन्होंने अपने नाटकों के द्वारा इतिहास के पुनरुत्थान के लिए युगानुरूप चित्रण करना था। जिस युग का उन्होंने नाटकों में चित्रण किया है वह काल 'संस्कृत काल' नाम से जाना जाता है। उस युग' के किसी भी नाटक में प्रदेश के अनुसार भाषा का वैचित्र्य नहीं दिखाई देता। हां, पात्रों के व्यक्तित्व के अनुसार भाषा के प्रयोग में परिवर्तन दिखाई देता है। जैसे कुलीन और उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत बोलते थे, स्त्रियाँ और मध्यम वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते थे, निम्न श्रेणी के पात्र प्राकृत का मिला-जुला रूप बोलते थे। पर आज के युग में इस प्रकार की भाषा-विषमता सम्भव नहीं थी, उसमें भाषा की एकरूपता आवश्यक थी, फिर जबकि अतीत का उत्कर्ष भाषा और विचारों के माध्यम से ही दिखाना था। पुनः जब हमें अपने स्वर्ण-युग का प्रतिनिधित्व करना हो, तो किस प्रकार हम भाषा-वैषम्य से उसमें सजीवता ला सकते हैं। संस्कृत-युग के नाटकों की भाषा की यह अस्वाभाविकता भी खटकती थी कि समाज में यद्यपि नारियों को स्थान तो बहुत उच्च दिया गया था, वे शिक्षित मानी जाती थीं, उनमें दैवी शक्तियाँ भी जागरूक थीं फिर क्योंकर उनके मुख से संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं कराया गया ? उस समाज में तो सम्भव है ऐसी विषमता नहीं रही होगी, फिर नाटककारों ने अपनी रचनाओं में ऐसी विषमता क्यों भरी ? प्रसाद जी ने इन

समस्याओं का अध्ययन-मनन किया और उसका समाधान भाषा की एकरूपता में किया। हाँ, भाषा-परिवर्तन भी उनके नाटकों में मिलता है पर वह भाषा-परिवर्तन पात्रों के मनोविज्ञान के ऊपर आधारित है। इसलिए तो सारे पात्र नाटककार को मुट्ठी के खिलौने होते हुए भी, प्रसाद के पात्र अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व रखने में समर्थ हैं क्योंकि पात्रों को भाषा की श्रेणी स्वतः ही परिवर्तित होती रहती है।

प्रसाद के नाटकों पर रंगमंच की दृष्टि से दोष लगाया जाता है—भाषा की एकरूपता का। दोष का यह आधार लेते हैं कि सिकन्दर, सिल्यूकस, कार्नेलिया जैसे विदेशी पात्र कैसे ऐसी शुद्ध हिन्दी बोल सकते हैं? उन्हीं की संस्कृति, देश और परिस्थिति के अनुसार भाषा-प्रयोग होना चाहिये था। इसके विपरीत भाषा-प्रयोग का अपना दृष्टिकोण प्रसाद जी का पृथक् ही है। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषा का अजायबघर बनाना पड़ता है, जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों को इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है। इस पर जिनसे 'रंगमंच' शीर्षक निबन्ध लिखा हो, जिसमें उनके रंगमंचीय और भाषा सम्बन्धी विचार पूर्ण रूप से व्यक्त हैं, उस पर रंगमंचीय अज्ञानता और भाषा सम्बन्धी दोष कैसे लगाया जा सकता है। भाषा सम्बन्धी उन्हीं के विचार देखिए—

"भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं किन्तु प्रचुरता है जो पारसी स्टेज पर गाई गई गजल के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालियां पीटते हैं।...एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह से देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, वह बहुत परिमार्जित और कृत्रिम सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थी। वर्तमान युग की भाषा सम्बन्धी प्रेरणा कुछ वैसी ही है; किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटकों में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है तो वह भी स्वाभाविक या

वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों को राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए और इतने पर भी क्या यह नाटक हिन्दी की तरह ही रह जायगा ? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटकों के लिए ही है। मैं तो यह कहूँगा कि सरलता और क्लिष्ट पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होनी चाहिए किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं।"

उपरोक्त उद्धरण से प्रसाद के भाषा सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण हो जाता है। प्रसाद के सम्मुख हिन्दी के भविष्य-निर्माण का प्रश्न था, संस्कृत की उत्तराधिकारिणी होने के नाते उसकी एकरूपता का प्रश्न था, उसकी समृद्धि भारतीय एकता पर आधारित होनी थी। प्रसाद ने ऐसा करने के लिए ही अपने नाटकों में शुद्ध गरिमामयी हिन्दी का प्रयोग किया है। इस पर प्रसाद का युग मनोविज्ञात्त-युग था। वे देखते-देखते अपने युग के मनोविज्ञान की हत्या नहीं कर सकते थे; इसलिए उनकी भाषा में उसी मनोवैज्ञानिकता का प्रतिनिधित्व हुआ है, तभी तो प्रसाद की भाषा की सरलता और क्लिष्टता पात्रों की भावनाओं पर आधारित होकर प्रकट हुई है।

यहाँ हम चन्द्रगुप्त नाटक की भाषा का विश्लेषण करेंगे। इसमें प्रसाद जी ने अपने विचारों के अनुकूल ही पात्रों की विचारधारा के अनुसार ही भाषा का प्रयोग किया है। इसलिए पात्रों के संस्कारों अथवा मानसिक स्तर के अनुसार भाषा-प्रयोग देखने को मिलता है। इसी दृष्टि से प्रथमतः हम भी विचार करेंगे। सर्वप्रथम नाटक के प्रमुख पात्र चाणक्य को ही लें, संस्कृत भाषा का महान् विद्वान् चाणक्य, जो पौरुष और स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करना चाहता है, पूर्णरूपेण बौद्धिक उत्कर्ष लिए नाटक में दिखाई देता है। इस बात की मुख्य कसौटी उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा ही है। भाव और भाषा के प्रयोग के कारण ही यह प्रसाद नाट्य-साहित्य में अद्वितीय पात्र बन गया है। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रसाद जी भाव और भाषा के द्वारा अपने नाटकों में ऐसा रूढ़ पात्र निर्मित कर लेते हैं जो सम्पूर्ण

परिस्थितियों से टक्कर लेता हुआ गौरवमय जीवन व्यतीत करता है, चाणक्य भी एक ऐसा ही पात्र है। परन्तु भाषा कहीं भी उसे अव्यावहारिक नहीं होने देती, वरन् क्रमशः चारित्रिक गठन की खूबियां ही देखने को मिलती हैं। भाषा की संस्कृतमयता और एकरूपता के पीछे प्रसाद जी का वह दृष्टि-कोण कार्य कर रहा था जिसके आधार पर वे अभिनय को दर्शकों के लिये और भाषा को पाठकों के लिए मानते थे। चाणक्य जैसे बुद्धिनिष्ठ और संस्कृत भाषा के पारंगत ब्राह्मण के मुख से पाठक (और शिक्षित दर्शक भी। जब ऐसी भाषा सुनेंगे तो आश्चर्य कैसे हो सकता है। चाणक्य पर्वतेश्वर की राजसभा में, जहाँ के विद्वानों का समूह ही उपस्थित रहता है, इस भाषा का प्रयोग करता है—

"रे पददलित ब्राह्मणत्व ! देख शूद्र ने निगड़बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है। तब जल, एक-एक बार अपनी ज्वाला से जल ! उसकी चिंगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न होंगे।" शकटार जैसे विद्वान् मन्त्री की कन्या सुवासिनी से जब वह कहता है—"सुवासिनी, वह स्वप्न टूट गया—इस विजन वालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे भ्रूभंग ने उन्हें लौटा दिया", में अस्वाभाविकता क्या समझनी चाहिए। संस्कृत भाषा और व्याकरण के महान् पण्डित वररुचि से जब वह वार्तालाप करता है तब संस्कृतनिष्ठ भाषा बोलने में हानि किस बात की ? गांधार-राजकुमार आम्भीक के सम्मुख गुरुकुल के क्षेत्र में स्नातकों को संस्कृत पढ़ाने वाला आचार्य जब वह कहता है—"आह ! सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को भी ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है"—तो भाषा की अस्वाभाविकता का दोष क्यों कर ? ऐसी भाषा प्रयोग उसके पद की गरिमा को ही अभिव्यक्त करती है। पर वही ब्राह्मण जब जनता के सम्मुख बोलता है। मगध दरबार के सम्मुख वह कहता है—"मगध के स्वतन्त्र नागरिकों को बधाई है। आज आप लोगों के राज्य का नवीन जन्म-दिवस है। स्मरण रखना कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है। परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहां

दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है।" इस प्रकार उसकी भाषा में उसकी मनोवैज्ञानिक कुशलता ही प्रकट होती है, भाषा-दोष नहीं।

दूसरी श्रेणी की भाषा 'चन्द्रगुप्त' नाटक में उन पात्रों की है जो राज्य-दरबार से सम्बन्धित है और सुरक्षित भी हैं। इनमें चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, शकटार, वररुचि, कल्याणी, आम्भीक, पर्वतेश्वर आदि हैं। सिकन्दर और सिल्यूकस आदि दो विदेशी पात्र हैं, पर उनकी भी सुशिक्षा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता, अतः उनके मुख से भी शुद्ध भाषा का प्रयोग कराया गया है। अन्य पात्रों में चन्द्रगुप्त, अलका और सिंहरण पूर्ण रूप से चाणक्य के अनुयायी हैं। अतः गुरु की संगति का इतना भी प्रभाव नहीं होगा कि वे शुद्ध भाषा बोल सकें, जबकि जनता और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व उन्हें करना है। चन्द्रगुप्त उत्साही युवक है अतः उसकी भाषा में तत्समता का नया-नया जोश होना ही चाहिये। तक्षशिला गुरुकुल में विद्यार्थी चन्द्रगुप्त जब ऐसी तत्सम भाषा बोलता है—"ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतन्त्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता है। वह क्या राजकुमार? खड्ग का कोश में स्थान नहीं है क्या?" तो ऐसे प्रयोगों की नाक-भौं टेढ़ी करने की क्या आवश्यकता है प्रेम की शीतल स्मृति में राजकुमारी कल्याणी से वह इतनी सरल भाषा भी तो बोलता है—'हा! देवी! पांच वर्ष तक्षशिला में रहने के कारण यहां के लोगों को पहचानने में विलम्ब होता है मैं जिन्हें किशोर छोड़कर गया था, आज वे तरुण दिखाई दे रहे हैं।' जीवन-संग्राम से थके हुए चन्द्रगुप्त के निम्न कथन में किसी प्रकार अस्वाभाविकता नहीं हो सकती—"विजयों की सीमा है किन्तु अभिलाषाओं की नहीं। मन ऊब-सा गया है। झंझटों से घड़ी भर अवकाश नहीं।" पर जब वह सम्राट् होकर विद्वान् ब्राह्मण चाणक्य से उत्तेजित होकर बात करता है तो भाषा की तत्समता होनी चाहिए। देखिए—यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।"

सिंहरण और अलका ये दोनों स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाले और भावुक

पात्र हैं। दोनों की भाषा अवसरानुकूल ही है। जब ये प्रेम-सम्बन्धी बातें करते हैं तब भाषा की स्वाभाविक स्निग्धता उनमें दिखाई देती है—"मेरा सिर घूम रहा है। अलका ! तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी। अच्छा होता इससे पहले ही मैं न रह जाता।" "मालव, देश की स्वतन्त्रता तुम्हारी आशा में है।" पर जनता के बीच में जब अलका भाषण करती है तो भी भाषा जनसमूह के मानसिक स्तर के अनुकूल ही है। इसी प्रकार कल्याणी राजकुमारी है, स्वत्व का उसे गौरव है, प्रतिशोध लेने की उसमें भावना है। परिणामस्वरूप कार्य करने की प्रेरणा भी। यह उसकी भाषा से स्पष्ट रूप से स्थान-स्थान पर प्रकट होती है। देखिए; एक राजकुमारी के रूप में, उससे विवाह सम्बन्ध ठुकराने वाले राजा पर्वतेश्वर से वह कहती है—'जाती हूं क्षत्रिय पर्वतेश्वर ! तुम्हारे पतन में रक्षा न कर सकी, बड़ी निराशा हुई।" कथन में संक्षिप्तता होते हुए भी एक-एक शब्द से क्षोभ प्रकट हो रहा है। आम्भीक एक कायर और संकीर्ण मनोवृत्ति का पात्र है अतः उसकी आन्तरिक अकर्मण्यता और स्वार्थपरता दिखाई पड़ती है। उसकी भाषा में संबल और निष्ठा नहीं दिखाई देती, तभी तो वह सम्पूर्ण नाटक में दो-तीन वाक्यों से अधिक नहीं बोल पाया है। देखिये—"नहीं पिताजी, आपके राज्य में एक भयानक षड्यन्त्र चल रहा है और तक्षशिला का गुरुकुल उसका केन्द्र है। अलका उस रहस्यपूर्ण कुचक्र की कुन्जी है।"

तीसरी श्रेणी के वे पात्र नाटक में आते हैं जो अत्यन्त भावोद्वेग के वशीभूत होकर बातचीत करते हैं। इनमें कार्नेलिया, मालविका, सुवासिनी, नन्द और राक्षस आदि हैं। इनकी भाषा में भावुकता होने के कारण या तो अत्यन्त कोमलता-स्निग्धता है अथवा उत्तेजनापूर्ण संवेग है। इनके भाषागत भावों से ही इनके चरित्र की हीनता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है। स्थान और अवसर के अनुकूल ही इनकी भाषा प्रयुक्त हुई है। प्रेम की बलिवेदी पर एकनिष्ठ प्रेयसी मालविका जब न्यौछावर होने जा रही है तो एकान्त में कहे गये उसके स्वगत-कथन में कितनी वेदना की व्यंजना निम्न भाषा-प्रयोग में प्रकट हो रही है—

"जाओ प्रियतम ! सुखी जीवन बिताने के लिए, और मैं रहती हूं चिर-

दुःखी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है और मरण है उसका अटल उत्तर।" इसी प्रकार अन्य पात्रों की भाषा के उदाहरण, उनकी परिस्थिति और मानसिक वातावरण की अनुकूलता के दिये जा सकते हैं।

उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं हैं कि प्रसाद जी ने हिन्दी भाषा का भविष्य देखा है। प्रसाद जी ने राजनैतिक कुचक्रों में पड़कर भाषा का स्वरूप विकृत नहीं किया है। ऐतिहासिक चित्रण करने वाले एवं भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रसाद के नाटकों में यदि भाषा के खिचड़ीपन का प्रयोग करते तो निश्चित रूप से भारतीय आत्मा क्षत-विक्षत होती। विदेशी पात्रों के भाषा-प्रयोग के विषय में केवल यही कहना है कि वे भी दाण्डायन के आश्रम में सद्भावना से आ चुके हैं तो अवश्य ही भारत की भाषा का अच्छा ज्ञान रखते होंगे। कार्नेलिया तो भारतीय संगीत और रामायण का अध्ययन भी तो करती है, फिर शुद्ध भाषा बोलती है तो क्या हानि है? कवि हृदय पूर्ण वार्तालाप करते हुए विदेशी पात्र कहीं भी नहीं दिखाई देते। इस प्रकार प्रयोग की दृष्टि से चन्द्रगुप्त नाटक की भाषा भाव की अनुरूपिणी ही दिखाई देती है। यहाँ हम निस्सन्देह कहते हैं कि चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद जी की भाषा सर्वथा रसनिष्पत्ति के अनुकूल रही है, पर जो लोग भाषा की सिद्धि मुहावरों के प्रयोग और विदेशी शब्दों के अथवा प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों की बहुलता के आधार पर बताते हैं, उन्हें 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भाषा में अव्यावहारिकता का दोष दिखाई देगा ही, इसके लिए नाटककार उत्तरदायी नहीं होगा, वरन् स्वयं उनका मानसिक स्तर ही।

श्रेणी-विभाजन की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भाषा भी दो भागों में विभक्त की जा सकती है—१. संस्कृतनिष्ठ भाषा और २. व्यावहारिक भाषा। प्रथम प्रकार की भाषा पात्रानुकूल, अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण करने में स्वगत-कथनों में प्रायः मिल ही जाती है। तत्सम शब्द-बहुल एक उदाहरण देखिए—"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लौह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुषी सी विजयमाला हाथ में लिए उस सुन्दर नील लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर हृदय मयूर से नाचेंगे।" अन्य नाटकों की तुलना में 'चन्द्रगुप्त' नाटक में इस प्रकार की भाषा के नमूने

कम ही देखने को मिलते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दूसरे प्रकार की भाषा पात्रों की मनोदशा के अनुसार प्रारम्भ से अन्त तक देखने को मिलती है। पर इस प्रचलित भाषा में प्रचलित विदेशी शब्दों और मुहावरों का अभाव ही है; फिर भी भाषा में पूर्ण प्रवाह देखने को मिलता है क्योंकि वाक्य छोटे-छोटे और भावानुकूल हैं। वाक्य-रचना संयत और व्याकरणानुकूल है। साराँश में हम कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त नाटक की भाषा तत्समता की एकरूपता रखते हुए भी मनोवैज्ञानिक अनेकरूपता अपने में समाहित किये हुए हैं। जिसमें भावों की गतिशीलता तो सर्वत्र देखने को मिलती है। बनारसी प्रभाव के हल्के स्पर्श से भाषा में और मधुरता ला दी है। इतना होते हुए भी भाषा अपने में पूर्ण है। अतः हिन्दी के विद्यार्थियों और अभ्यस्त शिक्षितों के लिए इसमें व्यावहारिकता नहीं दिखाई दे सकती और जो हिन्दी की प्रकृति-प्रवृत्ति नहीं जानते अथवा जिनमें साहित्यिक स्पर्श व संस्कार नहीं है, वे कितनी ही खिचड़ी भाषा प्रस्तुत करने पर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

'चन्द्रगुप्त' नाटक की शैली भी भाषा की भाँति ही संस्कृतनिष्ठ है। नाटक-रचना में प्रसाद जी का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं रहा है, वरन् नाटकों के माध्यम से उनका मुख्य उद्देश्य बौद्धिक क्षुधा-तृप्ति ही रहा होगा। इसलिए उनके नाटकों की शैली जनता के अनुकूल न पड़कर शिक्षित वर्ग के लिए ही कही जा सकती है, पर भाव-चित्रण के अनुसार उसे भावात्मक एवं गवेषणात्मक ही कहेंगे जिसमें घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व चित्रण सजीव बन पड़ा है। विषय-वस्तु खोजपूर्ण होने के कारण शैली को भी गम्भीर कह सकते हैं क्योंकि उस पर प्रसाद जी के दार्शनिक विचारों की गहरी छाप लगी है। नियतिवाद और कर्मवाद दोनों के समन्वय ने विषय को और गहन बना दिया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के कवि-हृदय के मधुर स्पर्श ने उसमें अपूर्व कोमलता का भी सन्निवेश किया है। स्थान-स्थान पर प्रयुक्त काव्यपूर्ण उक्तियाँ सूक्तियाँ-सी बनकर साहित्य जगत् में प्रचलित होने लगी हैं। कुछ कथन तो सूत्र कोटि में ही आ गये हैं, जिनकी व्याख्या आवश्यक हो जाती है। प्रसाद जी ने जब भावों का चित्रण किया तब तो स्वतः ही वाक्य छोटे-छोटे और सरल

होते हैं। रणभूमि में प्राणोत्सर्ग करने वाले भारतीय वीर पर्वतेश्वर का भावोद्‌गारों का दृश्य देखिए—

"सेनापति ! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं।······ बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसे, सारी गज-सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असम्भव है। धर्म युद्ध में प्राण-भिक्षा माँगने वाले भिखारी हम नहीं।' अतः कहा जा सकता है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भाषा-शैली प्रसाद जी की मनोवृत्ति, रुचि और विचारधारा के सर्वथा अनुकूल बन पड़ी है।

: १८ :

चन्द्रगुप्त : शैली समन्वय

प्रसाद जी ने संस्कृत नाटकों के साथ ही प्राचीन भारतीय-नाट्यशास्त्र का भी गम्भीर अनुशीलन किया है, तो इसके अतिरिक्त अपने से पूर्व बंगला की नाट्यशाला के माध्यम से आपने पाश्चात्य नाट्य टेकनीक का भी मन्थन किया है और पारसी कम्पनियों द्वारा लिखाये गये एवं अभिनीत नाटकों को भी प्रसाद जी ने सिंहावलोकित किया है। इन सभी की रचना-पद्धति का घनात्मक प्रभाव प्रसाद के नाटकों पर हुआ। परिणामस्वरूप शैली-समन्वय स्वाभाविक है। प्रतिक्रिया यह हुई कि प्रसाद जी ने भारतीय नाटक-सिद्धान्तों के आधार पर नवीन शैली में नाट्य-रचना करना अपना उद्देश्य बनाया या यों कहें कि वे भारतीय आत्मा को, भारतीय तत्वों के साथ पाश्चात्य स्पर्श देकर नाटक के बाह्य को मनोहारी बनाने का संकल्प लेकर चले हैं।

'दशरूपक' व 'साहित्यदर्पण' के अनुसार प्राचीन भारतीय नाटकों के प्रमुख रचना तत्व है—वस्तु, नेता और रस; सहायक तत्व हैं, जो इन्हीं प्रमुख तत्वों के उप-विभाग कहे जा सकते है—सुखान्त होना, आदर्श और यथार्थ का समन्वय होना तथा कविता को नाटक का अविभाज्य अंग समझना। प्राचीन नाटकों में नेता पात्र उच्चकुल से सम्बन्धित होते थे। उनमें रंग मंच पर कुछ दृश्य वर्जित भी हुआ करते थे जैसे युद्ध, मृत्यु, भोजन, घोरतम शृंगार आदि। वर्जित दृश्यों के सम्बन्ध में पं० उदयशंकर के शब्द भिन्न परिस्थिति का पूर्ण द्योतन करते हैं—"मृत्यु का दृश्य गर्ह्य अत्यन्त भयावह होने के कारण सुकुमारी राजकन्याओं एवं रानियों को भयविह्वल न कर दें और मनोरञ्जन विषाद में न परिणत हो जाएँ इसलिए वर्णित कर दिया गया था। एक भावना इसके मूल में यह दिखाई देती है कि नाटक के मूल में लोक-कल्याण एवं मनोरञ्जन की प्रवृत्ति काम कर रही है। मृत्यु जीवन

के परिवर्तन का अत्यन्त भयावह व्यापार है। स्वाभाविक होते हुए भी रंगमंच पर उसको न दिखाने का सिद्धान्त बनाना इसलिए उपादेय भी है। यही कारण है कि दुःखान्त नाटकों का प्रचार हमारे यहाँ नहीं हुआ। एक कारण और भी स्पष्ट है कि जीवन के चित्रण द्वारा गुणों का उत्थान और अवगुणों का नाश; जीवन में यौवन जन्य उचित शृंगारिकता का पोषण अथवा अध्यात्म द्वारा मुक्ति। मुक्ति के लिए नाटकों की रचना कभी नहीं हुई। इसलिए वीर, हास्य और शृङ्गार द्वारा जीवन को स्वस्थ बनाने की चेष्टा मानी गई।'' यह सिद्धान्त प्रसाद के अधिकांश नाटकों में भी काम करता दिखाई देता है। कविता के माध्यम से प्राचीन नाटकों में कल्पना, भावुकता और अतिरंजना भी समाविष्ट रहती थी, यह प्रवृत्ति प्रसाद में भी है। प्राचीन प्रभाव के कारण ही प्रसाद जी यथार्थता की ओर अधिक उन्मुख हैं। क्रियाशीलता की दृष्टि से बाह्य संघर्ष प्रमुख माना जाता था और रंगमंच के संकेत मात्र ही रहा करते थे। प्रसाद जी ने भी अधिकांश नाटकों में यही धारणा अपनाई है।

दूसरे पक्ष में प्रसाद जी अपने नाटकों को आधुनिक युग के घनात्मक प्रभावों से बचा नहीं सके हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यदि उनके नाटकों की आत्मा भारतीय है तो उनका शरीर विधान तो (शरीर विधान न सही तो उस शरीर विधान में प्रभावक स्पर्श तो) निश्चित रूप से पाश्चात्य ही है। पद्यात्मकता की अधिकता एवं लम्बे-लम्बे कथोपकथनों एवं स्वगत-भाषणों की योजना इसी उदाहरण के स्वरूप बताए जा सकते हैं। अङ्कों और दृश्यों का विभाजन भी आधुनिक प्रभाव का ही द्योतक है और इसी नवीनता के वशीभूत हो कहीं-कहीं मञ्च पर उन्होंने बध का दृश्य भी दिखाया है। नन्द, शकराज, रामगुप्त मञ्च पर ही तो मारे जाते हैं। इसी नवीन ग्रहण के द्वारा प्रसाद ने आधुनिक प्रवृत्ति की ओर उदारता का वर्णन किया है पाश्चात्य प्रभाव में लिखे गये आधुनिक नाटक संघर्ष सक्रियता और समष्टिभाव से पुष्ट होते हैं। इन पश्चिमी नाट्य तत्त्वों का समावेश प्रसाद के नाटकों में भली प्रकार हुआ है। इन तीनों तत्त्वों का चरम वैभव स्कन्दगुप्त, 'चन्द्रगुप्त' और ध्रुवस्वामिनी नाटकों में देखने को मिलता है। यथार्थवादी पृष्ठभूमि पाश्चात्य नाटक का प्रमुख अंग है, तो इसके स्पर्श का दिग्दर्शन प्रसाद के नाटकों में स्थान-

स्थान पर हुआ है। तभी तो वे मानव-जीवन की स्वाभाविकता का अंचल नहीं छोड़ते हैं। यद्यपि पात्रों के विशिष्ट गुण भारतीय नाट्य पद्धति के अनुसार ही हैं तदापि जीवन के स्वाभाविक पात्रों के चयन की ओर उनकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। कई नाटकों में पात्रों के चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रसाद के विशिष्ट गुणों का मेरुदण्ड बन गया है। साहित्यिक वातावरण निर्माण करने में तो वे पटु ही हैं। पात्रों के द्वन्द्वमूलक और चारित्रिक वैचित्र्य के कारण पाश्चात्य नाट्य-शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। देशकाल की अन्विति अथवा संकलनत्रय की उन्मुखता सामान्य रूप से पाश्चात्य शैली के गुणों को ही पुष्ट करते हैं।

प्रथम पक्ष की पुष्टि तो प्रसाद के नाटकों में सर्वसिद्ध है ही। प्रसाद के नाटक इस परिभाषा के 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसंधिसमन्वितम्' के सर्वथा अनुकूल हैं। अधिकांश नाटकों के नायक भारतीय नायकोचित धीरोदात्तता से परिपूर्ण हैं। प्रमुख रूप से रसानुभूति का रस सिद्धि तथा उद्देश्य की दृष्टि से तो प्रसाद के नाटक स्वतः सिद्ध—सिद्ध हैं। अधिकांश नाटकों में शृङ्गार से से पुष्ट वीर रस ही अनुभूत होता हैं। आधुनिक क्रांति की भावना भी प्रसाद के नाटकों में मुखरित होती है, कहीं-कहीं तो स्पष्ट रूप से आधुनिक समस्याओं का समाधान ही उनमें सुनाई पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि प्रसाद के भारतीय नाट्य शैली से पुष्ट नाटकों में पाश्चात्य शैली के साथ आधुनिकता के सम्मिलन ने सुखद समन्वय स्थापित किया है तभी तो देश रक्षा के लिए अंग्रेजों के साथ भारतीयों की क्रान्तिभावना अधिकांश नाटकों के पात्रों में देखी जाती है और आधुनिक युग गो मुख्य प्रवृत्ति 'नारी सक्रियता' के रूप में दिखाई देती है। बौद्ध-ब्राह्मण धर्म के संघर्ष में हिन्दू-मुस्लिम विरोध की अच्छी झलक है। ध्रुवस्वामिनी में पुनर्विवाह और नारी-समस्या से आधुनिक युग की पुष्टि होती हैं।

अब हम चन्द्रगुप्त नाटक में दोनों शैलियों के समन्वय पर विचार करेंगे। सर्वप्रथम रस की दृष्टि से ही विवेचना अनिवार्य है। भरतमुनि ने नाटकों में रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संगोग से मानी है। चन्द्रगुप्त नाटक में शृंगाराश्रित वीर रस ही प्रधान है। उसमें कहीं-कहीं

शान्त रस की अनुभूति भी हो जाती है। शृंगार और वीर रस के क्रमशः स्थायी भाव उत्साह और रति की उद्बुद्धि नाटक में हुई है। कहीं-कहीं (सुवासिनी, मालविका आदि के प्रसंगों में) शृंगार की प्रमुखता के कारण वीर रस का अंग बनकर आया है, अंगी शृंगार रस ही है। चन्द्रगुप्त नाटक में वीर रस के आलम्बन पुरुष पात्र हैं। चन्द्रगुप्त, सिंहरण, सिकन्दर, पर्वतेश्वर आदि तथा स्त्री पात्रों में कल्याणी और अलका। उद्दीपन स्वरूप तो अनेक घटनाएँ गिनाई जा सकती हैं जैसे नन्द का अत्याचार, शकटार का पृथ्वीपटल को फाड़कर अन्धकूप से बाहर आना, पर्वतेश्वर की पराजय से यवन सैनिक का उत्साहित होना, मौर्य पति-पत्नी को बन्दीगृह में डालना। अनुभाव का अनुभव हमें विभिन्न पात्रों के द्वारा कथित वीरोक्तियों में एवं चाणक्य की प्रतिज्ञा में होता है। संचारी भावों की झलक तो धैर्य, निर्भीकता, औत्सुक्य एवं स्मृति रूप में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। शृंगार रस के आलम्बन के रूप में—चन्द्रगुप्त नाटक के विभिन्न पात्रों के प्रासंगिक कथानकों में उसकी पुष्टि देखने को मिलती है। पर शृंगार रस की पूर्ण पुष्टि इसलिए देखने को नहीं मिल पाती कि राजनैतिक घटनाओं की धर-पकड़ में शृंगार का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। चाणक्य और दाण्डायन की परिस्थितियों में शान्त रस की अनुभूति भी होती है। चाणक्य की अन्तिम प्रतिक्रिया तो पूर्णरूपेण शान्त रस की पुष्टि करती है। उसमें दाण्डायन के आश्रम में चाणक्य का पहुंचना उद्दीपन विभाव, संघर्षों से तटस्थ होकर संन्यास ग्रहण करने की प्रबल इच्छा अनुभाव तथा हर्ष, निर्वेद, धैर्य आदि उसी शान्त रस के संचारी भाव हैं। नाटक में प्रयुक्त गीत-पद्य भी रस विशेष का पोषण करते हुए पाये जाते हैं।

दूसरा प्रमुख तत्त्व है नायक, जिसकी समाहिति भी संस्कृत नाट्य परिपाटी के अनुकूल ही है। संस्कृत नाट्य-शैली के अनुसार नायक लोकविश्रुत, दैवी प्रतिभा वाला और उच्चकुलोद्भव धीरोदात्त होना चाहिए। चन्द्रगुप्त मौर्य में ये सभी गुण मिलते हैं। उच्चकुलोद्भव अथवा उसमें क्षत्रियत्व की प्रतिष्ठा प्रसाद ने अनुसंधानिक ढंग और सबल तर्कों से की है। उसमें नायक बनने के सभी गुण हैं। साथ ही, उसमें प्रेम पक्ष की शिथिलता दिखाकर आधुनिकता

का स्पर्श करते हुए स्वाभाविकता भी सन्निहित की गई है। यही चन्द्रगुप्त के चरित्र में पाश्चात्य प्रभाव है—बड़े-से-बड़े चरित्र में भी मानवीय दुर्बलताएँ कर्त्तव्य से ऊपर नहीं उठ पातीं। चाणक्य, सिंहरण और अलका इसी से प्रभावित भारतीयता से पूर्ण आदर्शवादी पात्र हैं। पर इनके ऊपर व्यक्ति-वैचित्र्य का प्रभाव पाश्चात्य नाट्यशैली की अनुकूलता मानी जा सकती है। वैसे इन आदर्श पात्रों में व्यक्ति-वैचित्र्य भी प्राचीन संस्कृत नाटकों के दैवी पात्रों की प्रतिरूपता समझनी चाहिए जो भारतीय 'कर्मयोग' के अधिक निकट है।

नाटक का तीसरा मुख्य तत्त्व कथानक है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के कथानक की योजना करते समय प्रसाद जी के सम्मुख निश्चित रूप से भारतीय और पाश्चात्य दोनों शैलियाँ रही होंगी। यदि इसमें संस्कृत बाह्य शास्त्रीय ढंग की कथानक की अर्थ प्रकृतियाँ, कार्य अवस्थाएँ और सन्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं तो इन्हीं के समक्ष खड़ी हुई पाश्चात्य समालोचकों की आरम्भ, विकास अथवा संघर्ष (Rising action) चरम सीमा (Climax), परिवर्त्तनीय अवस्था (Turning Point) और फल (Calastrophe) नाट्य कसौटियाँ भी खोजने पर उपलब्ध हो जाती हैं। अतः कथानक की दृष्टि से चन्द्रगुप्त नाटक में दोनों शैलियों का समन्वय स्पष्ट है।

भारतीय नाटक सुखान्त ही होते हैं जबकि पाश्चात्य नाटक प्रायः दुःखान्त ही होते हैं क्योंकि उनमें बीच में ही बहुत बड़ा संघर्ष दिखा दिया जाता है। अन्त में दुःखवाद की झलक नहीं डाली जाती, जिससे दर्शक या पाठक उद्विग्न हुए घर को लौटें या पाठक निराशा के कारण जीवन-संग्राम से परामुख हों। इसलिए उन नाटकों में आदर्श का तत्त्व अधिक मात्रा में होता था। यही बात प्रसाद के नाटकों मे होती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी यही प्रवृत्ति है कि मध्य में तो पर्याप्त संघर्ष की काली घटायें छायी रहती हैं पर अन्त में सुखद छाया ही पाठकों और दर्शकों पर बनी रहती है।

संस्कृत के नाटकों में मानव का प्रकृति से पूर्ण सान्निध्य दिखाया जाता है और उस प्रकृति में भी सहानुभूति की भावना उड़ेली जाती थी जिसमें मानव के प्रति सहयोग-स्पष्ट झलकता था। प्रसाद जी भी छायावादी रहस्यवादी

कवि थे अतः ब्रह्मस्वरूपा प्रकृति की झाँकी उनकी कृतियों में भली-भाँति झलकती रहती है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की देवसेना तो प्रकृति-दुहिता ही है। चन्द्रगुप्त में घटनाधिक्य होने के कारण प्रकृति-चित्रण के अवसर कम ही आये हैं। फिर स्थान की अनुकूलता पाकर कहीं-कहीं उनकी वह रहस्यवादी प्रकृति प्रेम की भावना टपक ही पड़ी है। ग्रीक शिविर में विदेशी नारी कार्नेलिया के मुख से प्रकृति-प्रेम का संस्पर्श कराके उस पर अमिट छाप छोडी है। देखिए—"इस संध्या दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सुचना दी हैं सरला सन्ध्या पक्षियों के नाद से शान्ति को बुलाने लगी है। देखते-देखते ही एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदय होने लगे हैं। जैसे प्रकृति अपनी सृष्टि की रक्षा, हीरों की कील से जड़ी हुई काली ढाल लेकर कर रही हो और पवन किसी मधुर कथा का प्यार लेकर मचलता हुआ जा रहा है।"

अब चन्द्रगुप्त में पाश्चात्य नाट्य-शैली का विवेचन भी अभिधेय है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त में दो प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं—संघर्ष और विषादन। यह ऐलिजावेथ कालीन पाश्चात्य नाटकों का अनुकूल प्रभाव शीघ्र ही बंगला के माध्यम से हिन्दी में स्वीकार किया गया था। पाश्चात्य नाटकों में संघर्ष भी दो रूपों में कार्यशील होता दिखाई देता है—एक तो बाह्य संघर्ष जो सामान्य है, और दूसरा आन्तरिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व यह चारित्रिक प्रधानता की विशिष्टता लिए रहता है। चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद जी ने ये दोनों ही संघर्ष अपनाये हैं। बाह्य संघर्ष के रूप में विदेशियों के आक्रमण, प्रान्तीय कलह, गृहकलह का चित्रण है। विदेशियों के आक्रमण के रूप में सिकन्दर और सिल्यूकस के आक्रमण हैं प्रान्तीय कलह आम्भीक, पर्वतेश्वर और नन्द की संकीर्णतामूलक प्रवृत्ति कही जा सकती है। गृह कलह के रूप में आम्भीक और अलका की, चाणक्य और राक्षस की हल्की प्रवृत्तियों को लिया जा सकता है। पाश्चात्य विभिष्ट प्रभाव तो अन्तर्द्वन्द्व का है जो प्रसाद जी ने कुशलता से अपनाया है। यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर अथवा आन्तरिक और बाह्य विषमताओं में फँसकर पात्र का संघर्ष शिकार होता है। इसके वशीभूत होकर व्यक्ति का चरित्र शनैः-शनैः उत्थान और पतन की ओर जाता है। अचानक पतन अथवा उत्थान की भावना इसके द्वारा समाप्त हो जाती है।

चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य, राक्षस, कार्नेलिया और कल्याणी पात्र ऐसे ही अन्तर्द्वन्द्व प्रधान हैं। चन्द्रगुप्त में आये इस मानसिक संघर्ष को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) प्रणय सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्व; (२) प्रणयेत्तर अन्तर्द्वन्द्व। चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व दोनों प्रकार का है। इन्हीं के बीच उसका चरित्र विशिष्ट बन पड़ा है दूसरे प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व में राजनीति से सम्बन्धित प्रतिक्रियाएँ पात्रों के मन में कार्यशील होती रहती हैं। चाणक्य के चरित्र में दोनों प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त नाटक के एक-दो पात्र को छोड़कर हल्की-सी अन्तर्द्वन्द्व की झलक सभी पात्रों के चरित्र में मिलती है। पश्चिम के इस प्रभाव ने प्रसाद के नाटकों में स्वाभाविकता भर दी है; विशेष रूप से चन्द्रगुप्त नाटक में।

पश्चिम की दूसरी देन है 'विषादन'। विषाद अथवा करुणा की भावना प्राचीन संस्कृत-नाटकों में भी रही है, पर उसका उत्कर्ष केवल नाटकों के मध्य में ही देखने को मिलता है। उनकी समाप्ति सर्वथा 'प्रसादान्त' अथवा सुखान्त ही रही है। चन्द्रगप्त नाटक के मध्य में जो विषाद और करुणा की झलक है वह पश्चिम के ही प्रभावस्वरूप माननी चाहिए क्योंकि करुण रस की कोटि में वह नहीं आती है, पर अब तो इसका स्वरूप प्राचीन नाटकों के अनुसार ही है। चन्द्रगुप्त नाटक में विषाद की झलक असफल प्रेम के रूप में दिखाई देती है। मालविका का प्रसंग इसी प्रकार का है। प्रेम की वेदी पर उसके आत्म-बलिदान से जो निराशा और विषाद की अमिट छाप दिखाई देती है वह अवश्य ही द्रावक सिद्ध होती है। प्रसाद में वह विषाद भावना नियतिवाद के समर्थन के कारण आई है जिसे शेक्सपियर ने ज्यों-का-त्यों माना है। नन्द, कल्याणी, मालविका आदि के निधन में यह 'नियतिवाद' ही कार्य कर रहा है। चाणक्य ही एक चरित्र ऐसा है जो नियतिवाद को 'सुगतिवाद' में परिवर्तित करने में सिद्ध होता है। तब यहाँ उसके व्यक्ति-वैचित्र्य में पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद पोषक शक्ति दिखाई देती है। प्राचीन संस्कृत नाटकों के में भी नाटकों के चरित्रों में इस प्रकार का व्यक्तित्त्व मिलता ही है।

वर्जित दृश्यों का अभिनय कराना भरत के नाट्य-शास्त्र में सर्वथा अशोभनीय और कुप्रभाव का द्योतक होने से दोष की कोटि में आता है। पर

प्रसाद जी ने कल्याणी, पर्वतेश्वर, नन्द आदि का वध कराके उक्त वर्जन की सीमा को तोड़ा है। यह पाश्चात्य नाट्यशैली की प्रभावान्विति ही कही जा सकती है।

भाषा की शुद्धि और अशुद्धि के प्रयोग के रूप में संस्कृत नाटकों के पात्रों के दो विभाग कर लिए जाते थे। जो उच्चकुलोद्भव पात्र था अथवा नायक है वह शुद्ध संस्कृत बोलता था तथा जो निम्न श्रेणी का अथवा निम्न वर्ग का होता था वह प्राकृत भाषा का प्रयोग करता था। स्त्रियाँ भी प्रायः प्राकृत में बोलती थीं अथवा प्रान्तों के अनुसार अपभ्रंश भाषा बोलती थीं। किन्तु भाषा के प्रयोग में प्रसाद जी ने इस प्रकार का विभाग स्वीकार नहीं किया। वे नाटकों की भाषा को आभूषणों की पिटारी नहीं बनाना चाहते थे, जो पाठक पृथक्त्व से सबको विमुग्ध करे। उन्होंने तो 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भाषा को पात्रों की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रयोग कराया है। यदि कोई पात्र कोमल विचारों और श्रृङ्गार भावना के अनुकूल है तो उसकी भाषा कोमलता, सरसता और माधुर्य गुण से पूर्ण दिखाई देती है जैसे मालविका के कथनों में। पात्रों की वीरोक्तियों में भाषा प्रवाहपूर्ण, ओजगुण सम्पन्न दिखाई देती है, पर हैं सभी शुद्ध और परिष्कृत।

'चन्द्रगुप्त' नाटक का कवित्व भी पाश्चात्य और भारतीय शैली के समन्वय की ही पुष्टि करता है। इस कवित्व की भावना में मनोरंजन कराते हुए शिक्षा देने का उद्देश्य निहित रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की रचना में भारतीय नाट्य तत्वों और उद्देश्य व्याप्त रस की भावना का 'ताना' लेकर पाश्चात्य नाट्य विचारों के 'बाना' से एक सुन्दर पट विनिर्मित किया है, पर इस 'पट' के ऊपर पुनः भारतीय प्राचीन संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्रों का रंग भी निखरा दिखाई देता है। अन्त में, 'चन्द्रगुप्त' की रचना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने समय के साथ समन्वय के घनात्मक पग भी आगे बढ़ाए हैं।

: १६ :

चन्द्रगुप्त : अभिनेयता

पाठकों और दर्शकों की दृष्टि से नाटक के दो पहलू होते हैं—श्रव्य और दृश्य। पर उसका दूसरा पहलू ही अधिक महत्त्व रखता है। इस कसौटी के आधार पर सिद्धान्ततः तो नाटक श्रव्य और दृश्य दोनों ही कोटियों में आता है, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में वह दृश्यकाव्य ही है। इस प्रकार रंगमंच का नाटक से निकट का सम्बन्ध है। नाटककार नाटक में स्वयं तो कुछ कहता नहीं है वरन् अपने पात्रों की वेशभूषा, शारीरिक चेष्टाओं और हाव-भाव आदि के द्वारा अपना मन्तव्य प्रकट करना चाहता है। यदि उनका फल अभिनय नहीं हो सका तो नाटक का उद्देश्य असफल ही समझना चाहिए। नाटक के अभिनय में ही नाटक की नाना समस्याएँ, मनुष्य के चरित्र, सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप और समस्याओं का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष समाधान सन्निहित रहता है। इसलिए नाटककार का नाटक-रचना के समय अभिनेयता के विशेष तत्त्व पर ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है।

हिन्दी रंगमंच का विकास रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, कठपुतली के नृत्य आदि के द्वारा हुआ है। इसके रंगमंच की सम्पूर्णता तो होती नहीं है पर रंगमंच का लघु स्वरूप अवश्य देखने को मिलता है। इनमें संगीत की अधिकता तथा संवादों में कथानक की प्रधानता ही अधिक देखने को मिलती है। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में हिन्दी के रंगमंच के विषय में लिखा है—"सत्य तो यह है कि हिन्दी रगमंच कहलाने वाली और इस नाम को सार्थक करने वाली कोई स्थायी चीज हिन्दी जगत् के पास अभी तक भी नहीं है।...अतएव हिन्दी रंगमंच और उस पर अभिनीत हुए, होने वाले या होने के लिए लिखे जाने वाले नाटकों का इतिहास वास्तव में या तो उन नाटक मण्डलियों का इतिहास

मात्र है जिनका जन्म समय-समय पर हिन्दी भाषा-भाषी विभिन्न नगरों में हुआ और जिन्होंने जनता में हिन्दी भाषा और उसके सम्बन्ध में रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया अथवा वह केवल उन नाटकों का विवरण मात्र है जो उन्ही के प्रभाव के कारण लिखे गये।...जिस रंगमंच पर हिन्दी नाटकों का अभिनय आरम्भ हुआ, वह सीधा संस्कृत रंगमंच से नहीं लिया गया। अंग्रेजी रंगमंच के प्रभाव से उसका जन्म हुआ है। हिन्दी का रंगमंच अपने बाह्य रूप में पश्चिम का अनुकरण अधिक है।" इस दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक रंगमंच के अधिक अनुकूल रहे हैं क्योंकि वे नाटककार होने के साथ-साथ एक कुशल अभिनेता भी थे। सफल अभिनेय नाटकों में कुछ कसौटियाँ रहती हैं। अपनी सफलता के लिए अभिनेय नाटकों को खरा उतरना आवश्यक हो जाता है। वे कसौटियाँ या गुण निम्न हैं—(१) नाटकों को में घटनैक्य, स्थानैक्य और भावैक्य का होना अर्थात् संकलन त्रय का अन्वित होना आवश्यक है। घटनाओं की अवधि ऐसी होनी चाहिए जो तीन-चार घण्टे में सम्पन्न हो सके। वे घटनाएँ कम से कम स्थानों में घटित होनी चाहियें जिससे कम से कम दृश्यों की आवश्यकता हो। बार-बार दृश्य परिवर्तन में दृश्य निर्माता और प्रेक्षक दोनों को ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है। भावों की परस्पर एकता होना इसलिए आवश्यक है, उससे रस निष्पत्ति में पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है और रसाभास के स्थल भी रसान्वित में परिवर्तित हो जाते हैं।

(२) वर्जित दृश्यों को जैसे—भोजन, हत्या, चुम्बन, युद्ध आदि के दृश्य रंगमच पर नहीं दिखाने चाहियें। इनसे भी रसनिष्पत्ति में व्यवधान उपस्थित होता है और सहृदयों के हृदयों में संस्कारित विचारों की पुष्टि नही हो पाती।

(३) संवादों में नाटकीयता होना आवश्यक है अर्थात् संवाद छोटे और परिस्थिति के अनुकूल होने चाहियें। लम्बे-लम्बे संवाद अथवा स्वगत कथन, अपनी व्याख्यान अनुमोदित वक्तृता अथवा अस्वाभाविकता प्रेक्षकों को अपनी नीरसता के बोझ से दबा देती है।

(४) भाषा पात्रानुकुल एवं सामान्य दर्शक के स्तर की होनी चाहिए जिससे पात्रों को अस्वाभाविकता और दर्शकों को कठिनता का अनुभव न

करना पड़े ।

(५) गीतों का प्रयोग कम, पर परिस्थिति के अनुकूल और प्रभावशाली होना चाहिए।

(६) नाटकों में सिद्धान्तों का विवेचन उनको नीरसता की कोटि में ले जाता है ।

उपर्युक्त कसौटियों के आधार पर प्रसाद के नाटकों को अभिनेय और अस्वाभाविक बताया जाता है । कोई-कोई आलोचक (कुतर्की) यहाँ तक कह देते हैं, "प्रसाद को नाटक लिखने ही नहीं चाहियें; क्योंकि, उनके नाटकों में गीतों और कवित्वपूर्ण संवादों तथा दार्शनिक विचारधारा की इतनी भरमार रहती है कि नाटकों में उनके कारण अस्वाभाविकता आ जाती है ।" पर इतना कहने से पूर्व प्रत्येक दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का विवेचन आवश्यक है और आदश्यक है प्रसाद की रंगमंचीय धारणा का अध्ययन । प्रसाद जी रंगमंच के अच्छे ज्ञाता थे । उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही रंगमंचों का अध्ययन करके अपने नाटक लिखे थे । तभी तो प्रसाद के प्रशंसक उनकी रंगमंचीय शैली की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—"रंगमंच पर वध और हत्यायें, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों का दिखाना, कवित्वपूर्ण संवादों और गीतों का समावेश करना और दार्शनिक प्रवृत्ति का बार-बार परिचय देना इसलिए आवश्यक था कि रूढ़ियों को तोड़ कर नए जीवन की अभिव्यक्ति की दिशा को आलोकित किया जा सके ।

प्रसाद जी ने 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' में रंगमंच के विषय में लिखा है—रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखा जाये । प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमञ्च हों, जो व्यावहारिक है । हां, रंगममंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोन की आवश्यकता है ।' दूसरे स्थान पर अपने नाटकों की रंगमञ्चीय कसौटी बदलते हुए वे लिखते है—'मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त, शैदा या आगाहश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी-तोली जानी चाहिएँ, मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्रित कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेते है और दुअन्नी-

अठन्नी के टिकट पर इक्के वाले, खोंचे वाले और दूकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। 'उत्तररामचरित,' 'शकुन्तला' और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न कभी जन-साधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं।'

प्रसाद की उक्त मान्यता को ध्यान में न रखते हुए आलोचकों ने उनके नाटकों पर अभिनय सम्बन्धी निम्न दोष लगाये हैं—

१. प्रसाद के नाटकों में 'सहसा' प्रवेश का आधिक्य है जो अस्वाभाविक है।

२. लम्बे स्वगत-कथनों का बाहुल्य है जो अभिनय में कठिनाई उत्पन्न करते हैं।

३. व्याख्यान पद्धति के लम्बे-लम्बे कथोपकथन जो दार्शनिकता से भी पुष्ट हैं—अपनी नीरसता और अस्वाभाविकता ही दर्शकों पर छोड़ते हैं।

४. भाषा पात्रानुकूल नहीं है। तत्समता अधिक होने के कारण दुरूहता अधिक आ गई है।

५. पात्रों की संख्या का बाहुल्य है।

६. गीतों की अधिकता और दार्शनिक विचारधारा का निर्वाह होने के कारण वे सामान्य प्रेक्षक के स्तर के नहीं रह गये हैं।

७. प्रसाद के नाटकों में संकलनत्रय का अभाव है, इसलिए वे अधिक लम्बे हैं जो तीन-चार घण्टे में अभिनीत नहीं हो सकते।

८. नाटयशास्त्र के अनुसार वर्जित दृश्यों हत्या, का जैसे युद्ध आदि का उनमें प्रयोग है।

प्रसाद के नाटकों के इन दोषों का पुनर्विचार होने पर हम देखेंगे कि इनमें से कुछ दोष तो उनके गुणों का ही द्योतित करेंगे। क्योंकि अब तक इन दोषों को दोष समझने की एक प्रवृत्ति बनी रही है, इन पर गम्भीरता से पुनर्विचार नहीं हुआ है। पुनर्विचार करके हम देखते हैं कि उनके ये दोष ही गुण बनकर प्रसाद के नाटकों को पाठ्य नाटकों की कोटि ले जाते हैं। सचमुच दो एक दोष हैं भी वे इसलिए दोष नहीं माने जा सकते कि यदि रंगमञ्च की प्रत्येक सावधानी का ध्यान नाटककार ही रखें तो फिर एक कुशल सूत्रधार (Director)

का कार्य क्या रह जाता है ? सचमुच एक मर्मज्ञ और कुशल सूत्रधार अनभिनेय नाटक को भी अभिनेयता के अनुकूल बनाने में समर्थ हो सकता है फिर प्रसाद के नाटक तो रंगमञ्च के बहुत अधिक निकट हैं। उनके नाटकों में रंगमञ्च के अनुकूल निम्न गुण है :—

१. क्रिया व्यापार का वेग उनके अधिकांश नाटकों में दिखाई देता है—विशेष रूप से चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में।

२. प्रसाद के नाटकों का आदि और अन्त बड़ा ही मनोहारी और कलापूर्ण रहता है जो प्रभाव की दृष्टि से बहुत अच्छा है।

३. प्रासंगिक कथानक चमत्कारपूर्ण दिखाई देते हैं।

४. रसों की पूर्ण निष्पत्ति उनके प्रमुख नाटकों में देखने को मिलती है। जैसे चन्द्रगुप्त नाटक में श्रृंगार और वीर का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

५. सम्पूर्ण नाटक में प्रभाव की दृष्टि से अखण्डता का दिग्दर्शन होता है। इसी से प्रभावान्विति उनके नाटकों की प्राणस्वरूप हो गई है।

६. उनके नाटकों की भाषा-एकरूपता और दार्शनिकता के स्पर्श से सांस्कृतिक चित्रण इस बात को प्रकट करता है कि प्रसाद जी ने अपने नाटक विशिष्ट बुद्धि के एवं परिष्कृत विचारधारा वाले पाठकों और प्रेक्षकों के लिए बनाये थे।

७. फिर सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जो नाटककार 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे पूर्ण अभिनेय रूपक की रचाना कर सकता है, वह रंगमंचीय परिस्थितियों से कैसे अनभिज्ञ हो सकता है ?

रहे कुछ दोष। उनका परिष्कार करके उन्हें अभिनय-योग्य बनाया जा सकता है। इसमें सूत्रधार का सहयोग अपेक्षित है। संवादों का लाघव वस्तु-विस्तार को संक्षिप्त करना, गीतों के पूर्वांश अथवा दो-चार पंक्तियों का गाया जाना, भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को अभिधात्मकता की ओर मोड़ना और दृश्य-विभाजन का क्रम स्वानुकूल करना। ऐसा करने के लिए मर्मज्ञ निर्देशक होने के साथ कुशल अभिनेताओं की भी आवश्यकता है। तभी तो उनके नाटकों की आत्मा सजीव रहकर रसास्वादन में सहयोगी सिद्ध हो सकेगी।

अब हम यहाँ 'चन्द्रगुप्त' नाटक की अभिनेयता पर विचार करेंगे। यदि सर्वप्रथम हम इसके ऊपर लगाए गये दोष को 'यह अनभिनेय है' हटा दें, पुनः विचार करें तो देखेंगे कि इसके बहुत से दृश्य, पट परिवर्तन गीत एवं कथोपकथन सर्वथा अभिनेय हैं। अधिकांश गीत लम्बे होने पर भी सामयिक प्रतिबिम्ब लिए हुए हैं। द्वितीय अंक के पांचवें दृश्य में अलका के द्वारा गाया हुआ गीत इसी प्रकार का है। सुवासिनी के विषय में चिन्तित राक्षस जब नेपथ्य से 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला' पढ़ता है, 'पतंग सा इसमें मन होकर मतवाला' नामक गीत सुनता है तो प्रेक्षक बहुत अधिक प्रभावित होता है। यह गीत अपनी गेयता और समसामयिकता के कारण सहज स्वाभाविक है और चन्द्रगुप्त के गीत यौवन की उदात्त भावना का संगीत लेकर स्फुरित हुए हैं। इस नाटक के अन्त में परिशिष्ट भागों में 'स्वर लिपि' भी दी हुई होने के कारण वे विधिवत् राग-रागनियों में बिठाए जाकर सुविधापूर्वक गाये भी जा सकते हैं।

'चन्द्रगुप्त' के कुछ स्वगत-कथन अधिक लम्बे हो गए हैं और कुछ कथनों में दार्शनिकता का स्पर्श आ जाने से नीरसता आ गई है। पर इन दोनों अभावों की पूर्ति सुविधानुसार सूत्रधार व निर्देशक के द्वारा की जा सकती है। इसके कुछ कथोपकथन तो बहुत ही संक्षिप्त नाटकीय और आकर्षण से सम्पन्न हैं। जैसे युद्ध स्थल में सपेरे रूप चन्द्रगुप्त एवं पर्वतेश्वर का संवाद।

'सहसा प्रवेश' वाले दृश्य नाटक में बहुत हैं पर उनसे अभिनय में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता। वरन् उसके स्थान पर नाटकीय क्रियाशीलता में वृद्धि ही होती है। कथानक सहसा आलम्बन पाकर विकास की ओर अग्रसर होता है। जैसे तृतीय अंक के नवें दृश्य में राक्षस के बन्दी किए जाने पर नागरिकों के 'सहसा प्रवेश' ने घटना को नाटकीय ढंग से आगे बढ़ाया है और जैसे ही नन्द सबको बन्दी बनाने की आज्ञा देता है वैसे ही 'सहसा' चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है जो प्रेक्षकों के अनुमान के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार चतुर्थ अक के प्रथम दृश्य में जैसे ही कल्याणी आत्महत्या को उद्यत होती है वैसे ही चन्द्रगुप्त का 'सहसा प्रवेश' और उसके पीछे-पीछे ही चाणक्य का प्रवेश सोद्देश्य है। वहाँ पर नायक चन्द्रगुप्त के ऊपर ही आत्महत्या के

शोक-निवारण के लिए चाणक्य का प्रवेश कराया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक के 'सहसा प्रवेश' द्वारा नाटक के घटनाक्रम में सुलझाव ही दिखाई देता है जिससे अचिर काल में ही प्रेक्षक अभीप्सित परिणाम की ओर अग्रसर हो सकता है। चन्द्रगुप्त का जहाँ भी नाटक में सहसा प्रवेश हुआ है, वहाँ प्रेक्षकों के अनुमान के अनुकूल ही है। इस विवेचन के अतिरिक्त 'सहसा प्रवेश' के सम्बन्ध में एक विचार यह भी हो सकता है कि प्रसाद के समय तक रंगमंच का विशेष विकास नहीं हो सका था और अधिक पर्दों का प्रबन्ध भी सम्भव नहीं था। पारसी कम्पनियों में यह 'सहसा प्रवेश' दृश्य परिवर्तन का काम देता था जिससे पर्दों की कमी की पूर्ति की जाती थी।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में संकलनत्रय का अभाव माना जाता है, परिणामस्वरूप कथानक विस्तृत हो गया है जिसके कारण उसका अभिनय तीन-चार घण्टे में सम्भव नहीं हो सकता। कार्य व्यापार की दृष्टि से चन्द्रगुप्त की कथावस्तु इस प्रकार विकसित हुई है—

प्रथम अंक—११ दृश्य।

द्वितीय अंक—११ दृश्य।

तृतीय अंक—९ दृश्य।

चतुर्थ अंक—१४ दृश्य।

प्रथम अंक के घटना स्थलों को समन्वित करके तीन स्थलों पर केन्द्रित किया जा सकता है—गांधार, मगध और पंजाब। प्रथक अंक होने के नाते चूँकि यह परिचयात्मक है अतः इसमें घटनाओं की अधिकता एवं पात्र-बाहुल्य स्वाभाविक ही समझना चाहिए। फिर भी पूर्ण अंक को, तीन पर्दों के सहारे—जिनमें एक नदी तट का हो, एक प्रकोष्ठ का हो, एक आश्रम जैसा हो जिसमें गुरुकुल का दृश्य दिखाया जा सके, अभिनीत किया जा सकता है। दूसरे अंक में भी तक्षशिला और पंजाब के वे ही दृश्य हैं; हाँ, मालव प्रदेश का एक दृश्य और आ गया है, पर उसके स्कन्धावार का दृश्य कानन पट पर भी दिखाया जा सकता है। इसी प्रकार तीसरे और चौथे अंकों को भी सुविधानुसार एक दूसरे दृश्य-पट पर अभिनीत किया जा सकता है। पर्दों पर कुछ थोड़ी-सी पार्श्व पट्टियों की भले ही आवश्यकता पड़ जाय।

अभिनय के क्षेत्र में एक अन्य दोष चन्द्रगुप्त नाटक पर लगाया जाता है। वह यह है कि 'इसके पात्रों की भाषा एक रस है। उसमें दार्शनिकता की छाप लगी हुई है जिससे वह दुरूह हो गई है।' पर चन्द्रगुप्त नाटक की भाषा का विशेष अध्ययन करके जब हम देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इसके सामान्य पात्र कहीं भी क्लिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करते। हाँ, परिस्थिति-अनुकूल भाषा अवश्य रही है—जैसे चाणक्य की भाषा सर्वत्र गवेषणा से सम्पन्न रही है। अलका और मालविका की भाषा उनकी स्वाभाविक कोमलता की प्रतीक है। राक्षस और सुवासिनी के संवाद प्रेम की शब्दावलियों से परिपूर्ण हैं। कल्याणी की भाषा राजपुत्री के सर्वथा अनुकूल है। अतः कहीं भी भाव व्यंजना में अस्पष्टता का दोष दिखाई नहीं देता। इतनी विभिन्नता के होते हुए भी यदि चन्द्रगुप्त नाटक की भाषा पर एकरूपता का दोष लगाया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोष लगाने वाले सम्भवतः यह चाहते होंगे कि प्रसाद पात्रों के अनुसार विभिन्न प्रदेशों के पात्रों को उसी—प्रदेश की भाषा में बुलवाते तो अच्छा रहता। पर ऐसा क्रीड़ा कौतुक हास्य का विषय ही बनता क्योंकि उससे रसान्विति निश्चित रूप से सम्भव नहीं हो सकती—जो नाटक का मुख्य उद्देश्य होती है। वैसे इस नाटक की भाषा में नाटकीय भार वहन करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है। इसमें माधुर्य है, गम्भीरता है, नाटकीय प्रवाह है, शब्द-चयन में सौन्दर्य है और सर्वोपरि है भाषा की अभिव्यंजना शक्ति।

इस नाटक में पात्रों की अधिकता के विषय में कठिनाई उठाई जाती है—क्योंकि इसमें तीस पात्र हैं जिसमें २१ पुरुष पात्र और ९ नारी-पात्र हैं। पर कई पात्रों का अभिनय कम है और साथ ही वह अभिनय नाटक के प्रारम्भ ही में है। अतः उनसे दुबारा कार्य लिया जा सकता है। इस प्रकार पात्रों की कुशलता एवं निर्देशक की योग्यता इस दोष का भी निवारण करने में समर्थ है।

इस नाटक के दृश्य विधान में भी कुछ आलोचक शास्त्रीय वर्जन एवं दृश्य निर्माण की कठिनाई का सहारा लेकर आपत्ति उठाते हैं। ऐसे दृश्य निम्न हैं—

(१) सिल्यूकस और पर्वतेश्वर का ससैन्य प्रवेश और युद्ध, और साथ ही मेघों का गर्जन; (२) कल्याणी का शिविकारूढ़ होकर आना; (३) मञ्च पर चीते का आना और चन्द्रगुप्त के तीर द्वारा उसका वेधा जाना; इसी प्रकार

व्याघ्र का आना और सिल्यूकस के तीर द्वारा उसका वध होना; (४) झेलम तट का वन पथ; (५) सिन्धु में नौका दिखाना; (६) मिट्टी का गिरना और शकटार का वनमानुष के रूप में उससे निकलना; (७) सिल्यूकस को घायल करते हुए आम्भीक की मृत्यु। इन सबके प्रयोगों में प्रसाद ने नई प्रवृत्ति का अनुमोदन तो किया ही है पर अपने समय से ३० वर्ष बाद के लिए अपने नाटकों की रचना भी की है। आज जब चलचित्रों द्वारा ऐसे दुर्गम एवं आश्चर्यजनक दृश्य दिखाये जा सकते हैं तो प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के दृश्य तो उनके सामने कुछ भी नहीं हैं। आज उद्यम और आर्थिक सहयोग से सब कुछ सम्भव है। जब ऐसे दृश्य का भी अभिनय सम्भव हो सकेगा तो इस नाटक के इन दृश्यों से निश्चित रूप से प्रेक्षक रोमांच और आनन्द का अनुभव करेंगे। कुछ दृश्य तो कितने सजीव और नाटकीय क्रियाशीलता से पूर्ण हैं जैसे चन्द्रगुप्त का रक्त से लिप्त खड्ग के साथ सहसा प्रवेश करना, चाणक्य को बन्धन मुक्त करना, पर्वतेश्वर का छुरे द्वारा आत्महत्या के लिए उद्यत होना, नन्द के द्वारा सुवासिनी का बलपूर्वक पकड़ा जाना और अमात्य राक्षस को देखते ही उसे छोड़ देना। चन्द्रगुप्त नाटक की एक अन्य विशेषता यह है कि यह ऐतिहासिक एवं लोकप्रिय कथानक पर आधारित है अतः यत्किंचित् नीरसता होने पर भी रसनिष्पत्ति में पूर्ण सफल है। फिर जो नाटक नवम्बर, १९६२ में रेडियो से एक घण्टे में ही प्रसारित होने में सफल रहा हो, वह कैसे अनभिनेय कहा जा सकता है?

: २० :

चन्द्रगुप्त : नियतिवाद

भारतीय विचार धारा में कर्म और भाग्य दो समानान्तर रेखायें हैं जो आपस में नहीं मिलतीं। धर्म और साहित्य दोनों में ही दोनों पक्षों के प्रबल समर्थक विद्यमान हैं। भाग्य को सर्वोपरि मानने में कर्त्तापन की हानि होती है और सम्पूर्ण कार्यविधान को एक अज्ञात शक्ति की देन ही समझी जाती है। कर्म प्रधानता में कर्म को सर्वोपरि महत्ता दी जाती है, पर यह आवश्यक नहीं है कि कर्त्ता सर्वथा कार्य के कर्त्तापन की पुष्टि ही हो। जब वह निष्काम कर्म करता है तब उसमें यह अहंकार नहीं होता। कर्म की इस निष्कामता से नियति और कर्म भावना का समन्वय समझ लिया जाय, तो कोई अस्वाभाविकता नहीं होगी, हमारा ऐसा विचार है। इसी दृष्टि से भारतीय विचारधारा कर्म सिद्धान्त के अधिक निकट है। ग्रीक की विचारधारा भाग्यवाद से मिलती-जुलती है, पर उसमें भाग्यवाद इस प्रकार से चित्रित है कि उसका कार्य-व्यापार पूर्व निर्दिष्ट रहता है, उसके परिवर्तन की शक्ति देवताओं अथवा प्राकृतिक शक्तियों में भी देखने को नहीं मिलती। इसी का तो यह परिणाम हुआ कि पश्चिमी नाटक इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर दुःखान्त ही बने रहे हैं—जिनमें भाग्य की क्रूर विशेषताओं का ही चित्रण हो सका है। उनमें घोर संघर्ष होने के पश्चात् भी अन्त में भाग्य की ही जीत होती है।

ग्रीक सिद्धांत के सर्वथा प्रतिकूल भारतीय सिद्धान्त है। कर्मण्यता के द्वारा पूर्व निश्चयों के परिवर्तन को भी स्थान रहता है। जीवन के घोर संघर्ष का परिणाम अन्त में आनन्दात्मक होता है। यही भावना यहां के नाटकों और काव्यों में अभिव्यक्त हुई है। तभी तो उसमें जीवन का संघर्षण अंकन होने पर भी अन्त सुखात्मक ही रहा है। इसका प्रमुख कारण यह भी है

कि भारतीय जीवन का सम्बन्ध वैदिक मान्यताओं से है और वेदों में विशेष रूप से ऋग्वेद में 'ऋत-सत्य' की कल्पना की गई है। 'ऋत' का स्वामी वरुण माना जाता है, वैसे अन्य प्राकृत शक्तियाँ भी इसी की कोटि में आती हैं। तात्पर्य यह है कि जिन नियमों से सृष्टि का मर्यादित होकर कार्य-व्यवस्था की मर्यादा निर्मित होती है, वही 'ऋत' नियम है। यह सृष्टि इस नियम का पालन करना एक क्षण के लिए भी परित्याग कर दे तो सर्वत्र ही अव्यवस्था और उच्छृंखलता का साम्राज्य छा जाएगा। इसी नियम का परिणाम भारतीय जीवन पर यह हुआ कि सभी के ऊपर यह संस्कार जम गया कि कोई भी कर्मों के परिणाम से नहीं बच सकता। इस वैदिक 'ऋत सत्य' का ही परिवर्तित रूप 'कर्मवाद' है, जिसमें पूर्व-जन्म और पर-जन्म का भी विश्वास संलग्न हो गया है। पूर्व और पर-प्रभावों की अदृष्टता और अज्ञानता के कारण ही तो इसे 'अदृष्ट', 'दैव', 'नियति' या 'विधि' नामों से जाना जाता है।

प्रसाद भारतीय विचारधारा के पूर्ण समर्थक हैं। उनके नाटकों में स्थान-स्थान पर भाग्यवाद या नियतिवाद के दर्शन होते है, पर उनकी विचारधारा उस प्रकार की भाग्यवादी नहीं है, जिसमें हाथ-पर हाथ रखकर बैठे रहने के साथ ही जीवन की अकर्मण्यता ही दिखाई देती है। उनके पात्र-सर्वत्र नियति या भाग्यवाद का पाठ करते हुए भी कर्मठ और कर्त्तव्यशील दिखाई देते हैं। उनके नाटक में ग्रीक विचारधारा जैसी विवश और क्रूर भाग्यवाद की झाँकी नहीं है। उनके पात्र अपने पौरुष और दृढ़ निश्चय से सब कुछ बदलकर नई सृष्टि करने में समर्थ दिखाई देते हैं, यद्यपि इसकी प्रेरणा उन्हें नियति के विधान से ही मिलती है, उनके 'चन्द्रगुप्त' में तो विशेष रूप से।

अब हम 'चन्द्रगुप्त' में आये नियतिवादी विचारधारा के कुछ स्थल प्रस्तुत करते हैं। नियतिवाद को मानते हुए भी 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य तो कर्मठता का आश्रय लेकर यहाँ तक कह देता है—'वह तो होकर रहेगा, जिसे मैंने स्थिर कर लिया है। वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है।' वास्तव में देखा जाये तो दृढ़ इच्छाशक्ति की कुछ महिमा भी ऐसी ही होती है जिसके सम्मुख विषम-से-विषम

परिस्थितियाँ भी शमित होकर मार्ग खोल देती हैं। ऐसे ही दृढ़ निश्चयी व्यक्ति के सम्मुख ही तो "गम्भीर चिद् भवति गाधम् अस्मै" (ऋग्वेद) अर्थात् गम्भीर सागर भी तो तैरने योग्य नाला बन जाता है। बाणभट्ट का 'हर्ष-चरित' के अन्तर्गत आया हुआ यह श्लोक भी उसी को ही तो दुहाई दे रहा है :—

अंकण बेदी वसुधा कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥"

चन्द्रगुप्त में नियतिवाद के पोषक उद्धरण तुल्य कथन भी स्थान-स्थान पर हीरे-मोतियों की भाँति जड़े हुए है। देखिए—

१. नियति सम्राटों से भी प्रबल है। (तृतीय अंक, नवाँ दृश्य)

२. वही हुआ जो होना था। (चतुर्थ अंक, प्रथम दृश्य)

३. नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है। (चतुर्थ अंक, पाँचवाँ दृश्य)

४. नियति अब उन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचते हुए खड़ा कर रही है। (चतुर्थ अंक षष्ठ दृश्य)

५. मालव—उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य है, उसकी साधना के लिए प्रकृति, अदृश्य दैव या ईश्वर कुछ-न-कुछ अवलम्ब जुटा ही देगा।

उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर नियति की शक्तिमत्ता, पूर्व निश्चितता और भविष्य को स्वानुकूल बनाने की ध्वनि तो स्पष्ट रूप से निकलती ही है। पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रसाद में पश्चिमी विचारक एवं उपन्यासकार हार्डी के नियतिवाद के दुःख और निराशा जैसी छाया देखने को नहीं मिलती। प्रसाद के नाटकों में तो कर्मवाद से नियतिवाद का अपूर्व समन्वय है। इनमें ग्रीस के भाग्यवाद की निरंकुशता देखने को नहीं मिलती। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तो स्पष्ट रूप से प्रसाद जी ने चाणक्य के मुख से कर्म-व्यापार का संकेत किया है—"चैतन्य सागर निस्तरंग है और ज्ञान ज्योति नि[illegible]। तो क्या मेरा कर्म कुलाल चक्र अपना निर्मित भाण्ड उतारकर र[illegible]ुका" इसमें कर्म कुलाल चक्र द्वारा निर्मित

भाण्ड उतार कर रखने' में कर्मवादी मूल प्रवृत्ति ही है। इसकी रहस्यात्मकता सदैव ही नियति से सूत्रबद्ध रहती है। पूर्व और परजन्म के दृढ़ विश्वास ने इस कर्म भावना में नियति का गठबन्धन और दृढ़ कर दिया है। नियति के नियामक एवं रहस्यवादी प्रवृत्ति मे वे कर्मठ, दृढ़ निश्चयी, मनस्वी वीर भयभीत नहीं होते, जो सत्-असत् का विवेक रखते हुए कार्य में प्रवृत्त होते हैं। प्रसाद के नाटकों के पात्र जो कर्मवाद को इस रूप में मानते हैं वे उत्कर्षवान् दिखाई देते हैं, अन्य पात्र नियति और कर्म की कीचड़ में पिसते हुए भी जीवन-यापन करते हैं। जो नियमपूर्वक कार्य-व्यापार को चलाता है, उसे भयभीत होने की क्या आवश्यकता ! इस विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रसाद के नाटकों में वर्णित नियतिवाद की भावना अन्धी न होकर चैतन्यतापूर्ण है। उसमें यदि नियमों की मर्यादा और व्यवस्था बनाए रखने की शक्ति है तो यह भी क्षमता विद्यमान है कि कर्मठता के आधार पर नई सृष्टि करे। क्रांति के समय उनकी नियति सुन्दर त्यौरियाँ चढ़ाती है तो व्यवस्था के समय वही नटी की भांति नृत्य भी करने लग जाती है।

: २१ :

चन्द्रगुप्त : सुखान्त अथवा दुखान्त

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार यहाँ के संस्कृत नाटकों का प्रचलन रसानुभूति की आधार भूमि पर हुआ था। तभी नाटकों को काव्य माना गया है और उन्हें दृश्य और श्रव्य दोनों ही कोटियों में रखा गया है। नाटकों की रसानुभूति आनन्दात्मक मानी गई है। यह बात यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय है कि प्रसाद जी ने यद्यपि पाश्चात्य नाटकों से भी प्रभाव ग्रहण किया है किन्तु चन्द्रगुप्त जैसे नाटकों पर भारतीय नाट्यशास्त्र का ही अधिक प्रभाव है तथा उनके निर्माण में भारतीय नाट्यशास्त्र को ही आदर्श रूप में ग्रहण किया गया है। भरत मुनि ने नाटकों में रस का सन्निवेश केवल कुतूहल शान्ति के लिए ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसके मूल में आनन्द विस्तार की भावना कार्यरत है। भरत मुनि के अनुसार नाटक के अभिनय के द्वारा विशिष्ट वासना को साधारणीकृत करके सामान्य जन के लिए आनन्दमय बनाया जा सकता है और सामान्य धरातल पर पहुंचकर भावना एक मानवीय वस्तु बन जाती है, व्यक्ति विशेष की नहीं।

प्रसाद जी भारतीय रसवाद को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। भारतीय रस-सिद्धांत में मिलन अथवा अभेद या अद्वैत की प्रमुखता रह... है। लोकमंगल की कामना अन्तर्निहित रहती है। इसलिए प्राचीनकाल से रस नाटकों की अपनी वस्तु रहा है। प्रसाद 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' में विश्वास रखने वाले हैं। तभी उनका कोई नाटक समग्र रूप से दुःखान्त नहीं है। भारत में जीवन के यथार्थ-चित्रण को ही नाटक में प्रमुखता इसलिए नहीं दी है कि उसमें प्रेक्षकों को जीवन की दुर्बलताओं से दूर करके आनन्दलोक में विचरण करने की योजना रहती है। वैसे भी जो चित्र हम जीवन में देखते हैं यदि वैसे ही नाटक में भी

मिलें तो जीवन की विभीषिका से अपना त्राण कहाँ हो सकता है और हम पर शुभ प्रभाव भी कैसे पड़ सकता है ? इसी तथ्य को ध्यान रखते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों के मध्य में पात्रों के जीवन को पूर्ण संघर्ष रत दिखाते हैं किन्तु अन्त आनन्दायक या प्रसादात्मक ही रहा है। अजातशत्रु को इसका अपवाद कहा जा सकता है। किन्तु सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से वह भी प्रसादान्त ही सिद्ध होता है। जहाँ तक 'चन्द्रगुप्त' की बात है यह कृति भी प्रसादान्त ही है।

पाश्चात्य साहित्य का आलोच्य कृति पर कुछ प्रभाव होने के कारण संक्षेप में पाश्चात्य नाटक की चर्चा भी अप्रसंगिक नहीं होगी। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में स्पष्ट रूप से नाटक की दो विधाएँ स्वीकृत हैं - कामदी और त्रासदी। संक्षेप में, कामदी आद्योपांत मनोरंजक अथवा सुखात्मक भावों की अभिव्यक्ति से पूर्ण रहती है, जबकि त्रासदी आरम्भ से ही दुःख और विनाश की ओर उन्मुख होती हुई अन्ततः भीषण त्रासक वातावरण में अन्त को प्राप्त होती है। ध्यातव्य है कि त्रासदी या दुखान्तकी में नायक अन्ततः मृत्यु या सम्पूर्ण पतन का आलिगन करता है। जिसे देखकर दर्शक का मन भी विचलित हो उठता है, उसके मन में भी निराशावादी विचारधारा घर कर लेती है। स्मरणीय है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में इस प्रकार की अधोमुखी प्रवृत्ति की साहित्य के माध्यम से स्थापना निहित नही मानी गई हैं। इसके मूल में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों या भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन धारा ही मूलतः प्रतिष्ठित है। संस्कृत-साहित्य में सभी नाटक अन्त में सुखपूर्ण स्थिति में अन्त होने वाले हैं, हाँ नाटकों के मध्य में या नाट्य-विकास की परिधि में सुखद या दुखद घटनाओं का आरोह-अवरोह अवश्य दिखाया जाता है। संस्कृत-साहित्य में केवल एक नाटक-भासकृत उरुभंग-दुखान्त है।

स्मरणीय है कि हिन्दी में त्रासदी और कामदी की कल्पना उसी अर्थ में नहीं हुई है जिसे रूप में उसकी कल्पना पाश्चात्य साहित्य में की गई है। हिन्दी में सुखान्त और सुखान्त का अर्थ केवल नाटक अन्त से लिया जाता है, नाटक की सम्पूर्ण विचारधारा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य में त्रासदी या कामदी कामदी के विवेचन में नाटक की सम्पूर्ण विचारधारा को प्रमुखता मिलती है।

प्रसाद जी जिस समय नाटक-सृजन कर रहे थे उस समय हिन्दी में केवल सुखान्त नाटकों का ही प्रचलन था। प्रसाद के भी अधिकांश नाटक सुखान्त ही हैं। किन्तु उनके कुछ नाटक पारम्परिक सुखान्तकों से भिन्न प्रकार के हैं। हैं। तात्पर्य यह है कि उनका अन्त सुख-दुःख से भिन्न एक विशिष्ट स्थिति में होता है। ऐसे नाटकों को सुखान्त कहा जाय या दुखान्त, यह विवाद का विषय बना हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' भी प्रसाद की एक ऐसी ही कृति है जिसके अन्त के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं।

चन्द्रगुप्त सुखान्त नाटक की श्रेणी में आता है या दुखान्त नाटक की श्रेणी में, इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें कई दृष्टियों से विचार करना होगा। सर्वप्रथम हम नाटक के अन्त को लें। 'चन्द्रगुप्त' अन्त में मौर्य साम्राज्य पर छाए हुए विपत्तियों के सारे बादल छट जाते हैं। नन्द-वंश का अन्त हो जाता है और उसके बाद सिकन्दर भी अपने आक्रमण में विफल होकर वापस लौट जाता है। सन्धि के नियमों को तो सिल्यूकस स्वीकार करता ही है, साथ ही दूरदर्शी चाणक्य उसकी पुत्री कार्नेलिया को भी चन्द्रगुप्त के लिए मांग लेते हैं, चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया एक दूसरे को प्रेम करते हैं और इस दृष्टि से नायक को नायिका की प्राप्ति होती है। मौर्यवंश का बच रहा एक मात्र शत्रु नन्द आमात्य राक्षस भी सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रति स्वामिभक्त बन जाता है तथा चाणक्य की आज्ञा से उसका मन्त्रित्व स्वीकार कर लेता है। उपर्युक्त सभी घटनाएँ सुख की द्योतक हैं। नाटक के अन्त की कुछ पंक्तियां ध्यातव्य हैं।

चन्द्रगुप्त—"विजेता सिल्यूकस का मैं अभिनन्दन करता हूँ, स्वागत"।

सिल्यूकस—"सम्राट चन्द्रगुप्त। आज मैं विजेता नहीं विजित से अधिक भी नहीं हूं।"

× × ×

कार्नेलिया—"उस बुद्धिसागर, आर्य-साम्राज्य के महामन्त्री, चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी।"

चन्द्रगुप्त—"उन्होंने विरक्त होकर, शान्तिमय जीवन बिताने का निश्चय किया है।"

(सहसा चाणक्य का प्रवेश, अभ्युत्थान देखकर प्रणाम करते हैं)

× × ×

चाणक्य—"ग्रीस की गौरवलक्ष्मी कार्नेलिया को मैं भारत की कन्या बनाना चाहता हूँ।"

× × ×

सिल्यूकस--(कार्नेलिया की ओर देखता है, वह सलज्ज सिर झुका लेती है) तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त।

(दोनों सिल्यूकस के पास जाते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा की जय ध्वनि)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हम लोग चलें।"

नाटक के अन्त की उपरिउद्धृत पंक्तियों पर ध्यान देने से दो बातें उभर कर आती हैं। प्रथम यह कि उक्त सारी घटनायें सुख और आनन्दवर्धक हैं जो नाटक के सुखान्त होने की बात सिद्ध करती है। दूसरे नाटककार द्वारा चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त के पिता का रंगमंच से हटने की सूचना दिया जाना एक प्रकार से नाटककार द्वारा ही नाटक की सुखान्त का खण्डन प्रतीत होता है संपूर्ण नाटक के सूत्रधार के रूप में चाणक्य को प्रेक्षकों के मानस में प्रतिष्ठित कर एकाएक उन्हें वैराग्य ग्रहण करते हुए देख प्रेक्षकों को मानस व्यथित-सा हो उठता है। उनकी भावना को एक प्रकार से ठेस लगती हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण नाटक के कलेवर में चाणक्य का व्यक्तित्व जितना भास्वर और उदात्त रूप में प्रस्तुत हुआ है उसे देखते हुए उनका एकाएक संन्यास ग्रहण करना अस्वाभाविक न होने पर भी सामान्य जन मानस के लिए दुःख का कारण बनता है।

वस्तुतः प्रसाद भारतीय जीवन दृष्टि के प्रबल समर्थक साहित्यकार हैं। भारतीय जीवन पद्धति की यही विशेषता है कि वह त्याग में ही गौरव का अनुभव करती है। नाटक के आरम्भ में चाणक्य के व्यक्तित्व का बढ़ता हुआ प्रभाव पाठकों को सुखद प्रतीत होता है। क्योंकि चाणक्य के उस प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जिसके नियन्त्रण में देश अपने भीतर और बाहर के शत्रुओं से मुक्ति पा सकें। किन्तु अब भीतर और बाहर शत्रुओं का शमन हो जाता है और नाटक के नायक अर्थात् चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के विकास का समय आता है उस समय भी चाणक्य का पहले वाला नियन्त्रण स्वरूप स्वयं

चन्द्रगुप्त को भी पसन्द नहीं आया है और शायद प्रेक्षक भी चाणक्य के इस रूप को और अधिक समय तक पसन्द न कर सकता। वस्तुतः नाटक पढ़ते समय इस स्थल पर आकर पाठक का मानस एक प्रकार से क्षुब्ध हो उठता है और उसे चाणक्य के महत् उद्देश्य में भी सन्देह होने लगता है। जैसे अत्यधिक लोकप्रिय राजनेता भी जब अति महात्त्वाकांक्षी होकर कार्यरत रहते हैं तो उनके महान् उद्देश्य के बावजूद भी उनके क्रिया कलापों पर सन्देह होने लगता हैं, वही स्थिति नाटक के अन्त में चाणक्य की हो उठी है। नाटककार भारतीय जीवन-पद्धति की श्रेष्ठता से पूर्णतः आश्वस्त है अतः उन्होंने चाणक्य से भी उसी आदर्श का पालन करवाया है। वस्तुतः चाणक्य प्रेक्षकों को अत्यन्त प्रिय हैं अतः उनका संन्यास ग्रहण उनकी भावना को आघात अवश्य पहुंचाता है किन्तु उन्हें चाणक्य के इस त्याग-मंडित व्यक्तित्व के प्रति और अधिक श्रद्धा हो जाती है। नाटककार चाणक्य के इसी मिश्रित व्यक्तित्व की स्थापना करना चाहते थे।

आलोचकों में 'चन्द्रगुप्त' नाटक के सुखान्त या दुःखान्त होने के विवाद का कारण चाणक्य और चद्रगुप्त के पिता का संन्यास ग्रहण है। किन्तु इस घटना के कारण यदि आलोच्य कृति को सुखान्त नहीं भी माना जाये तो दुःखान्त तो माना ही नहीं जा सकता क्योंकि तब तो वह भारतीय नाट्यादर्श के विरुद्ध होता। वस्तुतः नाटक की अन्तिम घटना के कारण दुःख के स्थान पर शान्तिपूर्ण प्रसन्नता ही बढ़ती है अतः चन्द्रगुप्त नाटक को प्रसादान्त कहना समग्रतः उपयुक्त है। प्रसाद का अर्थ है शान्तिपूर्ण प्रसन्नता जिसकी प्राप्ति दर्शक एवं पाठकों को होती है।

: २२ :

चन्द्रगुप्त : उद्देश्य

साहित्य-सृजन एक गम्भीर प्रयास है और गम्भीर प्रयास निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? पाश्चात्य हवा के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में भी किसी समय कलावादी विचारधारा ने जोर पकड़ा। किन्तु पाश्चात्य साहित्य के समान यहाँ भी इस आदर्श से प्रेरित होकर किसी श्रेष्ठ कृति का सृजन नहीं हो पाया। प्रसाद जी एक जागरूक साहित्यकार थे। उनके समक्ष साहित्य-संस्कार के साथ-साथ पराधीन भारतीय जनता के मानसिक परिष्कार का उद्देश्य भी था। इस भावना से प्रेरित होकर प्रसाद जी ने अपनी समग्र नाट्य-कृतियों में सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता की भावना को प्रश्रय दिया। किन्तु एक कुशल साहित्य-शिल्पी होने के कारण उन्होंने इन दो प्रमुख उद्देश्यों का इस प्रकार प्रतिपादन नहीं किया कि वे आरोपित लगें बल्कि उन्होंने कला के आवरण में प्रस्तुत किया है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के तीन प्रमुख तत्व माने गए हैं वस्तु, नेता और रस। स्मरणीय है भारतीय आचार्यों ने नाट्य-रचना के प्रसंग में उद्देश्य को पृथक् मानकर उसकी चर्चा नहीं की है। उनकी दृष्टि में रस ही चरम उद्देश्य है और यही नाटक का लक्ष्य भी है। साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया केवल नाटक के प्रसंग में सटीक बैठती है। अतः स्वभावतः नाट्यशास्त्र में रस को नाटक के अन्य तत्वों की तुलना में विशेष महत्त्व मिला है।

इसके विपरीत पाश्चात्य आचार्यों ने रस के स्थान पर शील वैचित्र्य-प्रदर्शन और उद्देश्य को नाट्य-रचना का उद्देश्य माना है। प्रारंभ में तो वहाँ भी

शील-वैचित्र्य को ही प्रमुखता मिली किन्तु बाद में वहाँ भी उद्देश्य को ही टक का निर्णायक तत्त्व माना गया। पाश्चात्य नाटकारों में इस दृष्टि से बर्नार्ड शा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रसाद जी के नाटकों पर यदि पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से विचार किया जाय तो शेक्सपियर का प्रभाव उन पर सिद्ध होगा और शेक्सपियर के नाटकों में भी यद्यपि शील-वैचित्र्य मिलता है फिर भी वहाँ शुभ का अशुभ पर विजय दिखाने का उद्देश्य भी सर्वथा स्पष्ट है। प्रसाद जी के नाट्य-सृजन के उद्देश्य की तुलना पाश्चात्य नाट्य-सृजन की सोद्देश्यता से करना अनुपयुक्त है क्योंकि प्रसाद से नाटकों में उद्देश्य आरोपित और स्थूल न प्रतीत होकर साहित्य की चिरन्तर प्रवृत्ति से एकाकार प्रतीत होते हैं जो प्रत्येक साहित्यिक कृति में स्वतः ही विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः प्रसाद ने संस्कृति और देशभक्ति के भाव को बड़े ही सशक्त एवं कलात्मक रूप में व्यक्त किया है। अतः हम उनके इन दो प्रमुख उद्देश्यों की चर्चा संक्षेप में करेंगे।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, "उनके (प्रसाद जी के) सभी नाटक सांस्कृतिक है, वे देश की समृद्धि के प्रतिरूप हैं। उनमे केवल यथातथ्य चित्रण नहीं हैं, वे केवल इतिहास का चित्रण करने वाले नाटककार नही हैं, उनका सांस्कृति पक्ष भी है। उनमें वर्तमान और भविष्य में भी छाया फेंकने का सामर्थ्य था। उनके पात्र मृत अतीत के दिग्दर्शक नही हैं, वर्तमान के लिए भी सन्देश लाए हैं।"

भारतीव अतीत-गौरव का गान और राष्ट्रीय भाव का उद्बोधन इन्हें हम प्रसाद जी का वर्तमान के लिए सन्देश मान सकते हैं। भारतीय उज्ज्वल अतीत के प्रति उनके हृदय में कितनी उच्च धारणा थी, इसका परिचय उनके विभिन्न नाटकों की कथावस्तु से मिलता है। प्रसाद जी ने अपने उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारतीय इतिहास के उन्नत हिन्दूकाल की प्रमुख घटनाओं को अपने नाटकों की कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया है। यह भारत का वह अतीत काल है, वह स्वर्णयुग है, जिस पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। इस उद्देश्य की सिद्धि प्रसाद जी के सभी नाटकों द्वारा न्यूनाधिक

परिमाण में हुई है किन्तु 'चन्द्रगुप्त' नाटक इस दृष्टि से सर्वाधिक सफल है। डा० ओझा के शब्दों में, "प्रसाद जी जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रकट होता है।" प्रसाद जी के इस उद्देश्य का उद्घाटन बाबू गुलाबराय ने अधिक स्पष्ट शब्दों में एक वाक्य द्वारा किया है, "इस नाटक ('चन्द्रगुप्त') में तत्कालीन इतिहास को राष्ट्रीयता में ढालने का सफल प्रयास किया गया है।"

राष्ट्रीयता की भावना को जगाने में प्रसाद जी ने अतीत-गौरव के गान की उपयोगिता समझी थी। वस्तुतः पराधीनता की लम्बी अवधि में केवल हमारा शरीर ही बन्दी नहीं रहा था बल्कि भारत राष्ट्र के जन-मानस को विकृत करने का सुनियोजित प्रयास होता रहा था। मुसलमानी शासनकाल में तो शासकों का ध्यान मुख्य रूप से भारतीय संस्कृति को स्थूल रूप से ही विकृत करने की ओर रहा था किन्तु अंग्रेजी शासकों ने चिरकाल तक भारतीय जनता को गुलाम बनाये रखने के लिए हमारे इतिहास को ही विकृत करने का सुनियोजित प्रयास किया फलतः जनसामान्य ने विदेशी षडयन्त्र में विश्वास करके अपनी संस्कृत को हीन मान लिया। जनमानस से इस दूषित भावना को निकालकर उन्हें सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता का स्वरूप समझने एवं उनमें देश-भक्ति की भावना का संचार करने के लिए प्रसाद जी ने अतीत-गौरव गान का आश्रय लिया। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी ने इस उद्देस्य की प्राप्ति के लिए अपने नाटकों के पात्रों का उपयोग किया है। इन पात्रों की उक्तियों को ध्यान से देखने पर प्रसाद जी की इस भावना को अच्छी तरह समझा जा सकता है। कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं —

चन्द्रगुप्त—(सिल्यूकस) "धन्यवाद। भारतीय कृतघ्न नहीं होते। सेनापति मैं आपका अनुगृहित करता हूँ।"

भारतीय संस्कृति में कृतज्ञता को बहुत महत्त्व दिया गया है। किये गये उपकार को न भूलकर उपकार करने वाले की समय पर सभी प्रकार की मदद करना यहाँ के निवासियों का व्रत रहा है। चन्द्रगुप्त भी सिल्यूकस के उप-

कार को स्मरण करके भारतीय पद्धति की विशेषता से उसे परिचय कराते हुए कहता है—

"जाओ सेनापति, मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है तुम्हारा जीवन……।" चन्द्रगुप्त यदि चाहता तो आसानी से सिल्यूकस को समाप्त कर सकता था कि उसके द्वारा किए गए उपकार के कारण तब उसे अभय कर देता है। अन्यत्र भी चन्द्रगुप्त सिंहरण आदि की उक्तियों से भारतीय गौरव पर विचार करता है वह निमन्त्रण चाहे युद्ध का हो या मित्रता का। चन्द्रगुप्त और सिंहरण की निम्न उक्तियाँ इसी तथ्य को सिद्ध करती है।

चन्द्रगुप्त—"आर्य लोग किसी निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं करते।"

सिंहरण—"भेंट करने के लिए मालव सदैव प्रस्तुत है। चाहे सन्धि-परिषद् में, चाहे रणभूमि में।"

किसी विदेशी द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रशंसा एक अन्य विद्या है जिसे प्रसाद ने अपनाया है। 'चन्द्रगुप्त' की कार्नेलिया की उक्तियाँ इस दृष्टि से अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं। कुछ पंक्तियां दृश्टव्य हैं–

"यहाँ के श्यामल कुंज बने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुई शैल श्रेणी, हरी भरी वर्षा, गर्मी की चांदनी, शीतकाल की धूप, भोले कृषक तथा सरल कृषक बालिकाएँ बाघ्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्न का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रगभूमि, क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्म-भूमि है।"

इसी सन्दर्भ में सिकन्दर के ये शब्द भी ध्यातव्य हैं-—

"आर्यवीर। मैंने भारत में हरक्यूलिस एचिलिस की आत्माओं को देखा और देखा डिमास्थनीज को। सम्भवतः प्लैटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ। मैं तलवारर खींचकर भारत आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय विमुग्ध हूं।" इस प्रकार उपयुक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आलोच्य कृति में प्रसाद जी ने भारत उज्जवल अतीत के प्रति विशेष ध्यान रखा है तथा इस प्रकार के प्रसंगों का नियोजन भी यत्नपूर्वक किया है।

अतीत गौरव-गान के साथ-साथ प्रसाद जी का दूसरा उद्देश्य देश भक्ति की भावना का उन्मेय करना भी रहा है। वस्तुतः परतन्त्रता और वैचारिक अधोगति के उस युग में इस भावना को जगाने की प्रबल आवश्यकता थी। तत्कालीन इतिहास का आश्रय लेकर प्रसाद जी राष्ट्रभक्ति का जो मन्त्र फूंकते हैं वह उनकी अन्यतम देन है। राष्ट्रीयता के पोषक कुछ पात्रों की उन्होंने मानो सृष्टि ही इसी उद्देश्य से की है। चाणक्य, सिंहरण और अलका की कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

चाणक्य—"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न, परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध का नाम भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।"

सिंहरण—"परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त ही है।"

अलका—"मेरा यह देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियां हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश इन्हीं परमाणुओं के बने हैं।"

अलका के माध्यम में प्रसाद जी ने भारत के सपूतों का राष्ट्र की बलिवेदी पर न्योछावर हो जाने के लिए आह्वान किया है—

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।

× × ×

अराति सैन्य सिन्धु में—सुबाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो बढ़े चलो।

भारत में आने पर विदेशी भी यहाँ की कमनीयता के समय किस प्रकार बरबस खिंचे रह जाते है, यह तथ्य् कार्नेलिया के चरित्र द्वारा प्रसाद जी ने

सामने रखा है। भारत सामान्य धरती नहीं है तभी तो एक आक्रमक की पुत्री सहर्ष इसे अपना देश कहकर गौरव का अनुभव करती है। 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' शीर्षक गीत द्वारा कार्नेलिया ने राष्ट्र प्रेम के जिस भाव को शब्द प्रदान किया है वह वस्तुतः अन्यतम है। प्रसाद जी ने आलोच्य कृति में चन्द्रगुप्त को राष्ट्रोद्धारक के रूप में, सिंहरण को राष्ट्रीय बलिवेदी पर हँसते-हँसते अपना सर्वस्व अर्पित कर डालने वाले युवक के रूप में तथा अलका को राष्ट्र सजग प्रहरी के रूप में चित्रित कर राष्ट्र भक्ति का एक से बढ़कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। समग्र कृति को देखने पर प्रसाद जी के उपर्युक्त दो उद्देश्य पाठकों के मन पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं और इस प्रकार नाटककार अपनी महती साधना का लक्ष्य प्राप्त करता है।

: २३ :

चन्द्रगुप्त : नामकरण

भारतीय एवं पाश्चात्य-साहित्य की अधिकांश प्राचीन कृतियों का नामकरण उसके नायक के आधार पर ही हुआ है। उदाहरणार्थ संस्कृत एवं हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओं को लिखा जा सकता है। इसी प्रकार शेक्सपियर आदि पाश्चात्य नाटककारों का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। साथ ही, यह भी स्मरणीय है कि भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य में अनेक साहित्यिक कृतियां ऐसी भी हैं जिनके नामकरण में नायक को उपयुक्त गौरव दिये जाने की प्रथा का विरोध किया गया है। वर्तमान साहित्य में तो बंधी बधाई लीक से हटकर चलने के आग्रह के कारण एक अलग ही प्रवृत्ति पनप रही है। जिसके प्रभाव वश नाटककार भी अपने नाटकों का नामकरण नायक-नायिका के ही आधार पर न करके प्रवृत्ति या कृति में व्याप्त विचार विन्दु को केन्द्र में रखकर किया जाने लगा है। किन्तु प्रसाद के नाटकों को यदि हम सरसरी दृष्टि से देखें तो अनेक तथ्य इसकी पुष्टि करेंगे कि प्रसाद ने आयासपूर्वक अपने नाटकों को नायक या नायिका प्रधान बनाकर प्राचीन भारतीय आदर्श का पालन किया है। प्रसाद की कुछ कृतियाँ इस तथ्य की अपवाद भी हैं 'चन्द्रगुप्त' प्रसाद की सशक्त रचना है तथा इसके निर्माण को पीछे भी प्रसाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावना सक्रिय रही है। अतः अपने अन्य नाटकों की भाँति यहाँ भी प्रसाद ने नायक के नाम के आधार पर ही नाटक का नामकरण किया है।

संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका दोनों में से एक के आधार पर नाटक का नामकरण की परिपाटी तो है ही; साथ ही, अन्य दो परिपाटियाँ भी हैं जैसे नायक-नायिका दोनों के सम्मिलित नाम के आधार पर तथा विषय वस्तु

की प्रवृत्ति के आधार पर नाटक का नामकरण। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में नाटक के नामकरण की तीन पद्धतियां रही हैं इन तीनों के उदाहरण के रूप में क्रमशः श्री हर्ष की 'रत्नावली' महाकवि कालिदास की 'मालविकाग्निमित्रम्, और भासकृत 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

प्रसाद जी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं और ऐतिहासिक नाटक का नामकरण नायक या नायिका के आधार पर ही प्रायः होता है। प्रसाद जी के अन्याय ऐतिहासिक नाटकों में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ 'स्कन्दगुप्त' 'अजातशत्रु' और ध्रुवस्वामिनी' आदि का नाम लिया जाता सकता है। ग्यातव्य है कि उपर्युक्त प्रथम दो नाटकों में नायक की प्रधानता है जबकि 'ध्रुवस्वामिनी' में असाधारण साहस और शक्ति से सम्पन्न ध्रुवस्वामिनी के चरित्र का गायन हुआ है। जहां तक आलोच्य नाटक की बात है, इसमें भी आद्यंत चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व ही छाया हुआ है।

नाटक का नाम ऐसा होना चाहिए जिसके उच्चारण मात्र से नाटक की मुख्य कथा, नुख्य घटना, मुख्य पात्र तथा रचना के उद्देश्य का चित्र-सा खिच जाय। वस्तुतः ऐसे नाम का गायन करना जो उपर्युक्त सभी विशेषताओं को समाहित किए हो, अत्यन्त कठिन कार्य है। विशेषतः उस युग में जब हिन्दी नाटक अपनी बाल्यावस्था में था तथा उसके समय संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का आदर्श था। दूसरी बात उस समय का पाठक भी इतना प्रबुद्ध नहीं हो पाया था कि अत्यधिक जटिलताओं से भरा नाम उनमें समानतः लोकप्रिय हो। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नामकरण के पीछे बहुत अंशों में शेक्सपियर के नाटकों का आदर्श रहा होगा क्योंकि शेक्सपियर से अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं तथा उनका नामकरण भी नायकों के आधार पर ही हुआ है। इस प्रकार यदि आलोच्य कृति के नामकरण के पीछे नाटककार की प्रवृत्ति का परीक्षण किया जाय तो निश्चय ही हमें स्वीकार करना होगा कि प्रसाद ने किसी क्रांतिकारी पद्धति का अनुसरण न कर प्रचलित आदर्शों को ही अपनाया है। फलतः प्रस्तुत नामकरण की कुछ ही विशेषताओं का समावेश हो पाया है। यह नाम पाठक के मन पर या उनकी चेतना के पटल पर वह सब कुछ उतनी शसक्त रूप में नहीं उभार पाता है जिसका नियोजन प्रसाद जी ने प्रस्तुत

नाटक में सफलता पूर्वक किया है। आलोच्यकृति का दूसरा क्या नाम होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर शायद प्रसाद जी ही अच्छी तरह दे पाते यदि वे पारस्परिक लीक से हटकर अपने सम्पूर्ण कथ्य को व्यंजित करने वाले नाम क्रम की तलाश करते। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसाद जैसे मर्मज्ञ नाटककार यदि चाहते तो निश्चय ही इससे अधिक सशक्त नामकरण हो सकता था। किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए नायक को आधार बनाना कई दृष्टियों से उचित था और प्रसाद जी ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझा था।

आलोच्य नाटक के नामकरण पर विचार करते समय कुछ अन्य बातों पर भी विचार किया जाना आवश्यक है जैसे सम्पूर्ण नाटक की घटनावली, सम्पूर्ण संवेदना, आरम्भ, मध्य और अन्त, व्यंजकता और संक्षिप्तता।

सम्पूर्ण नाटक की घटनावली का यदि विहंगावलोकन किया जाय तो आलोच्यकृति, का नामकरण विशेष अनुपयुक्त नहीं लगता। कारण, प्रसाद ने सम्पूर्ण घटनावली का नियोजन एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर किया है जिनमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं देशभक्ति की भावना को जगाना मुख्य कहे जा सकते हैं और इन दो प्रमुख उद्देश्यों के आलोक में यदि आलोच्य कृति के नामकरण की विवेचना की जाए तो प्रसाद द्वारा प्रस्तुत 'चन्द्रगुप्त' नाम सटीक ही प्रतीत होता है। जहाँ तक नाटक द्वारा उत्पन्न सम्पूर्ण संवेदना के आलोक में इस नामकरण के औचित्य का प्रश्न उठता है, इस दृष्टि से यह नामकरण अशक्त प्रतीत होता है। सम्पूर्ण संवेदना को व्यंजित करने वाले अन्य अनेक नाम आलोच्य नाटक के लिए हो सकते थे। नाटक के आरम्भ, मध्य और अन्त सर्वत्र ही प्रसाद का अपना निजी दृष्टिकोण सबल रूप में प्रस्तुत हुआ है और उस दृष्टिकोण को वहन करने वाले पुरुष पात्रों में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का नाम लिया जा सकता है। इस दृष्टि से आलोच्य कृति का नाम 'चन्द्रगुप्त' विशेष आपत्तिजनक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु नाटक के सम्पूर्ण कलेवर में चाणक्य का जो सार्वभौम व्यक्तित्व झांकता है, उसे देखते हुए इस नाटक के प्रस्तुत नामकरण के औचित्य पर मतैक्य होना सम्भव नहीं। व्यंजकता की दृष्टि से यदि देखा जाय तो आलोच्य कृति का नाम विशेष प्रभावशाली प्रतीत नहीं होता। यह सत्य है कि प्रसाद के नाट्य-साहित्य के मूल में संस्कृति उत्थान

और देशभक्ति की भावना का उद्बोधन प्रमुख रहा है किन्तु प्रसाद जैसे व्यंजना प्रधान कवि हृदय सम्पन्न नाटककार के लिए 'चन्द्रगुप्त' से अधिक व्यंजना प्रधान नामकरण की आशा तो की ही जा सकती थी। फिर हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि 'चन्द्रगुप्त' के नाम भारतीय सभ्यता और संस्कृति के रक्षक का बिम्ब जुड़ गया है और प्रसाद ने अपने नाटकों में चन्द्रगुप्त के जिस उज्ज्वल चरित्र को प्रस्तुत किया है उसको ध्यान रखकर चन्द्रगुप्त एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि श्रेष्ठता और भारतीयता के रक्षक का एक प्रतीक प्रतीत होता है। निश्चय ही प्रसाद के प्रस्तुत नामकरण के पीछे भी ये ही सारी उच्च भावनाएँ सक्रिय ही रही होंगी। अतः व्यंजकता की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' नामक सटीक कहा जा सकता है। संक्षिप्तता तो नाम में है ही।

नामकरण के औचित्य की परीक्षा कृति के विवेचन के संदर्भ में भी अपेक्षित है। नाटक से नायक का महत्व सर्वोपरि होता है क्योंकि कथानक उसी के चतुर्दिक घूमता रहता है। जहाँ तक आलोच्य कृति के नायक की बात है, विद्वानों मे मतभेद है। विद्वानों का एक वर्ग आचार्य चाणक्य के नायकत्व का प्रतिपादन करता है जबकि दूसरा वर्ग नाटककार के नामकरण के आधार पर ही प्रस्तुत कृति का नायक चन्द्रगुप्त सिद्ध करता है। अतः यदि चन्द्रगुप्त को नायक मानते हैं तो चाणक्य से उसकी संक्षिप्त तुलना भी अपेक्षित है ताकि यह प्रश्न सुलझ सके। सम्पूर्ण नाटक के प्रभाव की दृष्टि से यदि विचार करें तो निश्चय ही चाणक्य का चरित्र अधिक सशक्त दिखता है क्योंकि वह सम्पूर्ण घटनाचक्र का नियामक है। किन्तु प्रसाद की अन्यान्य कृतियों के संदर्भ में यदि विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी नाटकों का नामकरण प्रसाद जी ने प्रधान पात्र या नायक के आधार पर किया है अतः इस नाटक का नायक भी उन्होंने चन्द्रगुप्त को स्वीकार किया है।

विद्वानों का वर्ग जो नायक के रूप में चाणक्य को स्वीकार करते हैं, प्रस्तुत नाटक का नाम 'चन्द्रगुप्त के बदले 'आचार्य चाणक्य अधिक उपयुक्त मानते हैं। इन विद्वानों के अनुसार चाणक्य का व्यक्तित्व इतना सशक्त है कि सम्पूर्ण नाटक में चन्द्रगुप्त भी उसी के द्वारा नियंत्रित होता है, वह चाणक्य के

चाणक्य—"परन्तु इससे क्या ? वह तो होकर रहेगा, जिसे मैंने स्थिर कर लिया है। वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय-पटल में बिजली के समान नाच उठी है।

चन्द्रगुप्त—"आपने गुरुदेव का—इस आर्य साम्राज्य के निर्माणकर्ता ब्राह्मण का वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है।"

सिस्यूकस—"उस बुद्धिसागर आर्य साम्राज्य के महामन्त्री चाणक्य को देखने की अभिलाषा थी।

इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त कथनों के आलोक में जब हम चाणक्य के व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करते हैं तो चन्द्रगुप्त उसके समक्ष एक आज्ञाकारी सैनिक-सा प्रतीत होता है। फिर भी चन्द्रगुप्त की प्रधानता और उसके नायकत्व की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः नाटक के अन्त में प्रसाद चाणक्य से अलग अपना व्यक्तित्व बनाते दिखते हैं तथा प्रसाद जी का मन्तव्य भी चन्द्रगुप्त के नायकत्व के पक्ष में ही प्रतीत होता है। चन्द्रगुप्त के नायकत्व को सिद्ध करने वाली कुछ अन्य बातें भी हैं—

(१) भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार नाटक का नायक नाटक के अंगीरस का आलम्बन होता है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त ही शृंगार और वीर दोनों के आश्रय हैं।

(२) नाट्यशास्त्र की दृष्टि से नायक फलभोक्ता होता है। प्रस्तुत नाटक में चन्द्रगुप्त राज्यप्राप्ति का फलभोक्ता है।

(३) नाटक की नायिका कार्नेलिया की प्राप्ति भी चन्द्रगुप्त को ही होती है।

(४) चन्द्रगुप्त में नायक के सभी शास्त्रीय गुण हैं। जहाँ तक उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की बात है वह भी दृष्टव्य है—

चन्द्रगुप्त—"चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगलगान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ, मैं आज सम्राट् नहीं सैनिक हूँ। चिन्ता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या ?

अतः प्रसाद जी की नाटक के नामकरण सम्बन्धी विशेषण प्रवृत्ति के सन्दर्भ में आलोच्य कृति का 'चन्द्रगुप्त' नाम उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

: २४ :

चन्द्रगुप्त : एक तुलनात्मक अध्ययन

मौर्यकालीन संस्कृति के विषय में प्रभूत सामग्री हमें विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नायक नाटक में मिलती है। इसी नाटक के आधार पर हम उस काल की संस्कृति और इतिहास के तत्वों को संगृहीत कर, अपना नवीन भवन निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि इस नाटक में अथवा इस नाटक के नायक---राक्षस का चरित्र वह उद्गम-स्थल है, जहां आकर नन्दवंश का पराभव और मौर्यवंश का विकास दिखाई देता है। इसलिए राक्षस के चरित्र को नन्द की विलासिता का अन्त और चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था का प्रारम्भ समझना चाहिए। हिन्दी साहित्य में जो भी रचनाएँ मिलती हैं, वे किसी न किसी रूप में 'मुद्राराक्षस' नाटक से अवश्य प्रभावित हैं, चाहे उसमें उनके नायक राक्षस के चरित्र को न भी अपनाया गया हो।

हिन्दी साहित्य में 'चन्द्रगुप्त' नाम से तीन नाटक उपलब्ध होते हैं, जिन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विशाखदत्त के नाटक का प्रभाव पड़ा ही है। सर्वप्रथम 'चन्द्रगुप्त' नाटक राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली से प्रकाशित हुआ था जो पारसीक नाटक कम्पनियों को ध्यान में रखकर लिखा गया था। इसलिए प्रभाव एवं उद्देश्य के दृष्टिकोण से इसमें कोई गम्भीरता देखने को नहीं मिलती। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी किसी प्रकार की स्वाभाविकता एवं चारित्रिक परिष्कार की अनुभूति नहीं होती। नाटककार अन्त तक थियेट्रिकल कम्पनियों के वातावरण से मुक्त नहीं हो पाता। अतः साहित्यिक संस्पर्श की कहीं भी झलक नहीं मिल पाती। भारतीय संस्कृति के जागरण का तो प्रश्न ही दूर रहा। अतः कहा जा सकता है कि राधेश्याम कथावाचक और बेताब

आदि का नाम तो साहित्यिक नाटककार के रूप में गणना मात्र ही है, स्थानिक प्रामुख्य नहीं।

अब तो नाटक चन्द्रगुप्त और चन्द्रगुप्त मौर्य क्रमशः द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद के रह जाते हैं, जिनमें अपनी-अपनी मान्यताएँ विशेष हैं। कथानक यद्यपि मुद्राराक्षस और इन दोनों नाटकों का प्रायः एक ही है। विशाखदत्त का हिन्दी संस्करण भारतेन्दु ने हिन्दी में प्रकाशित किया पर उन दोनों की परिस्थितियों और समस्याओं में महान अन्तर है। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में राक्षस और चाणक्य इन दो बुद्धि सागरों की बौद्धिक क्रीड़ाओं को अंकित किया है। इसमें यह विशेषता है कि उसमें चन्द्रगुप्त को सिंहासनासीन प्रारम्भ ही में दिखाया गया है और बुद्धि-वैभव का कुशल मन्त्री राक्षस अपनी राजभक्ति के वशीभूत हो नन्दवंश की ही पुष्टि करना चाहता है, पर चाणक्य उसकी बुद्धि की इस शक्ति को मोड़कर चन्द्रगुप्त की पुष्टि के रूप में परिवर्तित करना चाहता है। इन्हीं दोनों के बुद्धि-वैभव का कलात्मक संकेत मुद्राराक्षस नाटक में है। रूपात्मक ढंग से कहा जा सकता है कि इसमें राक्षस और चाणक्य ये दो शतरंज के मुख्य खिलाड़ी हैं, जो एक-दूसरे को शह देने की प्रतिक्षण सोचते रहते हैं। अन्य पात्र-पात्रियाँ तो उनके मोहरे मात्र हैं; चन्द्रगुप्त उनमें मुख्य मोहरा कहा जा सकता है। इसमें ही चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र बतलाया गया है, पर चाणक्य का चरित्र प्रसाद के चन्द्रगुप्त मौर्य के चाणक्य के चरित्र की समता में नहीं खड़ा किया जा सकता, क्योंकि उसकी चालों में अन्त तक संकीर्णता बनी ही रहती है। उसका काम केवल यही दिखाई देता है कि किसी प्रकार राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना दे और उसके कार्य की इतिश्री हो जाय। नाटक का नायक तो चन्द्रगुप्त ही है पर वह चाणक्य के हाथ का खिलौना ही है। नामकरण और कथा की व्यापकता और प्रमुखता की दृष्टि से तो राक्षस को ही इसका नायक होना चाहिए था।

अब आता है द्विजेन्द्रलाल राय का 'चन्द्रगुप्त'। इसकी कथा भी मुद्राराक्षस के आधार पर है। उन्होंने भी 'चन्द्रगुप्त' को मुरा का दासी पुत्र ही बतलाया है और चन्द्रगुप्त के चरित्र में भावुकता भी अधिक है, यथार्थकता कम है। उसकी भावना-विशेष के वशीभूत होकर वह कभी-कभी अपने पथ से विचलित

अथवा भटकता हुआ-सा दिखाई देता है। उसके आन्तरिक पक्ष में दृढ़ता दिखाई नहीं देती। यदि गीता के अर्जुन जैसे चन्द्रगुप्त की विभ्रमित और विचलित स्थिति को सुदृढ़ और सुयोजित करने वाला कृष्ण के समान चाणक्य सर्वत्र उसके साथ न रहे तो उसकी नौका डूब जाय; क्योंकि उस नौका में इतना सबल दृष्टिगत नहीं होता कि राजनैतिक तूफानों से टक्कर ले सके। उसने पूर्णरूपेण अपना समर्पण चाणक्य के हाथों में कर दिया है और उसकी दयनीय स्थिति ऐसी प्रतीत होती है जैसे मदारी के हाथ में बन्दर हो। मुद्राराक्षस के चाणक्य के चरित्र का विकास अवश्य हुआ है राय के चन्द्रगुप्त में। जो चाणक्य 'मुद्राराक्षस' नाटक में क्रूरता और भयंकरता की मूर्ति और राजनैतिक नीरसता से परिपूर्ण था, वही राय के चन्द्रगुप्त में अपने व्यक्तित्व को भी सम्भालता दिखाई देता है। इसमें ब्राह्मणत्व का गौरव (जो प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त में पूर्णता को प्राप्त होता है) प्रस्थापित होता है। पर वह गौरव वर्गात्मक संघर्ष ही तक सीमित हो जाता है। चाणक्य के अतिरिक्त इस नाटक के अन्य पात्र भी अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं।

राय जी का विकास मनोवैज्ञानिक दृष्टि अगला कदम है। जहाँ तक नन्द की हत्या का सम्बन्ध है, वह तो शकटार के हाथों ही कराई गई है। चाणक्य, मुरा और कात्यायन इस हत्या में भाग लेना उचित नहीं समझते, फिर उनके मत्थे इस हत्या का आरोप लगता ही है। मुरा की राजमाता होने की अभिलाषा के परिणामस्वरूप चाहे यह घातक प्रवृत्ति रही हो, पर जिसके अन्न से उसका संवर्द्धन हुआ है उसी का वध कराना कुछ मनोवैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता। पर इस वध में भाग लेने के कारण स्वयं ही उसकी शंका का "वह नन्द की प्रेयसी थी और चन्द्रगुप्त नन्द के रक्त से ही मुरा के गर्भ से पैदा हुआ था", स्वतः ही समाधान भी हो जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में रायजी ने मुरा का नारी-पक्ष कुछ दबा-सा दिया है। जब वह कहता है कि 'मैं तो इसकी (नन्द) की रक्षा करने आई थी' तो ऐसा प्रतीत होता है मानो मुरा का नारी-हृदय न बोलकर कवि का कठोर हृदय ही बोल रहा है।

चन्द्रगुप्त का चरित्र बहुत शिथिल दिखाया है। जिस चन्द्रगुप्त का भविष्य

उसके हृदय को शंकित दिखाकर राय जी ने नायक के चरित्र को अस्वाभाविक बना दिया है। चाणक्य के रुष्ट होकर चले जाने पर चन्द्रगुप्त असहाय-सा प्रतीत होता है। जिस चाणक्य को चन्द्रगुप्त अपने गुरु के रूप में मान चुका है, उसी को आवेश में आकर बन्दी बनाने तक की आज्ञा दे देता है। उस घटना से चन्द्रगुप्त के चरित्र में अशिष्टता का पुट भी आ जाता है, पर चाणक्य की ओर कोई भी परिवार हाथ नहीं बढ़ा पाता, उससे उसके व्यक्तित्व की झलक भी मिलती है।

राय का चन्द्रगुप्त पूर्णरूप से गृहकलह तत्पश्चात् युद्ध का रूप लेकर लिखा गया है। यह नाटक की संकीर्णता है। इस गृह युद्ध में चन्द्रगुप्त भी एक हल्का-सा रूप लेकर आता है और सम्पूर्ण नन्द कुल की कथा के साथ कथानक नन्द के महल के चारों ओर ही चक्कर काटता रहता है। दूसरी संकीर्णता यह प्रतीत होती है कि राय जी ने शकटार और कात्यायन का किस आधार पर और क्यों एकीकरण किया है और एक महान नैय्यायिक एवं वैय्याकरण क्यों कर हत्याकाण्ड में फँसेगा। इसी कात्यायन ने एक स्थान पर नन्द के साले वाचाल द्वारा चाणक्य का अपमान कराया है, वही क्योंकि चाणक्य से मिलकर क्रान्तिकारियों और विद्रोहियों के फन्दे में फंसेगा। इससे प्रतीत होता है कि उसका चरित्र भी दृढ़ भावभूमि पर टिका हुआ है; क्योंकि अपने पक्ष की असमर्थता, दुर्बलता और असफलता के कारण ही वह चाणक्य का साहाय्य ग्रहण करता है। तीसरी संकीर्णता है पात्रों के व्यक्तित्व की। वे सब अपने वर्गों की दुहाई देते हुए-प्रतीत होते हैं।

इस नाटक की विशेषताएँ हैं भारतीय और ग्रीक संस्कृतियों का समन्वय, जिसका माध्यम है नारी हेलन। आपने चन्द्रगुप्त के साथ वैवाहिक सम्बन्ध दिखाकर अच्छा प्रयोग किया है। इस नाटक की दूसरी विशेषता है विश्वप्रेम की झलक। पात्र विश्व प्रेम की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। राज्यक्रांति का स्वरूप भी इसमें स्पष्ट नहीं हो पाया है।

तीसरा नाटक आता है प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त मौर्य। इस नाटक में अपने नाटकों की कमियों को दूर रखते हुए जो प्रयोग के नवीन पद

खोज के आधार पर साहित्यिक वातावरण का निर्माण करना। इसके लिए उन्होंने 'विशाख' नाटक की भूमिका में स्पष्ट रूप से लिखा है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने वर्तमान स्थिति बनाने का प्रयत्न किया है।" 'चन्द्रगुप्त' नाटक तो स्पष्ट रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य के वंश-निर्णय और उनके क्षत्रियत्व की सिद्धि के लिए ही रचा गया है। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी ने स्वयं शोधपूर्ण भूमिका 'चन्द्रगुप्त नाटक' के सम्बन्ध में जोड़ी है। उसकी मुख्य विशेषता मौर्यवंश की ऐतिहासिकता और चन्द्रगुप्त का क्षत्रित्व सिद्ध करने के साथ ही विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय देना भी है। उन्होने लिखा है—(१) "अग्नि कुल की विभिन्न ४५ शाखाएँ हैं; पर सबसे प्रधान और लोक-विश्रुत मौर्य नाम की शाखा है...मौर्यों का नगर पिप्पली कानन था और यहाँ के मौर्य नृपति भी बुद्ध के शरीर की भस्म लेने वालों में से एक थे।" (२) 'हिन्दू नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' कह कर सम्बोधित किया है; इससे तत्कालीन हिन्दू काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुतः 'वृषल' शब्द से तो उनका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है...जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओं से उदासीन हो जाते थे, वे धार्मिक हानि से वृषलत्व को प्राप्त होते थे। वस्तुतः वे जाति के क्षत्रिय थे।" (३) 'इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है—यह अधिक सम्भव है कि नन्दों का कोई रक्त सम्बन्ध न था।" (४) "मैक्समूलर भी लिखते हैं—'मौर्य की उत्पत्ति मुरा से हुई, यह कथन भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता।' इन आधारों के कारण कहा जा सकता है कि प्रसाद के चन्द्रगुप्त का ऐतिहासिक मूल्य अत्यधिक है।

'मुद्राराक्षस' के चन्द्रगुप्त जैसा चरित्र तो राय जी के चन्द्रगुप्त में ही नहीं रहता, उसका विकसित रूप आ जाता है। पर प्रसाद के चन्द्रगुप्त के चरित्र में तो व्यक्तित्व का पूर्णत्व ही दिखाई देता है। यह चन्द्रगुप्त न तो अपने वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता है और न चाणक्य के हाथ का खिलौना मात्र ही रह पाता है। यद्यपि इस नाटक में भी शिष्य चन्द्रगुप्त गुरु चाणक्य के निर्देशों पर ही चलता है, पर इसमें सर्वत्र ही चन्द्रगुप्त के सम्मुख एक विशिष्ट उद्देश्य बना रहता है। जहाँ पर आकर चाणक्य की कठोरता का व्यक्तित्व दबता है

और बन्धन का अनुभव करता है, वहीं तिलमिला कर वह रोष प्रकट करता है और चाणक्य के चले जाने पर वह स्वावलम्बी होकर दृढ़ता से राज्य और सेना का सचालन भी करता है, जिसमें उसका धैर्य और वीरता ही प्रकट होती है। प्रसाद के कार्नेलिया मालविका और कल्याणी की ओर उसका आकर्षण दिखाकर मानवीय स्वाभाविकता भी ला दी है।

राय जी के चन्द्रगुप्त की भाँति प्रसाद का चन्द्रगुप्त भी नन्द की हत्या से अछूता ही है और ऊपरी रूप में चाणक्य भी दोषरहित ही चित्रित किया गया है। राय का चाणक्य तो नन्द की हत्या के लिए आज्ञा देता है पर प्रसाद जी का चाणक्य अपने बुद्धिवैभव एवं क्रूर नीति से संकेत ही करता है। सम्पूर्ण नाटक में राज्य क्रांति का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। राजनीति का जाल पूरे नाटक में बिछा हुआ है अन्त में राक्षस को, चाणक्य के प्रयत्नों के फलस्वरूप, चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकार करना ही पड़ता।

कथावस्तु बड़ी विशृंखल और विस्तृत प्रतीत होती है, पर प्रसाद जी सर्वत्र एक सिद्धान्त के सम्पादन में दत्तचित्त दिखाई देते हैं। इसीलिए तर्कों का बाहुल्य भी हो गया है। पात्रों की अधिकता है। कल्याणी और मालविका की हत्याएँ अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं; क्योंकि, इन कलिकाओं में से अपनी पूर्णावस्था में विकास की सौरभ ही विकीर्ण नहीं हो पाई थी और भी कार्नेलिया की माँग का सिन्दूर इनकी हत्याओं के खून की लालिमा लिए हुए है। राक्षस का चरित्र न तो 'मुद्राराक्षस' के समान स्वामिभक्ति से पूर्ण है और न राय जी के 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस जैसा राजनीति का पुतला ही प्रतीत होता है। प्रसाद जी का राक्षस अल्प राजनीतिज्ञ और विलासी है। पर उन दोनों के राक्षसों से विशिष्टता यह है कि इनमें प्रेमी हृदय भी है जो मानव का स्वाभाविक गुण है। इसके चरित्र का प्रसाद जी ने मनोवैज्ञानिक विकास दिखाया है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व के स्पर्श ने यथार्थता पर दी है, जिसमें मानव की अन्य दुर्बलताएं भी देखने को मिलती हैं।

प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में एक विशेषता यह है कि उसमें भारतीय संस्कृति का आग्रह सर्वत्र देखने को मिलता है। इसी के प्रभाव से आकर ही तो उन्होंने हेलन का परिवर्द्धित रूप 'कार्नेलिया रखा है यह भी चन्द्रगुप्त की ओर अपनी

वैयक्तिक दुर्बलता के कारण झुकी हुई नहीं है वरन् भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम होने के कारण भी आकर्षित है। नारी पात्रों के निर्माण में तो प्रायः प्रसाद जी कोमलता से ही पराभूत रहे हैं। तभी तो पुरुष पात्र नारी पात्रों के अनुगमक से प्रतीत होते हैं। राय के विश्वप्रेम के स्थान पर प्रसाद जी ने राष्ट्रीय संगठन और राष्ट्रीय गौरव को ही प्रमुखता दी है जिसकी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ भी हैं राय के चन्द्रगुप्त में नीरस ऐतिहासिकता की झलक मिल पाती है, जबकि प्रसाद में संगीततत्व की विशिष्टता होने के कारण चरित्रों और घटनाओं का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। सारांश में, कह सकते हैं कि प्रसाद का चन्द्रगुप्तमौर्यकालीन इतिहास की परम्परा और इतिहास से विकसित हुआ रूप पूर्णत्व को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है पात्र भी मनोवैज्ञानिक भावभूमि पर खड़े हुए और पूर्णतः लिए हुए दिखाई पड़ते हैं, पर कथानक की विशृङ्खलता में, यहाँ भी आकर सुसम्बद्धता देखने को नहीं मिल पाती। इस प्रकार के चन्द्रगुप्त का अपना विशिष्ट स्थान है इन तीनों नाटकों में।

चन्द्रगुप्त : गीतों की व्याख्या

तुम कनक किरण के अन्तराल में -- (पृ० ५४-५५)

प्रसंग---प्रस्तुत गीत नाट्कार 'जयशंकर प्रसाद' के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के दूसरे दृश्य से उद्धृत किया गया है। यह गीत, मगध सम्राट् नन्द के विलास-कानन में सुवासिनी ने गाया है। सभी उपस्थित सज्जनों एवं सुवासिनी के आग्रह पर राक्षस मूक अभिनय करता है और सुवासिनी गाती है कि—

व्याख्या -- हे यौवन के सौन्दर्य तुम सुनहरी किरणों में लुक-छिपकर क्यों रहते हो अर्थात् हे लज्जा से परिपूर्ण प्रेमभाव तुम सोने की किरणों में छिपकर क्यों आते हो। वास्तव में यह सौन्दर्य तो अन्तर्जगत् में विद्यमान रहता है और यह सौन्दर्य का भाव हृदय को झकझोरता रहता है। यह सुन्दरी सौन्दर्य के गर्व से गर्वित है और नतमस्तक है। वह स्त्री मानों यौवन का बादल है जिससे वर्षा की बूंदों के स्थान पर साक्षात् श्रृंगार रस की वर्षा होती है. जिससे आनन्द एवं प्रफुल्लता के कण झरते है। अर्थात् नारी के सौन्दर्य से आनन्द की झलक मिलती है और वह आकर्षक प्रतीत होता है। आगे वह सौन्दर्य अर्थात् काम भाव एवं प्रेमभाव को सम्बोधित करते हुए कहती है कि तुम लज्जा से परिपूर्ण रहकर चुप क्यों रहते हो, मुखरित क्यों नहीं होते अर्थात् अपने प्रिय पर अपने भाव प्रकट क्यों नहीं करते ! आगे की पंक्तियों में लेखक सौन्दर्य को सरिता के रूप में प्रस्तुत करता हुआ सुवासिनी के मुख से कहलवाता है कि

करती चली जा रही हो। वह युवती ऐसे लगती है जैसे मदिरा पान किए हो और मदमस्त हो। किन्तु उस तरल हँसी को छिपाने का प्रयास वह क्यों करती है अर्थात् अपने को प्रिय पर प्रकट क्यों नहीं होने देती। आगे कवि कहता है कि (सुवासिनी गा रही है) अब सांध्यकाली-श्रमपूर्ण बेला अर्थात् किशोरावस्था अब समाप्त हो गई है अर्थात् लज्जा के कारण संशयात्मक स्थिति अब समाप्त हो गई है। रात्रि में चन्द्रमा विकसित होकर प्रफुल्लित है अर्थात् अब विवाह में बँधकर प्रफुल्लित होने और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त हो गया है। अब, रजनी के आगमन के साथ-साथ उन्मुक्त मिलन का उपयुक्त अवसर है। अब संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब सुन्दरी के मुखमण्डल पर मलय-चंचल अवगुंठन की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष — (१) प्रस्तुत पंक्तियों में कवि नाट्यकार प्रसाद जी ने स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म के माध्यम से नारी सौन्दर्य का सुन्दर एवं मनोहारी वर्णन किया है।

(२) प्रेम दिवानी सुवासिनी के आन्तरिक भावों को लक्षणा-व्यंजना के माध्यम से अभिव्यक्ति मिल गई है।

(३) छायावादी विशेषताओं का आकलन भी सुन्दर बन पड़ा है।

(४) 'रजनी गन्धा की कली खिली' में सांकेतिकता है।

(५) उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है।

(६) आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए सांकेतिकता, लाक्षणिकता आदि के कारण क्लिष्टता पाई जाती है।

'निकल मत बाहर दुर्बल आह ···(पृ० ६४-६५)

प्रसंग —प्रस्तुत गीत 'श्री जयशंकर प्रसाद द्वारा विचरित नाटक ''चन्द्रगुप्त के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य से लिया गया है। सुवासिनी ने अपना गीत समाप्त किया तो उसने राक्षस द्वारा गीत गाये जाने का आग्रह किया। प्रस्तुत गीत में राक्षस ने सुवासिनी द्वारा गाए गए गीत के भावों का उत्तर देने का प्रयास किया है। स्वयं राक्षस भी अपने अन्तर्जगत में प्रेम से पीड़ित है वह इस गीत द्वारा अपने अन्त संघर्ष को सुवासिनी तक पहुंचाता है। वह अपनी वेदना

को सम्बोधित करते हुये कहता है कि—

व्याख्या—हे वेदने तू हृदय में ही स्थित रह, अपने आपको विश्व के समक्ष प्रस्तुत न होने दे, अन्यथा तुझे विश्व का उपहास-पात्र बनना पड़ेगा अर्थात् यह विश्व तेरी मजाक उड़ाएगा। तुझे विश्व से सहानुभूति प्राप्त न हो सकेगी। तू तो इस हृदय में उसी प्रकार तड़प ले जिस प्रकार शरद्कालीन घने बादलों के मध्य बिजली चमकती है या विद्युत छटा कौंध कर रह जाती है अर्थात् जिस प्रकार शरद् ऋतु के बादल गरजते रहते हैं उसी प्रकार हे वेदने तू तड़पती रह। आगे वह कहता है कि हे प्रेम! तू मेरे जीवन में रस (आनन्द) की वर्षा करता रह। प्रेम के कारण उत्पन्न पीड़ा भी मधुर होती है; इस तड़पन में भी एक विशेष आनन्द है। वह कामना करता है कि यह व्याकुलता एवं प्रेम की पीड़ा प्रलय काल होने तक चलती रहे। अर्थात् वेदना के आँचल के सहारे लम्बा समय भी निकट लगेगा क्योंकि प्रेमाभिभूत प्रेमी को समय अत्यन्त थोड़ा जान पड़ता है। अतः तू अधीर मत हो क्योंकि अब समय अधिक दूर नहीं है।

राक्षस, अपने ,प्रेमी जनों के) हृदय में वेदना एवं जीवन में अश्रुओं की तुलना आकाश में भरे तारों से करते हुए कहता है कि जिस प्रकार उसका हृदय अश्रुपूर्ण है, उसी प्रकार रजनी भी है। जिस प्रकार उसके हृदय में वेदना भरी हुई है उसी प्रकार आकाश में भी वेदना है तो किन्तु उसके समान वह अश्रुपात नहीं कर रहा है। वह कामना करता है कि इन नेत्रों से अश्रु न बहें और वे इन्हीं आँखों में छिपे रहकर वेदना सहन करते रहें। क्योंकि वह उसी को अपनी सम्पदा मानता और वह यह भी सोचता है कि अश्रुओं के साथ प्रिय की मधुर स्मृति भी समाप्त न हो जाए। इसीलिये वह अपनी वेदना को दूसरों पर अभिव्यक्त नहीं होने देना चाहता।

वह अपनी वेदना को सम्बोधित करते हुए कहता है कि तू कोकिल एवं पपीहे के समान प्रकट न हो जाना। हे ईश्वर! मुझे भी इनके समान चाह लग जाए। जिस प्रकार कोकिल पंचम स्वर में गा उठती है और पपीहा पिउ-पिउ की पुकार कर उठता है उसी प्रकार मेरी भी दशा न हो जाए अर्थात् मैं विरह वेदना को दूसरों पर प्रकट न कर बैठूं और जिस प्रकार इनकी (कोकिल,

पपीहे) पुकार को इनके प्रियतम नहीं सुनते उसी प्रकार मेरी पुकार को सुनने वाला भी कौन होगा ? अर्थात् मेरी आर्तवाणी सुनेगा ही कौन ? इसीलिए तू (वेदने) प्रकट न हो।

वह आगे कहता है कि वेदना मेरे पास आकर टिक जाए। वह मौन भाव से श्वासों के माध्यम से चली आए। उसका हृदय भी उसके समीप ही है। अतः वेदना की छाया भी उसे न छूने पाए (इसीलिए वह वेदना से शान्तिपूर्वक आने का आग्रह करता है) क्योंकि उसका हृदय अत्यन्त ही कोमल एवं स्निग्ध है और वेदना में अन्यतम ताप भरा हुआ है, अतः वह उसे जला देगी।

वह आगे कामना करता है कि वेदना उसके हृदय को झंकृत न करे। वह कोमल भावों को अपने में संजोए हुए सोया है अर्थात् उसमें उसके प्रियतम की अनेक मधुर स्मृतियाँ भरी हुई हैं। तू इनको जगाकर झंकृत करके मेरे हृदय पर अत्याचार मत कर अर्थात् दुस्साहस करके मेरे स्वप्नों को भंग न कर। वह अपने भावों की अभिव्यक्ति नहीं चाहता क्योंकि अभिव्यक्ति से वेदना बढ़ती है और मधुर, कोमल, स्निग्ध भावों की विकृति आ जाती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत गीत में राक्षस ने अपने हृदयगत भावों को प्रकट किया है। वह भी सुवासिनी पर अनुरक्त है किन्तु दूसरों को इस बात का ज्ञान नहीं होने देना चाहता।

(२) प्रस्तुत गीत सुवासिनी के पहले गीत का ही पूरक है।

(३) देखता है स्मृतियों का स्वप्न,

हृदय पर मत कर अत्याचार।—पंक्तियों में लेखक ने प्रेम का इतिहास ही कह दिया है।

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' (पृ० १००)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत 'प्रसाद' के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत किया गया है। यह गीत सेनापति सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया ने गाया है। कार्नेलिया भारतीय संस्कृति एवं दर्शन से अत्यन्त प्रभावित है। वह भारत के कण-कण में आत्मीयता का अनुभव करती है। यद्यपि वह ग्रीक-संस्कृति से प्रेम करती है किन्तु चन्द्रगुप्त पर आसक्त है और

भारत से भी प्रभावित है। वह अपने भावों को अभिव्यक्ति देते हुए कहती है कि—

व्याख्या—यह भारत देश अत्यन्त सौन्दर्यशाली एवं शोभा का अगाध आगार है। यह देश माधुर्य से परिपूर्ण है अर्थात् यह देश ज्ञान एवं प्रकाश का पुञ्ज है। यह भूमि सिद्धों एवं महात्माओं की भूमि है। (लक्षणा से) इस देश में आने पर अनन्त एवम् असीम आकाश को भी आधार मिल जाता है अर्थात् अज्ञान एवम् अन्धकार पर भी यहाँ विजय प्राप्त की जाती है (दार्शनिक एवं योगियों ने अज्ञान की अनेक गुत्थियों को सुलझाया है)। प्रातःकालीन सूर्योदय के कुंकुम रंग के प्रकाश में सुन्दर एवं सरस कमल के ऊपर केशर की पीली-पीली पंखुड़ियों के समान परमाणु क्रीडाएँ करने लगते हैं और वृक्षों की सुन्दर शाखायें नृत्य करने लगती हैं अर्थात् उषा के उदय होते ही अनेक सुन्दर पक्षी वृक्षों की शाखाओं पर नृत्य करने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उषा के आगमन से चारों ओर अर्थात् समस्त देश में जीवन एवं जागृति और स्फूर्ति की लहर का प्रवेश हो गया है और मङ्गलकारी किरणें विकीरित हो रही हैं। पक्षीगण, भारतवर्ष को अपना प्रिय नीड समझ कर प्रातःकालीन मलयगिरि पवन की धारा के साथ-साथ इन्द्रधनुष की भांति विभिन्न रंगों वाले पंखों को फैलाए हुए, उड़े चले आ रहे हैं। वे समझते हैं कि यही हमारा आश्रय स्थल है और हम यहीं वास करेंगे। इस देश के निवासी नेत्र-रूपी बादलों से अश्रु-रूपी करुणा जल की वृष्टि करते रहते हैं। कहने का तात्पर्य है कि भारतवासी, स्नेह, दया, विश्वबन्धुत्व, करुणा आदि कोमल एवं मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण हैं अर्थात् भारतवासी मानवीय गुणों के आगार हैं। इस देश में ही अनन्त दूरी से आने वाली लहरों को किनारा मिलता है अर्थात् यहाँ असीम का ससीम से मिलन होता है अर्थात् यहाँ जीवन के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन होता है या हुआ है।

रात्रिभर जागरण करके जब समस्त तारागण आलस्य में ऊँघने लगते हैं अर्थात् उषाकाल में जब समस्त विश्व ऊँघ रहा था या आलस्य में पड़ा हुआ था तब यहाँ उषा स्वर्ण का घड़ा लेकर अर्थात् प्रातःकालीन स्वर्णिम किरणें ला कर यहाँ सुख बिखेर देती है। अर्थात् प्रातःकाल यहाँ के मानवों में स्फूर्ति ;

प्रफुल्लता उत्पन्न करके मानव जीवन को कल्याणमय, मङ्गलमय एवं सुखमय बना देता है।

विशेष—(१) प्रसाद जी छायावाद के प्रतिष्ठापक कवि हैं। उन्होंने अपने प्रकृति प्रेम को कार्नेलिया के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

(२) विदेशी के मुखारबिन्दु से देश का गुणगान कराना कवि प्रसाद की राष्ट्रीयता को अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुँचा देता है।

(३) प्रस्तुत गीत में लक्षणा का सुन्दर प्रयोग हुआ है—'नाच रही तरु शिखा मनोहर' एवं बरसाती आँखों के बादल में उपादान लक्षणा एवं सादृश्य पर आधारित लक्षणाएँ हैं।

(४) अर्थ गरिमा, कल्पना की रमणीयता, भाव-सौन्दर्य के लिये यह अन्यतम गीत है।

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त। (पृ० १२३)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अङ्क के पंचम दृश्य में अलका ने गाया है। अलका सिंहरण की ओर आकृष्ट है और सिंहरण भी उस पर आसक्त है। वे दोनों पर्वतेश्वर के कारागार में बन्दी हैं। पर्वतेश्वर भी अलका पर कुदृष्टि रखता है। अलका को देश-हित के लिए पंचनद की प्रणयिनी का अभिनय करने की आज्ञा मिली है। वह सिंहरण को यह बात बताती है तो उसके भावों पर वज्रपात होता है किन्तु वह कूटनीति को जानकर सोने चला जाता है। वह भावना के विश्व में विचरण करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—जिस समय उसके जीवन में यौवन ने प्रवेश किया था तो उसे मस्त बना दिया और उसके हृदय में प्रेम को झंझावात उठ खड़ा हुआ और उसने अपना हृदय बेच दिया अर्थात् समर्पित कर दिया। उस समय उसने किसी बात की भी तनिक भी परवाह नहीं की थी। उसे किंचित मात्र भी चिंता न थी कि वह अपना हृदय किसे समर्पित कर रही है। उसे उस समय सुपात्र अथवा कुपात्र के पहचानने का भी अवकाश नहीं था अर्थात् उसने अपने आपको अपने प्रिय पात्र के प्रति बिना सोच-विचार के पूर्ण समर्पित कर दिया था। किन्तु जब उसने पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है और उसके हृदय का रस-घट

रिक्त होने लगा है, उसके हृदय पर कुठाराघात होने लगा है (क्योंकि उसे प्रियतम से अलग होना पड़ेगा)। उसे विगत की स्मृतियाँ वेदना दे रही हैं, मानसिक आघात पहुँचा रही हैं। उसका हृदय पीडा एवं कसक से आप्लावित हो रहा है। वेदना की पीड़ा के कारण हृदय की कोमलता नष्ट हो रही है, हृदय शुष्क हो रहा है, नेत्रों से अश्रुपात हो रहा है, तो आहें निकल रही हैं। यही नहीं तुम्हारी स्मृति अब बिना किसी रोक-टोक के आकर मुझे परेशान कर रही है और अश्रुओं का मार्ग पर छिड़काव हो रहा है। अब प्रियतम इस मार्ग पर सम्हल-सम्हल कर चलना पड़ेगा चाहे देर भले ही लगे किन्तु आस लगाए बैठे रहना भी अच्छा ही है। वह अपनी कामना अभिव्यक्त करते हुए कहती है कि उसकी मनोकामनाएँ सिद्ध हो जाएँ, उसकी समस्त आशाएँ पूरी हो जाएँ। यदि उसकी आकांक्षाएँ पूरी नहीं हुईं, उसका प्रियतम न आ सका तो वे सब (आशा-आकांक्षाएँ) आँखों के माध्यम से पलकों के कगारों से अश्रुओं के रूप में बह निकलेगी जिससे उसकी आँखों में धुँधलापन छा जाएगा और उसे अपने अत्यन्त सुन्दर प्रियतम को पहचानने में भी असमर्थता रहेगी।

विशेष—(१) अलका के प्रेम की व्यंजना इस गीत में हुई है। यह भी सहृदय पाठक को ज्ञात होता है कि वह आत्मसमर्पण कर चुकी है।

(२) यहाँ प्रेम के साथ-साथ कर्त्तव्य-निष्ठा भी साथ-साथ चल रही है।

(३) भावों एवं विचारों से भी गीत सुन्दर है।

(४) यह गीत भी छायावादी शैली का गीत है जिसमें सूक्ष्मता, कल्पना वैयक्तिकता आदि के दर्शन होते हैं।

बिखरी किरन अलक व्याकुल हो। (पृ० १२८-२६)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक के सप्तम अंक से उद्धृत किया गया है अलका पर्वतेश्वर के प्रासाद में अपने जीवन के संघर्षमय क्षण व्यतीत कर रही है। वह अपने हृदय पर पत्थर रख-कर पर्वतेश्वर के प्रति राग का भाव प्रकट करते हुए उसका सचालन कर रही है। किन्तु उसके हृदय में भी कर्त्तव्य पालन एवं प्रेम में होड़-सी हो रही है। पर्वतेश्वर से उसका वार्तालाप चल रहा है। वह श्यामा रजनी की वेणी को

निहारती है। उसके हृदय में उद्वेलन उठ खड़ा होता है। पर्वतेश्वर के कहने पर वह गाने लगती है।

व्याख्या—जिस भाँति आकाश मण्डल में तारों के प्रकाश की किरणें फैल रही हैं उसी प्रकार उसके बालों की लटें उसके कुम्हलाए मुखमण्डल पर बिखर रही हैं (उसका मुखकमल प्रिय के वियोग के कारण कुम्हलाया हुआ है, उसके मुख पर चिन्ताओं की रेखाओं के समान वे लटें बिखरी हैं)। वह आकाश गंगा को एकटक देखते हुए अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। छाया पथ में उड़ने वाले परमाणु उसके प्रियतम के आने की आशा को बढ़ाते हैं किंतु आकाशमंडल में सहसा घने काले मेघ छाकर उस मिलन आशा को धूमिल बना देते हैं। उसका यौवन प्रतिपल गल रहा है, क्षीण हो रहा है। वह जीवन के इस कृष्णपक्ष में समय रूपी पक्षी को अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। वह किसी की याद में घुल रही है। उसकी स्थिति इस समय चंचल तारिका के समान है जो सुन्दर होते हुए भी मौन है।

कवि को अलका का मौन खलता है और वह उसे बोलने के लिए प्रेरित करता है। वह कहती है कि जब (तेरा प्रियतम) मन्दाकिनी (स्वर्ग गङ्गा) तेरे निकट है तो तेरे नेत्र प्यासे क्यों हैं? अर्थात् अपने प्रिय के निकट रहते हुए तू जाकर उसके दर्शन से अपने नेत्रों को तृप्त कर; क्योंकि जब तक यौवन है तभी तक यह सब कुछ है, उसके पश्चात् तो यह सब गोरख धन्धे के समान है। कवि का तात्पर्य यह है कि अपने सौन्दर्य को रात्रि में उड़ा ले अन्यथा प्रातःकाल होते ही उषा के आगमन के साथ ही उसका यौवन फीका पड़ जाएगा। अर्थात् जब उसका आकर्षण कम हो जाएगा तो इसे कोई भी नहीं देखेगा अर्थात् यौवन के समाप्त होने पर उसमें प्रियतम को रिझाने की शक्ति भी नहीं रह पायेगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत गीत में अलका के व्यंग एवं संघर्ष मय जीवन का चित्रण किया गया है।

(२) 'किरन अलक' 'चिन्ता-लेख' 'रूप-निशा' आदि में रूपक अलङ्कार एवं 'रजत-चित्र-सी' में उपमा अलङ्कार का चमत्कार दर्शनीय है।

(३) गीत के माध्यम से अलका को अपने भाव में पूर्ण सफलता मिली है

अतः गीत नाटक की स्थिति के अनुरूप है।

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा। (पृ० १५५)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के तृतीय अंक के पंचम दृश्य में नन्द सभा में सुवासिनी द्वारा गाया गया है। वह राक्षस की प्रणयिनी एवं नन्द की नर्तकी है वह अनुपम सुन्दरी है। प्रस्तुत गीत में उसका उद्दाम सौन्दर्य व्यंजित हुआ है। नन्द मद्यप एवं विलासी राजा है। वह उत्तेजक एवं उन्मादक गीत गाने का आग्रह करता है तो सुवासिनी गाती है—

व्याख्या— आज उसके जीवन में यौवन का श्रावण कुंजित हो रहा है। उसके हृदय के तार प्रेम एवं यौवन की मादकता से झंकृत हो रहे हैं। उसके भाव कोकिल के समान राग अलापने लगे हैं। आज उसे ऐसा अनुभव हो रहा है मानो मदिरा-पान के कारण उसमें उन्मत्तता भर गई है और वह प्रेमलाप कर रही है। आनन्द एवं सुख प्राप्ति के कारण उसका हृदय आज स्वयं ही मानो शिथिल हो रहा है, वह अपनी भावनाओं को स्वयं अभिव्यक्त कर रहा है यौवन ने उसे मादक बना दिया है और उसकी माधुरी के कारण आज उसने लज्जा का आवरण उतार कर फेंक दिया है।

वह अब प्राकृतिक उपादानों का वर्णन करते हुए कहती है कि चारों ओर चाँदनी छिटक रही है जो वातावरण को और भी मतवाला बना रही है। यह सुन्दरी रूपी निशा झिलमिलाते हुए नक्षत्रों रूपी अधरों के माध्यम से उसे इस बात का संकेत दे रही है कि यौवन की रात्रि क्षणिक है अतः इस मधुमयी अवस्था में वह आनन्द मना ले। वह कहती है कि मुझे ज्ञान नहीं है कि मेरे मादक यौवन को उत्तेजित करने के लिए कौन मदिरा का मिश्रण घोल रहा है।

विशेष—(१) इस गीत से उत्तेजित होकर नन्द सुवासिनी को पकड़ लेता है जिससे उसकी विलासिता पर प्रकाश पड़ता है और नन्द की विलासिता को चित्रित करने में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है।

(२) आकाश में झिलमिलाते तारों को अधरों को कम्पित होना कहा गया है। जो एक अनूठी कल्पना है।

(३) वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, माधुर्य एवं संगीत सभी इस गीत में पाये

जाते हैं। प्रस्तुत गीत मांसल शृंगार का उदाहरण है।

(४) 'मधु मदिरा' 'कहती-कम्पित' 'बहकाने की बात' में छेकानुप्रास अलंकार है। अनुप्रास के अन्य उदाहरण इस गीत में प्रत्येक पद में हैं।

'सुधा सीकर से नहला दो।' (पृ० १७५)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत किया गया है। कल्याणी पर्वतेश्वर के यहाँ बन्दी है। उसकी निराशा, वेदना, संघर्ष अपनी चरमसीमा पर है। वह तो अपने जीवन का अन्त कर देना चाहती है किन्तु जीवन के प्रति आकर्षण उसे बचाए हुए है। आकाशीय चन्द्रमा को देख उसे अपने प्रिय 'चन्द्र' (चन्द्रगुप्त) की स्मृति हो आती है। वह गाने लगती है—

व्याख्या—जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त प्रकृति को अपनी आभा से आलोकित कर देता है उसी प्रकार वह उसे भी अपने अमृत के कणों से आप्लावित कर दे। उसके समस्त कष्टों एवं दुःखों का अन्त हो जाएं। उसके हृदय में उठने वाली उमंगें रस में अभिषिक्त हो जाएँ। उसका हृदय अर्थात् उसकी भावनाएँ उसके वश में न रह जाएँ। हे रूप के भण्डार (ईश्वर)! इस हृदय रूपी सागर को आनन्द रस में निमंजित करके वेदना से छुटकारा दिलवाओ।

उसके जीवन में निराशा एवं वेदना के अन्धकार ने डेरा जमाया हुआ है। उसे अपनी धवल रश्मियों से उज्ज्वल बना दे अर्थात् उसके हृदय में जो ज्ञानान्धकार रूपी कालिमा है वह ज्ञानरूपी प्रकाश से आलोकित हो जाए। आनन्द की हंसमालाएँ उसके हृदय को परिपूरित कर लें। पक्षियों के कलरव के माध्यम से वसन्त की पूर्णिमा अर्थात् उसके हृदय में आनन्द एवं हर्षोल्लास का निवास स्थान बन जाए।

आगे कल्याणी अपने हृदय की स्निग्ध भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए कहती है कि उसके करुणा से व्याप्त हृदय की वेदना अश्रुओं के रूप में नेत्रों के कोनों में एकत्र हैं। तुम उन अश्रुओं को अपने कोमल करों की अंगुलियों से इस प्रकार सहला दो कि वे मोती बन जाएँ अर्थात् तुम करुणा को हर्षोल्लास में परिवर्तित कर दो।

विशेष--(१) प्रस्तुत पंक्तियों में कल्याणी का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम व्यंजित हो रहा है। उसकी करुणापूर्ण एवं दयनीय स्थिति की झाँकी भी मिल जाती है।

(२) गीत सुन्दर एवं सीधा-सादा है।

(३) 'हँसी-हँसमाला' में रूपक और 'मधुराका आगमन कलरवों के मिस में अपन्हुति अलंकार है।

(४) मधुराका आगमन से आत्मानुभूति का अर्थ भी लगाया जा सकता है जो उपयुक्त भी है।

'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।' (पृष्ठ १७६)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत 'प्रसाद' द्वारा लिखित 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चतुर्थ अङ्क के द्वितीय अङ्क में नेपथ्य में गवाया गया है। सुवासिनी एवं राक्षस का वार्तालाप चल रहा है। राक्षस सुवासिनी को छोड़ना चाहता है। उसे अब कि वह चाणक्य की बालसंगिनी है। राक्षस निश्चेष्ट एवं हतप्रभ है। इस गीत के माध्यम से लेखक ने राक्षस को पुनः क्रियाशील किया है।

व्याख्या—रूप सौन्दर्य अत्यन्त तीव्र होता है। इसकी प्रचण्डता से हृदय घायल हो जाता है। रूप का प्रभाव सीधे हृदय पर होता है। यह हृदय में शूल की भाँति चुभता है। इसमें जादू की सी शक्ति होती है। मानवमन रूप-सौन्दर्य पर उसी प्रकार से आसक्त होकर टूट पड़ता है या उलझ जाता है जिस प्रकार प्रेमाभिभूत पतंगा दीपक की लौ पर अपने प्राण न्यौछावर कर देता है। रूप-सौन्दर्य अत्यन्त मादक होता है। इसकी मादकता सांध्यकालीन लालिमा के समान होती है। यह सौन्दर्य देखने में तो अत्यन्त कोमल, पुष्पों के समान सुगन्धित एवं पुष्पमाला के समान मधुर लगता है किन्तु वास्तव में यह लौह श्रृंखला से भी कठोर होता है, जो शरीर को झकझोरने की शक्ति भी रखता है।

विशेष—(१) लेखक ने रूप-सौन्दर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

(२) 'पतंग-सा' और 'सांध्य गगन-सी' में उपमा अलंकार है। 'रागमयी' में श्लेष है। इसका एक अर्थ लालिमापूर्ण है जो संध्या के साथ है और दूसरा अर्थ है मादकता जो हाला के साथ संगत बैठता है।

'मधुप कब एक कली का है।' (पृष्ठ १८५)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत 'प्रसाद' द्वारा विरचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अङ्क के चतुर्थ दृश्य से उद्धृत है। मालविका चन्द्रगुप्त पर आसक्त है। 'चन्द्रगुप्त' एकाधिक स्त्रियों की ओर आकृष्ट है। मालविका चन्द्रगुप्त की इसी प्रवृत्ति को मधुप के माध्यम से अभिव्यक्त करती हुई गाती है।

व्याख्या—भ्रमर एक पुष्प पर आश्रित रहने वाला नहीं है। वह जिस कली में रस देखता है उसी की ओर आकृष्ट हो जाता है। वह पुष्प के यौवन, सुगन्ध आदि को देखकर उसी में उलझ जाता है और मदमस्त होकर उसका रस चूसता है और पूर्ण रस एवं आनन्द लेने के पश्चात् वह उड़ जाता है। इस प्रकार वह एकनिष्ठ प्रेमालाप नहीं करता वह तो कुञ्जों में विहार करने वाला है। वह स्वार्थ प्रधान है।

यदि भ्रमर को कोई पुष्प धूल-धूसरित दिखाई पड़ता है और उससे उसकी लगन लग गई है तो वह फिर धूल, काँटों आदि की चिन्ता नहीं करता, वह काँटों से उलझ कर भी उससे लिपटा रहता है। वास्तव में वह पागल प्रेमी है, जो प्रेम के मार्ग में किसी विघ्न-बाधा की चिन्ता नहीं करता और रंगरलियाँ मनाने में मस्त रहता है।

उसे (भ्रमर) तो रस संचयन मात्र से लगन है। उसे इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि पुष्प मल्लिका, सरोजिनी अथवा यूथीका है। वह तो रस संचयन एवं आनन्द के लिए किसी भी पुष्प से अठखेलियाँ करता है। अर्थात् उसे तो सदैव आनन्द दायिनी क्रीड़ा ही प्रिय है। वह कभी भी किसी पुष्प विशेष पर आश्रित नहीं रहता है।

विशेष—(१) सम्पूर्ण गीत में अन्योक्ति अलंकार का निर्वाह किया गया है। भ्रमर के माध्यम से चन्द्रगुप्त के प्रति उपालम्भ अभिव्यक्त है।

(२) अन्तिम पद में मल्लिका, सरोजिनी एवं यूथी पुष्प कल्याणी, मालविका एवं कार्नेलिया के प्रतीक है। मधुप चन्द्र गुप्त का।

(३) मालविका का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम अनन्य प्रेम है। उसने अपना प्रेम शब्दों के माध्यम से कभी अभिव्यक्त नहीं किया। यहाँ चन्द्रगुप्त के व्यवहार को देखकर वह सब कुछ कह गई है।

'बज रही वंशी आठों याम की ।' (पृष्ठ १८५)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत जयशंकर प्रसाद द्वारा विरचित नाटक चन्द्रगुप्त के चतुर्थ अङ्क के चतुर्थ दृश्य में मालविका ने गाया है। मालविका चन्द्रगुप्त के प्रति समर्पित है किन्तु उसने अपने प्रेम का आभास किसी को कभी भी न होने दिया। चन्द्रगुप्त ने मालविका से गीत गाने का आग्रह किया तो मालविका गा उठी—

व्याख्या—उसकी हृदय वीणा के तार अभी भी शिथिल नहीं पड़े हैं। अपितु उसमें हर समय प्रेम के भाव जागृत रहते हैं। उसके प्रियतम के सुन्दर मुख के स्वर अभी भी उसके हृदय में झंकृत हैं। उसके प्रियतम के मुख से निःसृत स्वर अब तक उसके हृदय में गूँज रहे हैं। इसी मोह की वंशी और मोह माया ने उसके हृदय में, मृग के समान चंचल नेत्रों में काम-क्रीड़ा को उद्‌बोधित कर दिया है। प्रिय अत्यन्त सुन्दर है। उसके रूप-सौन्दर्य सम्पन्न दो नेत्ररूपी प्यालों ने उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है अर्थात् उसके प्रेमी के रूप सौन्दर्य ने उसे पूर्ण रूप से आकृष्ट कर लिया है जिससे उसका हृदय सदा उसी ओर लगा रहता है।

विशेष—(१) मालविका एक अज्ञात देव (चन्द्रगुप्त) के प्रति समर्पित है। उसकी वाणी और उसका रूप माधुर्य उसे जकड़े हुए है। वह है ही ऐसा। एक नहीं नाटक की सभी प्रमुख पात्रियाँ उसके प्रति समर्पित हैं।

(२) अन्तिम पंक्ति में पूरक अलंकार की छटा अवलोकनीय है।

(३) इस गीत की संक्षिप्तता, भावों की प्रेषणीयता, संगीतमयता, वैयक्तिकता, तीव्रता आदि अत्यन्त भव्य बन पड़ी है।

'ओ मेरे जीवन की स्मृति । (पृष्ठ १८६)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चतुर्थ अङ्क के चतुर्थ दृश्य में मालविका द्वारा गाया गया है। मालविका किसी के प्रति प्रेमाभिभूत है। उसके जीवन की सांध्य वेला अत्यन्त निकट है। उसके जीवन की मधुर स्मृतियाँ उसे कोंध रही हैं। उसके अन्तर में अनुराग की उमगें उठने लगती हैं। वह गाने लगती है। वह अपने संवेदनशील हृदय को सम्बोधित करते हुए कहती है—

व्याख्या—न जाने उसके हृदय में अवस्थित स्मृतियाँ उसे क्यों आह्लादित कर रही हैं। उसके हृदय में अनेक स्वर्णिम स्वप्न जागृत हो रहे हैं। वह मन्थन है, उसमें प्रेम की लहरियाँ उठ रही हैं। फिर भी न जाने क्यों वह एक विशेष प्रकार की आशंका एवं कम्पन से पुलकित हो उठती है। उसके प्राण पुलकित हैं इसलिए उसके हृदय-तन्त्री के तार मोड़ न लिए जाएँ। अभी जो मन पुलकित हुआ है वह व्याकुलता के कारण समाप्त न हो जाए, टूट न जाए। वह अपने प्रेमी चन्द्रगुप्त को सम्बोधित करके कहती है कि उसका प्रेमी भी एक विचित्र प्रकार का प्राणी है। उसका प्रेम तीव्रता एवं आतुरता प्रदान करने वाला है जिसके कारण इन युगल मूर्तियों ने उसके हृदय में निवास बना लिया है। तुम मुझे यह तो बता दो कि तुम्हारे प्रेम की उन्मत्तता किसे व्याकुल बना कर कुचल देगी। तुम मेरे भावना रूपी अनुराग के नाविक हो अथवा अनुराग रूपी नाविक को हृदय से अतीत की मादक स्मृतियों में चले जाने का अवसर प्रदान कर रहे हो। अतीत की मादक स्मृतियाँ मुझे व्याकुल बना रही हैं जिससे वह स्मृतियों के पंखों पर चढ़कर स्वार्थ, घृणा, प्रवंचना आदि से भरे विश्व से दूर जाने का प्रयास करती है। वह इस विश्व के कोलाहल एवं झंझटों से दूर कल्पना-विश्व में जाने का प्रयास करती है। साथ ही, उसकी पूर्वानुभूति एवं स्मृतियाँ उसे द्वन्द्व में खींच लाती हैं। उसे अनेक विचार भाव-सागर में डुबाने-उतराने लगते हैं। भाव-लहरियों के शान्त होने पर वह अपने आतुर अनुराग को सम्बोधित करते हुए कहती है कि यदि वे उसके निराशायुक्त एवं कुण्ठाग्रस्त जीवन को नहीं देखना चाहते तो कम से कम उसके नवजीवन की रूपरेखा ही स्पष्ट कर दें। अर्थात् वह अपनी स्मृतियों से आग्रह-विनीत आग्रह करती हैं कि वे हृदय में निहित वेदना को जाग्रत करने का प्रयास न करें।

विशेष—(१) मालविका का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट है किन्तु वह कर्त्तव्यनिष्ठ है अतः उसका चरित्र सुन्दरता ही प्राप्त करता है।

(२) उसके जीवन की स्मृतियाँ उभरकर आती हैं।

(३) मालविका उन फूलों के समान चित्रित की गई हैं "जो 'पुष्पों के समान आकर सौरभ बिखेर कर चले जाते हैं।

'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती ।' (पृ०१६४)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चतुर्थ अंक के षष्ठम दृश्य से उद्धृत किया गया है। यवनों एवं देशद्रोहियों को देश से बाहर करने के लिए सभी कृतसंकल्प हैं। अलका राजनीति एवं क्रान्ति की ज्वलन्त चिन्गारी है। नागरिकों का समूह जा रहा है। अलका-सबसे आगे-आगे चल रही है। उसके द्वारा ही यह प्रयाण-गीत समवेत स्वर में गाया गया है। कवि कहता है कि —

व्याख्या—हिमालय पर्वत के उच्चतम शिखर से प्रबुद्ध एवं विशुद्ध सरस्वती अपनी आभा से आलोकित रहती है और जो सदैव स्वतन्त्र है—पुकार-पुकार कर प्रत्येक भारतवासी से कह रही है कि तुम देवताओं की सन्तान हो जो अमर है अथवा देवताओं की भाँति सदैव अजर अमर रहने वाले हो। मृत्यु के भय से डरना कायरता है। युद्ध स्थल में हँसते-हँसते प्राण विसर्जन उनका कर्त्तव्य है। यदि तुम दृढ़निश्चयी होकर सोचते और निश्चय अथवा निर्णय करते हो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि वास्तव में कर्त्तव्य (पुण्य) पथ निश्चय ही व्यापक एवं मजबूत-प्रशस्त है। यह मार्ग निष्कंटक न होते हुए भी उपयुक्त एवं अच्छा है। अतः इनको सदैव इन पर अग्रसर रहना चाहिए।

इन वीरों का कोई अन्य सहारा—पथप्रदर्शक—नहीं है। फिर भी वे निश्चित होकर आगे बढ़ें। उनकी यश की गाथाएँ रूपी असंख्य रश्मियाँ (किरणें) ही उनका मार्गदर्शन करेंगी। वे ही दिव्य एवं लौकिक ज्वाला बनकर तुम्हारे मार्ग को आलोकित करेंगी अर्थात् तुम्हारा मार्गदर्शन करेंगी। तुम मातृभूमि के सच्चे सपूत हो। अतः हे शूरवीरो, तुम कभी भी कर्त्तव्य-पथ से विमुख न होओ और साहस के साथ सदा अग्रसर रहो तुम्हें कभी भी विचलित नहीं होना चाहिए चाहे शत्रु रूपी समुद्र ही वाडवाग्नि बनकर तुम्हारे मार्ग में प्रस्तुत हो जाए अर्थात् वीर से वीर शत्रु भी तुम्हें मिलें किन्तु अपने प्राणों को न्योछावर करते हुए उस वाडवाग्नि में जलते हुए भी सदा आगे बढ़ो। अथवा तुम्हें निडर होकर उस समुद्र में वडवानल के समान धधक पड़ना चाहिए जिससे शत्रु सेना भस्मीभूत हो जाए। वे तुम्हारा तनिक भी अनिष्ठ नहीं कर पायेंगे। और हे वीरो ! भारत माता के सपूतो ! विजयश्री तुम्हारे चरणस्पर्श करेगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत गीत नाटकोचित तो हैं ही। भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल भी हैं। इस नाटक की रचना के समय अंग्रेजों के अत्याचार चरमसीमा पर थे। प्रसाद जी ने अंग्रेजों से मुक्ति प्राप्त करने की ओर भी इंगित किया है।

(२) सम्पूर्ण गीत की छंद योजना, शब्द चयन, लय, ताल, ओजगुण सभी उपयुक्त एवं अभिभूत करने वाले हैं। इस प्रकार के उद्‌बोधन एवं प्रयाणगीत हिन्दी-साहित्य को अमरत्व प्रदान करते हैं। यह सुन्दर सैनिक गीत है।

(३) राष्ट्रीय भावना में ओत-प्रोत यह गीत 'वन्देमातरम्' जैसा ही है।

सखे वह प्रेममयी रजनी। (पृ० २०७-८)

प्रसंग—प्रस्तुत गीत जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के नवम दृश्य से उद्धृत किया गया है सुवासिनी कार्नेलिया के साथ है। वह उसके मन में चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग जागृत करने के लिए अभिनय करती है। कार्नेलिया उसे अपनी सखी बनाती है और उससे कोई सुन्दर गीत गाने का आग्रह करती है। कार्नेलिया के प्रसुप्त भावों को जागृत करते हुए गा उठती है—

व्याख्या—हे सखी, यह रात्रि अत्यधिक मादक है। मन में मादकता के भाव जाग्रत करने वाली है। यह मन में अनेक प्रेम एवं सौन्दर्य के भाव जाग्रत करने वाली हैं। यह रजनी मानव नेत्रों में अनेक प्रकार के स्वप्नों का संचरण करने वाली है। यह हमारी भूतकालीन अनेक भावों को, प्रसुप्त भावों को झंकृत करके हमारे प्राचीन भावों को साकार रूप प्रदान करने का प्रयास करती है। ऐसा आभास होता है मानो रात्रि का सौन्दर्य नेत्रों में स्वप्न बनकर प्रवेश कर गया है। रात्रि के प्रेममयी होने से प्रेम के प्रभाव प्रकृति के अनेक उपादान स्तम्भित हैं। वृक्षों पर कोमल किसलय कम्पन विहीन हैं। चन्द्रमा भी मानों ठिठक कर खड़ा—स्थिर हो गया है। माधव अर्थात् वसन्त भी मानों पुष्पों की माला गूँथ रहा है, वह पुष्पों में मानों तारों की प्रकाश किरणों के धागे पिरो रहा है। चन्द्रमा में विशेष आभा है। उसके नेत्रों में मादक बनाने की शक्ति न जाने कहाँ से आ गई है। अर्थात् रात्रि में मादकता का भाव उत्पन्न करने की शक्ति आ गई है और वह अपना कर्त्तव्य निर्वाह कर रही है। चारों ओर

उज्ज्वल प्रकाश फैला है सौरभ से वातावरण सुगन्धित है ऐसा प्रतीत होता है कि चारों ओर साज-शृंगार चल रहा है। इसीलिए यह रजनी प्रेममयी है। समस्त सृष्टि वसन्त ऋतु के मन्दिर के समान बन गई है और इस मादक रजनी में तुम्हारे प्रेम की मादक स्मृति हो उठी है अर्थात् इस मादकतापूर्ण रजनी के प्रेमोपयुक्त वातावरण में अनेकानेक स्मृतिग्राँ मस्तिष्क कें चित्र फलक पर चलचित्र की भाँति उभर कर आ रही हैं। सोई हुई स्मृतियाँ जागृत होकर आ रही हैं। यह रात्रि अत्यन्त प्रेममयी होकर आई है।

विशेष—यह गीत गीतिकाव्य की अनेक विशेषताओं—संक्षिप्तता—वैयक्तिकता, कोमलकान्त पदावली, संगीत, माधुर्य गुण, भावात्मकता आदि को अपने में लिए हुए है।

(२) रात्रि के उद्दीपनकारी रूप का चित्रण है।

(३) 'सुवासिनी' अपने कर्त्तव्य में सफल हुई होगी', इस गीत को पढ़ने के बाद इसमें तनिक भी संशय नहीं रह जाता है।

: २६ :

चन्द्रगुप्त : प्रमुख अवतरणों की व्याख्या

(१) **आर्यावर्त का भविष्य ...... भयानक विस्फोट होगा।** (पृ० ५५)

संदर्भ—प्रस्तुत गद्यांश श्री जयशंकर प्रसाद जी द्वारा प्रणीत नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य से प्रस्तुत किया गया है। मालव गणपति का पुत्र सिंहरण तक्षशिला से राजनीति का पाठ्यक्रम समाप्त करके निकला है। उसे राजनीति पर दृष्टि रखने एवं जानकारी प्राप्त करने का आदेश हुआ है वह तक्षशिला की राजनीति से सजग है। जब चाणक्य ने उससे कहा कि यहाँ यवनों के दूत क्यों आये हैं तो सिंहरण कहता है कि—

व्याख्या—मैं यही जानने का प्रयास कर रहा हूं कि ये यवन दूत यहाँ क्यों आए हैं। वास्तव में सम्पूर्ण उत्तर-भारत में पारस्परिक मलोमालिन्य एवं वैमनस्य एक-दूसरे के विपरीत कार्य कर रहा है। कोई भी दूसरों की सुख-शान्ति एवं प्रगति को सहन नहीं कर सकता। राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य की भावना तो मानो किसी में रह ही नहीं गई है। इसलिए भारतवर्ष में आपसी फूट के कारण एक-दूसरे के प्रति कुचक्र रचे जा रहे हैं और झूठ-फरेबों को स्याही एवं लेखनी भारत का भाग्य लिखने के लिए तैयार है। अर्थात् यहाँ की परिस्थितियों के अनुसार भारत पददलित होगा। भारत की पराजय को कोई रोक नहीं पायेगा।

विशेष—(१) सिंहरण ने आम्भीक द्वारा यवनों से की गई अभिसन्धि की ओर संकेत किया है।

(२) सिंहरण के चरित्र की विशेषताएँ आरम्भ से ही उभरने लगती हैं। वह भारत के प्रति कर्त्तव्य परायण है, भविष्य को देखने वाला है, वर्तमान में सजग है, जागरूक है।

(३) नाटक की 'प्रारम्भावस्था' की सिद्धि होती है।

(४) कथन एवं भाषा पात्रोचित होते हुए भी नाटकोपयोगी है।

(२) ब्राह्मण न किसी ·····ज्ञान का दान देता है।' (पृ० ५६)

संदर्भ—यह कथन प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथक अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत किया गया है। चाणक्य एवं सिंहरण भारत के भावी विनाश पर विचार कर रहे हैं। उसी समय तक्षशिला का राजकुमार आम्भीक आकर इनके वार्तालाप में कुचक्र की गंध महसूस करता है और चाणक्य को ब्राह्मण कहते हुए अपशब्द कहता है। इसी का उत्तर देते हुए चाणक्य कहता है—

व्याख्या—राजकुमार तुम जो कहते हो कि मैं तुम्हारे राज्य में रहकर तुमसे ही अन्न एवं वस्त्र ग्रहण कहता हूं, यह वास्तव में तुम्हारा मिथ्या अहंकार है। ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी से कुछ प्राप्त करता है। वह तो सदा ही मुक्त रहकर ब्रह्मानन्द में विचरण करता है, उसे जरामरण का भय आदि कुछ नहीं रहता। अतः यह तुम्हारा झूठा अभिमान है कि तुम मेरा पालन-पोषण या भरण-पोषण करते हो। वास्तव में तुम ब्राह्मणत्व की गरिमा में अपरिचित हो। वस्तुतः ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ हैं। वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है किन्तु सर्व सामर्थ्य रखते हुए भी वह इस सांसारिक वैभव-सम्पन्नता को निःसार एवं तत्त्वहीन समझ कर त्याग देता है। वह विश्व के मायाजाल से बचा रहता है। उसका वास्तविक महत्त्व इसी में है कि वह विद्या एवं ज्ञान का अर्जन करता है और इनका दान देता है। वह विश्व के कल्याण के लिए ही जीवन का सर्वस्व न्यौछावर करता रहता है। अर्थात् सब कुछ सामर्थ्य रखते हुए भी वह स्वार्थ के स्थान पर परार्थ को महत्व देता है। क्यों कि ब्राह्मण का जीवन उसके ज्ञान-दान एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण पर निर्भर करता है, इसीलिए राजा लोग उन्हें अपने राज्य में रखते हैं।

विशेष—(१) चाणक्य के माध्यम से प्रसाद जी ने ब्राह्मणत्व का महत्व स्थापित किया है।

(२) चाणक्य ब्राह्मण का वही आदर्श स्थापित करता है, जो गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मयोगी का निश्चित किया है। वहाँ भी कर्म योगी को विश्व के माया स्तूपों से सर्वथा मुक्त माना है। यहाँ भी ब्राह्मण को निस्वार्थ भाव से विश्व के मायाजालों से मुक्त रहकर विश्व कल्याण करने वाला कहा है।

(३) आम्भीक एवं चाणक्य के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। एक का मिथ्या गर्व व्यंजित है, दूसरे की विश्वकल्याण करने की भावना एवं स्पष्ट-वादिता व्यंग्य है।

(४) भाषा परिष्कृत, अलंकृत एवं नाटकोचित है।

(५) 'माया-स्तूपों' में रूपक अलङ्कार है।

(३) हाँ-हाँ रहस्य है······· उद्घाटन करने गए थे।, (पृ० ५७)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी द्वारा प्रणीत 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत की गई हैं। आम्भीक, सिंहरण एवं चाणक्य के वार्तालाप को शंका की दृष्टि से देखता है। आम्भीक सिंहरण से पूछना चाहता है, वह उसे 'दुर्धर्ष' तक क्यों कहता है। सिंहरण गुरुकुल में केवल गुरु की आज्ञा पालन करने के लिए कहता है अलका मध्य में बोल पड़ती है तो आम्भीक उसे चुप रहने एवं बात का रहस्य खोलने के लिए कहता है। चाणक्य मुस्कराता है। आम्भीक को 'रहस्य खोलने' का उत्तर देता हुआ सिंहरण व्यंग्यात्मक शब्दों में कहता है।

व्याख्या—राजकुमार इसमें रहस्य अवश्य है किन्तु हमें सावधान रहने की आवश्यकता है। विदेशी आक्रमण से मुक्त होकर आज जब उत्तरी भारत सुख से निद्रा का आनन्द ले रहा है, तब तुम जैसे देशद्रोही लोग उसकी शान्ति को भंग कर देने के लिए तत्पर हैं। तुम यवन-आक्रमणकारियों से धन-दौलत एवं स्वर्ण-मुद्राएँ लेने वाले एवं देश के प्रति विश्वासघात करने वाले व्यक्तियों का रहस्योद्घाटन हम लोगों ने किया है और जब तुमने देश के प्रति असम्मानजनक कार्य किया है, उसकी सुखशान्ति को भंग करने के लिए तत्पर हो तो हमारे वार्तालाप के विषय भी तुम्हीं हो। तुम्हीं बाल्हीक देश तक यवनों से वार्ता-लाप—सन्धि करने के लिए गए थे जिससे तुम व्यक्तिगत अपमान का बदला चुका सको। तुम मुट्ठी भर स्वर्णमुद्राओं एवं व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए देश एवं समष्टि-हितों को भूल बैठे।

विशेष—(१) आम्भीक की स्वार्थपरता एवं शङ्कालुता पर प्रकाश पड़ता है।

(२) सिंहरण की निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता व्यंजित है।

(३) व्यंग्यात्मक भाषा का कुशलतापूर्वक वर्णन किया गया है।

(४) 'तुम मालव हो और यह मगध·········का सर्वनाश होगा।'

(पृ० ५६)

संदर्भ—प्रस्तुत कथन जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य से उद्धृत किया गया है। आम्भीक एवं अलका के चले जाने के बाद चन्द्रगुप्त, आम्भीक द्वारा किए गए सिंहरण के अपमान का बदला लेने के लिए कहता है। वह उसके अपमान को अपना अपमान समझता है। किन्तु चाणक्य सम्पूर्ण राष्ट्र को एक समझता है, वह व्यक्ति एवं क्षेत्रवाद को गर्हित समझता है। सम्पूर्ण आर्यवर्त की रक्षा एवं सम्मान उसका ध्येय है। वह दोनों को (सिंहरण एवं चन्द्रगुप्त) समझाते हुए कहता है।

व्याख्या—जब तुम लोग मालव एवं मगध होने का संकुचित दृष्टिकोण दोगे और राष्ट्र की व्यापक भावना को स्वीकार करोगे तभी राष्ट्र का कल्याण सम्भव है। और तुम अपने को मालव समझ कर अपने सम्मान की रक्षा को आवश्यक समझ रहे हो या अपने सम्मान की पूर्णता समझ रहे हो। सिंहरण से यह कहने के पश्चात् वे चन्द्रगुप्त से कहते हैं कि तुम भी अपने को मगध के प्रति अपनी निष्ठा के बल पर गौरवान्वित समझते हो किन्तु इनके अलग-अलग स्वाभिमान से राष्ट्र को कभी भी सम्मान नहीं मिलेगा तुम्हारा वास्तविक स्वाभिमान यही है कि तुम अपनी संकुचितता का परित्याग करके समस्त आर्यावर्त को अपना समझ कर उसके सम्मान की रक्षा करो। यदि हमने अपने इस संकुचित दृष्टिकोण को नहीं त्यागा तो निकट भविष्य में ही आर्यावर्त के सभी राष्ट्र स्वतन्त्र रहकर अलग-अलग पड़ जायेंगे और विदेशी आक्रमणकारी एक-एक करके इन सभी को अपने वश में करते चले जायेंगे। आज की छोटी-सी घटना ने ही आम्भीक को उत्तेजित कर दिया है। वह गान्धार का भावी राजकुमार है। आज की घटना उसके हृदय में कांटा बन कर चुभ गई है और अवसर मिलने पर वह सम्पूर्ण देश का अमंगल करने के लिए पर्याप्त है। फिर गांधारनरेश का पंचनद नरेश पर्वतेश्वर से विरोध भी है। अतः यह भी सम्भव है कि अवसर मिलने पर वह उससे भी बदला लेने के ए सन्नद्ध हो जाए। वह लालची युवक यदि यवन-आक्रमण कारियों का स्वागत

करे और सम्पूर्ण राष्ट्र का अमंगल करे तो इसमें कोई आश्चर्य नही होगा क्योंकि ये सारे कार्य उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही होंगे। अत: इन परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि हम मालव एवं मगध होने की संकुचित भावना को त्याग कर सारे राष्ट्र को एक समझें।

विशेष—(१) प्रसाद जी ने अपने सभी नाटकों में राष्ट्रीय भावना को मुखर किया है। यहाँ भी चाणक्य के माध्यम से ऐसा किया गया है। उनकी राष्ट्रीयता की भावना अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई पड़ती है।

(२) अतीत से सामग्री ग्रहण कर तत्कालीन परिस्थितियों को मुखरित किया गया है।

(३) चाणक्य की राष्ट्रीयता एवं दूरदर्शिता अंकित की गई है।

(४) यहाँ सूच्यवस्तु के रूप में आम्भीक के द्वारा यवन-आक्रमणकारियों की सहायता की सम्भावना को प्रस्तुत किया गया है। आम्भीक के चरित्र का पतन भी मुखरित होता है।

(५) भाषा परिष्कृत एवं सुसंस्कृत है।

(५) एक अग्निमय गन्धक······तब आओ देवि ! स्वागत। (पृ० ५६)

संदर्भ—प्रस्तुत कथन 'जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत किया गया है। चन्द्रगुप्त ने गुरुदेव चाणक्य को राष्ट्र के गौरव की रक्षा करने का वचन दिया। चाणक्य ने भारत पर भावी आक्रमण एवं आम्भीक की संकुचित भावना का जिक्र किया और सिंहरण को सावधान करके चला गया। सिंहरण अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए तत्पर है। वह अपने मन में विचार करते हुए कहता है कि—

व्याख्या—यवनों का आक्रमण तो अवश्यम्भावी है किन्तु आर्यावर्त भी उसका उत्तर देने के लिए तैयार है। हमारा देश यहाँ का असूत्रगार है—यहाँ के निवासी निश्चय ही फौलाद की भाँति शक्तिशाली हैं किन्तु आम्भीक यहाँ की सभी परिस्थितियों से परिचित हैं। वह देशद्रोही है। वह अग्निमय गन्धक के समान ही यहाँ—इस देश में विस्फोटक का कार्य करेगा। उसी के कारण इस आर्यावर्त की पुनीत भूमि पर भयानक युद्ध होगा। उसी के कुचक्रों के कारण भारत की वीरभूमि को भयानक युद्ध का प्रांगण बनाना पड़ेगा। भारत एवं

यूनान की तीव्र तलवारें आपस में टकराएँगी अर्थात् यूनान एवं भारतवासियों के बीच युद्ध होगा। ऐसी परिस्थितियों में चञ्चला रणलक्ष्मी, प्रफुल्लित होकर इन्दधनुष के समान सुन्दर विजयमाला लेकर भारतभूमि में विचरण करेगी। समस्त भूमि वीरों के रक्त से रंजित हो उठेगी और प्रलय के बादल मँडराने लगेंगे। ऐसे वातावरण में वीर पुरुष अपने आपको न रोक पायेंगे, उमंगित होकर युद्ध में कूद पड़ेंगे, उनके हृदय युद्ध को देखकर उसी प्रकार नृत्य करने लगेंगे जिस प्रकार मयूर बादलों को देखकर नाचने लगता है। यदि युद्ध होना आवश्यक है तो अवश्य होगा और फिर हम भी उसका स्वागत करने के लिए तैयार हैं।

विशेष—(१) युद्ध की विभीषिका का वर्णन किया है।

(२) जिस समय प्रसाद जी ने इस नाटक का सृजन किया उस समय भारत पर अंग्रेजों का राज्य था। उनकी फूट डालने की नीति का परिणाम सभी भारतवासी भोग रहे थे, उसकी अभिव्यञ्जना भी यहाँ हुई है।

(३) सिंहरण की वीरता प्रदर्शित की गई है। उसके उत्साह का वर्णन किया गया है।

(४) भाषा कलात्मक एवं आलङ्कारित होने से क्लिष्ट हो गई है। प्रथम पंक्ति में रूपक अलङ्कार है तो दूसरे वाक्य में निश्चय ही सांगरूपक है। 'इन्द्रधनुष सी विजय माल' और 'वीर हृदय मयूर-से' में उपमा अलङ्कार का प्रयोग है।

(५) स्वगत कथन होते हुए भी कथन की दीर्घता तो नहीं किन्तु रंगमंच की दृष्टि से भाषा दुरूह अवश्य है।

(६) मानव कब दानव से ········· किस बात को। (पृष्ठ ६०)

सन्दर्भ—प्रस्तुत कथन 'जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से प्रस्तुत किया गया है। आम्भीक के चले जाने पर अलका सिंहरण को समझाती है कि वह अपने सुख का ध्यान रखे। उसके अपमानजनक उत्तरों ने उसका जीवन विपत्तिमय बना दिया है जिससे आम्भीक द्वारा उसका अहित भी हो सकता है। इसी का उत्तर देते हुए सिंहरण पहले आम्भीक के

पतन का जिक्र करता है फिर अपने प्रति दिखाई गई सहानुभूति (अलका द्वारा) का उत्तर देता है।

व्याख्या—वस्तुतः प्रत्येक मानव के अन्तःकरण में, मानवीय एवं दानवीय, दो प्रकार की वृत्तियां निवास करती हैं। समय पाकर ही वे वृत्तियाँ कार्य करती हैं, किन्तु यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि कौन-सी प्रवृत्ति किस समय कार्य करेगी। सामान्यतः मानव शान्ति-प्रिय प्राणी है, बिना किसी प्रयोजन के वह कभी भी किसी को कोई कष्ट देना नहीं चाहता। इसीलिए वह अनाचारी बनने से भी बचा रहता है। किन्तु वह दुर्बल भी अत्यधिक है। वह तनिक से प्रलोभन के वशीभूत होकर जघन्य से जघन्य कार्य करने के लिए भी तत्पर रहता है। इसलिए मानव व्यवहार के विषय में कुछ भी कह सकना अत्यन्त कठिन है कि वह किस अवस्था में राक्षसों से भी अधिक अत्याचारी है, हिंसक एवं वन्य पशुओं से भी अधिक भयानक हो जाएगा। उसका हृदय पत्थर से भी अधिक कठोरता धारण कर लेगा जिससे उसके हृदय से मानवोचित गुणों—दया, क्षमा, सहानुभूति, करुणा आदि—का अभाव हो जाएगा। उसका हृदय कुत्सित से कुत्सित कार्य करने के लिए तत्पर हो जायेगा, कहा नहीं जा सकता। उसे अपने जघन्य कार्य भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। सिंहरण का इस सबसे तात्पर्य यही है कि अलका का भाई आम्भीक सिकन्दर से मिलकर भारत के प्रति देशद्रोहिता का परिचय देकर ये सारे कार्य करेगा और भारत की सुख-शान्ति को भंग कराएगा। उसकी यही प्रवृत्ति पाशविकता की चरमसीमा का उदाहरण होगी। उसकी यह चेष्टा निश्चय ही राक्षसी प्रतिमूर्ति है। जहाँ तक उसके स्वयं के जीवन का प्रश्न है उसका तो राष्ट्रसेवा ही मूल उद्देश्य है जिसके लिए मैं सब कुछ करने के लिए तैयार हूँ। मैं अपने विगत सुखों के लिए कभी भी चिन्ता नहीं करता हूं और आने वाले कष्टों की भी मुझे चिन्ता नहीं। मुझे अपने पर विश्वास है कि मैं बड़ी से बड़ी आपदाओं को भी सहन करने एवं उनसे छुटकारा पाने की सामर्थ्य रखता हूं अतः मुझे चिन्ता का कोई कारण दृष्टिगोचर नही होता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में सिंहरण का आत्मविश्वास एवं कर्मयोग और बाहुबल का विश्वास दृष्टिगोचर होता है। वह वास्तव में एक वीर पुरुष

के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें कर्त्तव्य एवं साहस के दर्शन होते हैं।

(२) यहाँ मानव जीवन के दौर्बल्य एवं उसके अधःपतन की ओर संकेत किया गया है।

(३) भाषा में ओजगुण दृष्टव्य है।

(७) झोंपड़ी ही तो थी ·······मर गया होगा। (पृष्ठ ६६)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी द्वारा रचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य से उद्धृत की गई है। चाणक्य तक्षशिला से अपने निवास-स्थान पर पाटिलीपुत्र में वापिस आता है। किन्तु उसे वहाँ अपना कुछ भी अवशिष्ट नहीं मिला। वह कहता है कि—

व्याख्या—यही वह स्थान है जहाँ पर मेरी छोटी-सी झोंपड़ी थी। आज वह भी जीर्ण-शीर्ण दशा में है। मेरे पिताजी इसी स्थान पर बैठकर, गोदी में लेकर मुझे खिलाया करते थे। वे पूर्ण सन्तुष्ट रहते थे। मुझे गोदी में लेकर इस झोंपड़ी में ही राज-भवन का-सा सुख अनुभव किया करते थे अर्थात उन्हें जो कुछ प्राप्त था उसी में वह आनन्द एवं सन्तुष्टि का अनुभव करते थे। वे ब्राह्मण थे और ज्ञान के आधार पर विश्व के साभान्य नियमों का पालन करते हुए जीवन-यापन करते थे। अर्थात् विश्व के नियामक नियमों, अर्थात् वे नियम जिनके द्वारा विश्व का नियमित संचालन होता है, का पालन करते हुए यज्ञ करके उससे बची सामग्री से अपनी जीविका चलाते थे। किन्तु आज कोई नहीं जानता वे कहाँ हैं। मुझे भी आज कोई पहचानता नहीं है और मगध का राष्ट्र भी यही है कि उसे भी अपनी प्रजा की चिन्ता नहीं है कि वह किस अवस्था में है। आगे वह अपने पिता के विषय में सोचता हुआ कहता है कि वे गरीब ब्राह्मण थे न जाने आज कहाँ मारे-मारे फिरते होंगे। या कौन कह सकता है कि वे मृत्यु का प्यारे हो गए हों।

विशेष—(१) मानव प्रकृति का चित्रण किया गया है। मानव को अपनों से प्रेम होता है। उनका ध्यान उन्हें सदा देना रहता है।

(२) चाणक्य के हृदय में सहज स्वाभाविकता, कोमलता आदि भावनाओं का निदर्शन यहाँ हुआ है।

(३) प्रजा के प्रति मगध की उदासीनता का वर्णन है।

(४) भाषा भावानुकूल, सहज, स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण है।
(८) पिता का पता नहीं····· विलीन हो जा।' (पृ० ६७-६८)

सन्दर्भ—प्रस्तुत कथन जयशंकर प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य से उद्धृत किया गया है। जब चाणक्य पाटलिपुत्र लौट कर आता है तो उसे प्रतिवेशी से पता लगता है कि उसके पिता को मगध सम्राट् ने निर्वासित कर दिया है और शकटार बन्दीगृह में पड़ा है। उसकी बाल परिचिता सुवासिनी अभिनेत्री बनने पर मजबूर हो गई है। तो वे क्रोधाभिभूत हो गए। प्रतिवेशी के चले जाने पर चन्द्रगुप्त क्रोधावेश में सोचता है कि—

व्याख्या—पिता जी का कोई ज्ञान नहीं कि वे कहाँ हैं। एक झोंपड़ी थी वह भी टूट-फूट गई। सुवासिनीं अभिनेत्री बन गई। सम्भव है उसका जब कोई वाक्य न रहा हो तो पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए उसने अभिनेत्री बनना स्वीकार किया हो। इस प्रकार एक साथ दो परिवार—एक मेरा (चाणक्य का) और दूसरा शकटार का—नष्ट हो गये, राजा को किसी की कोई चिन्ता नहीं। पाटलिपुत्र-मगध की राजधानी मानो कुसुमपुर ही विलासिता का कानन है, फूलों की सेज पर क्रीड़ा कर रही है अर्थात् विलासिता की क्रोड़ में सो रहा है। क्या मानव समाज ने राष्ट्र एवं स्वराजा का निर्माण इसलिये किया था कि वह आनन्द मनाए और प्रजा त्रस्त रहे। वस्तुतः राष्ट्र का निर्माण किया तो इसलिए था कि मानव उसकी छत्र-छाया में रहकर सुख शांति से रह सके किन्तु यहां इसका विपरीत ही हो रहा है। चाणक्य पुनः उत्तेजित हो जाता है। वह अत्याचार के बाहुल्य की कल्पना करके चिल्ला पड़ता है, मगध शासक सावधान हो जाओ। अब और अधिक अत्याचार सहन नहीं किये जा सकते हैं। मैं तुझे नष्ट कर दूँगा तुझे पलट दूँगा। अर्थात् अत्याचारी शासक को बदल दूँगा, तेरे स्थान पर नवीन शासन व्यवस्था की स्थापना करूँगा। वह कुछ देर सोचकर कहता है कि एक बार कम से कम नन्द से भेंट करके कह कर देख लिया जाये कि मुझे मेरी भूमि मिल जाये, वृत्ति मिल जाए तो मैं सब झगड़ों को छोड़कर कृषक का जीवन व्यतीत करूँगा। मैं अब अध्यापन कार्य भी नहीं करूँगा। मुझे इस विश्व से क्या लेना देना है, मुझे राष्ट्र की अच्छाई-

बुराई से क्या तात्पर्य है, चाणक्य की एक लकड़ी के खड़े खम्बे को देखकर कहते हैं कि सम्पूर्ण झोंपड़ी तो गिर गई है—नष्ट हो गई है केवल एक खम्बा शेष रह गया है। इसी स्तम्भ के साथ न जाने मेरी कितनी स्मृतियाँ सम्बन्धित हैं न जाने मैंने कितनी क्रीड़ाएँ इस स्तम्भ के साथ की थीं इसके साथ मधुर एवं सहज क्रीड़ाओं की स्मृतियाँ लिपटी हुई हैं। इसे देखकर आज वे सब स्मृति-पटल पर उभर कर आ रही हैं। जब सब कुछ समाप्त हो गया तो मेरे हृदय की स्मृति का यह अवशेष भी क्यों रह जाये और वह यह सोचकर उस खम्बे को भी खींच कर गिरा देता है।

विशेष—(१) चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व मुखर हो उठा है। एक ओर वे मगध को उलटने की बात सोचते हैं दूसरी ओर शांतिप्रिय जीवन के लिये कृषक का जीवन बिताने की बात करते हैं।

(२) मानवमन की सहज उदासीनता का भी वर्णन यहाँ किया गया है।

(३) मगध के अत्याचारी शासक की प्रजा के प्रति उदासीन भाव की व्यंजना भी की गई है।

(६) परन्तु बौद्ध धर्म ···· उपयुक्त हो। (पृ० ७४)

सन्दर्भ—प्रस्तुत कथन जयशंकर प्रसाद जी के नाटक चन्द्रगुप्त के प्रथम अंक के पंचम दृश्य में उस समय का है जब नन्द एवं राक्षस का सभा में बौद्ध-धर्म को लेकर तर्क चल रहा है। राक्षस बौद्ध धर्म की वकालत कर रहा है। वह कहता है कि सद्धर्म की शिक्षा ही पर्याप्त है और वह तो मगध में भी दी जा सकती है। तभी सहसा चाणक्य प्रवेश करता है और कहता है कि—

व्याख्या—बौद्ध धर्म का सिद्धांत केवल उन्हीं लोगों के लिए सार्थक एवं उपयुक्त है जो बौद्ध विहारों में निवास करते हैं। किन्तु जीवन के प्रत्येक कार्य में उससे सहायता नहीं मिलती है। उससे मानव-व्यवहार में पूर्णता नहीं आ पाती और इसीलिये यह शिक्षा अपूर्ण है। और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इससे सहायता प्राप्त नहीं हो पाती।

विशेष—(१) चाणक्य की निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता झलकती है।

(२) इन पंक्तियों में चाणक्य का ब्राह्मणत्व मुखर हुआ है।

(९) चाणक्य का सहसा प्रवेश और दौवारिक का त्रस्त अवस्था में प्रवेश नाटकीयता से परिपूर्ण है।

(१०) वह तो रहेगा ही.........असमर्थ प्रमाणित होंगे। (पृ० ७४)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के पंचम दृश्य से ली गई हैं। चाणक्य ने नन्द सभा में अचानक प्रवेश करके बौद्ध धर्म के मानव-जीवन के लिए अपूर्ण बताया और अपने को ब्राह्मणत्व स्नातक के रूप में प्रस्तुत किया। नन्द ब्राह्मणों से जलता है। वह इन्हें जलता हुआ अंगारा समझता है। और ताप केन्द्र समझता है। इसी पर चाणक्य कहता है कि—

व्याख्या—ब्राह्मण निश्चय ही तेजवान रहेगा। उसी से राष्ट्र का भला होगा वह परिस्थितियों का अध्ययन करता है और मार्ग का निर्माण करता है। जिस दिन ब्राह्मणों का नाश हो जाएगा उसी दिन आर्यावर्त्त का भी नाश हो जाएगा। यदि अमात्य ने यह निश्चय कर लिया है कि वह ब्राह्मणों को समाप्त कराके राष्ट्र का बौद्ध धर्म के सहारे उद्धार करेंगे तो यह उनकी महामूर्खता होगी। और उन्हें अपना अनिष्टकारी विचार त्याग देना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण ही राष्ट्र की भलाई के विषय में सोच सकता है। ब्राह्मणत्व के समाप्त होने के साथ-साथ राष्ट्र भी परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा जाएगा। क्योंकि बौद्ध लोग तो एक जीव की हत्या करने से भी डरने वाले होते हैं और राष्ट्र की रक्षा में नर हत्याएँ भी सम्भव हैं। इसलिए वे राष्ट्र पर आने वाली विपत्तियों से उसकी रक्षा कर पाने में असमर्थ ही रहेंगे। यहां तो रक्त पात की सम्भावना है। अतः बौद्ध धर्म का प्रसार करना निरर्थक है।

विशेष—(१) चाणक्य की स्पष्टवादिता एवं दूरदर्शिता द्रष्टव्य है।

(२) भाषा सीधी-सरल एवं प्रवाहयुक्त है।

(११) जन्म भूमि के लिए ही.....मैं पीछे कब रहूँगा। (पृ० ८०)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अङ्क के पाँचवे दृश्य से उद्धृत की गई हैं। सिंहरण यवन द्वारा घायल हो जाता है। अलका का स्नेह सिंहरण पर बढ़ता जा रहा है। सिंहरण साहसी और निर्भीक युवक है। अलका उसे विदा देने के लिए आयी है।

वह अपने देश वापिस जा रहा है। अलका उसके साथ मालविका को भेज रही है क्योंकि वह अकेला जाने की स्थिति में नहीं है। तभी सिंहरण अलका से कह रहा है कि--

व्याख्या—जैसा तुम कहोगी मैं वैसा ही करूँगा। मैं शीघ्र ही वापिस आऊँगा। जब आप जैसी सुकुमारी नारियाँ राष्ट्र सेवा के लिये प्रस्तुत हैं तो मैं देश सेवा के कार्य करने में कदापि पीछे नहीं रहूँगा। मातृभूमि की रक्षा करना पवित्र कार्य है। ऐसे पवित्र कार्य करने में कभी भी पीछे नहीं रह सकता। मेरे जीवन की सार्थकता मातृभूमि की रक्षा करने में ही है। जब कोमल नारियाँ युद्ध की भयानकता वरण कर सकती हैं तो मैं तो पुरुष हूँ जो नैसर्गिक रूप से कठोरता एवं ओज के प्रतिरूप हैं। अतः मैं राष्ट्र के लिए सर्वस्व न्योछावर करने के लिये कटिबद्ध हूँ।

विशेष—(१) इन पंक्तियों के लिखने के काल में नारियाँ भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध में भाग लेने लगी थीं। इस प्राचीन भाव को मुखर करके नाटककार ने युवकों को उत्तेजना प्रदान की है।

(२) सिंहरण की राष्ट्रीयता, निर्भीकता, कर्त्तव्यपरायणता आदि ता व्यंजित हैं ही; अलका की देशभक्ति भी अभिव्यक्त हुई है।

(१२) समीर की गति भी.........भयानक बनूँगा। (पृ० ८३)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद द्वारा प्रणीत ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अङ्क के सप्तम दृश्य से उद्धृत की गई हैं। चाणक्य को नन्द ने पकड़ कर बन्दीगृह में रख छोड़ा है। चाणक्य ने प्रतिज्ञा की है कि वह नन्द वंश का समूल नाश करेगा। बन्दीगृह में चाणक्य अपने विचार पर पुनर्विचार करते हैं। यहाँ उनका अन्तर्द्वन्द्व मुखर हुआ है। वे सोचते हैं कि—

व्याख्या—यहाँ जब, बन्दीगृह में हवा तक प्रवेश नहीं कर सकती तो इस शरीर के विषय में क्या कहा जा सकता है। वह तो पूर्ण रूप से अपने वश में नहीं है किन्तु मन में फिर भी अनेकानेक विचार आ रहे हैं। एक आन्दोलन मन में चल रहा है। कभी एक विचार आता है ता कभी दूसरा विचार आता है। यदि किसी प्रकार से भी मैं एक बार इस बन्दीगृह से अपने आपको मुक्त

कर पाता तो मैं यह सिद्ध कर देता कि यह दुर्बल ब्राह्मण राज्य को उलटने की शक्ति भी रखता है। ब्राह्मण अगर एक ओर कोमल है, दया का पुतला है तो वह अवसर पड़ने पर, कर्त्तव्य पालन करने के लिये अत्यन्त कठोर भी होता है, वह प्रलय तीव्र वायु एवं झंझावात का कारण भी बन सकता है। यदि मेरे शरीर को जकड़ने वाली इस्पात की कठोर शृंखलाएँ व पुष्प मालाओं के समान कोमल पड़ जाएँ और मैं मदोन्मत्त होकर इनको एक झटके के साथ तोड़ दूँ। अगले ही क्षण वे सोचते हैं कि यह सब कुछ हो सकना अत्यन्त ही कठिन है। असम्भव है। तो मैं क्या करूँ? क्या रोने लगूँ? बन्दीगृह की कठोरता से भयभीत होकर शिथिल बन जाऊँ। बन्दी गृह से मुक्त होने की भीख माँगूँ कि बन्दीगृह के कष्ट सहन करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। मुझे मुक्त कर दो। क्या मैं इन क्रूर अत्याचारी शासकों से भिक्षा माँगूँ कि मुझे मुक्त कर दो। किन्तु अगले क्षण ही उसके मस्तिष्क में दूसरा बिपरीत भाव आ जाता है। चाणक्य सोचता है कि नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा, मैं कभी भी ऐसा नहीं करूँगा। यदि मैं इन छोटे-से कष्टों से ही विचलित हो गया तो मेरी स्थिति वैसी ही हो जायगी जैसी कि एक छोटी-सी ठोकर खाने वाले की हो जाती है और वह उसे चूर-चूर होकर साहस त्याग बैठता है। मैं इतना दुर्बल भी नही हूँ कि साधारण-सी यन्त्रणा भी सहन न कर सकूँ, मैं सब-कुछ सहन करने के लिए कठोर हूं। वह फिर प्रतिज्ञा करता है कि जीवन में वह कभी भी किसी से दया-याचना नहीं करेगा और वह कभी समर्थ एवं लायक होने पर किसी पर दया करेगा भी नहीं। क्योंकि जो जैसा करता है उसे वैसा मिलना ही चाहिये। वे कहते हैं कि मैं अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये प्रलय की आँधी के समान अत्यंत तीव्र गति से बढ़ूंगा। मैं कर्त्तव्य मार्ग में इन्द्र के वज्र के समान भयानक एवं कठोर बनकर अग्रसर रहूँगा

विशेष—(१) इस स्वगत कथन में चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व मुखर हुआ है। किन्तु वह कर्त्तव्य को नहीं भूल पाता है जो इसका उज्जवल पक्ष है।

(२) चाणक्य के चरित्र की दृढ़ता पर भी प्रकाश पड़ता है।

(३) भाषा का प्रवाह तो सराहनीय है किंतु आलंकारिता से दुरूहता आ

गई है, जो रंगमंच की दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं है किन्तु पात्रानुकूल भाषा अवश्य ही कही जा सकती है।

(४) मध्य में रूपक एवं 'मदोन्मत्त विलासी के समान' और 'प्रलय के समान अबाध गति' में उपमा अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

(१२) त्याग और क्षमा ...... आवश्यकता है। (पृ० ८४)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के सप्तम दृश्य से अवतरित की गई हैं। चाणक्य नन्द कारागृह में बंद है। वररुचि उससे मिलकर अपने 'वार्तिक' में सहायता करने के लिये कहता है। चाणक्य राक्षस का भी विरोध करता है वररूचि राक्षस को क्षमा करने के लिये कहता है। वह कहता है, ब्राह्मण हो भाई ! क्षमा और त्याग के प्रमाण, तपोनिधि ब्राह्मण है। इसी का उत्तर देते हुए चाणक्य कहता है कि—

व्याख्या—हम लोग ब्राह्मण अवश्य हैं और समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा भी है। उनके महत्त्व का कारण है कि वह सर्वग्राह्य स्वर्ग—ऐश्वर्य—का भी त्याग करता है वह शक्तिशाली को भी क्षमा करता है जो बल क्षत्रिय का आवश्यक गुण है। इस त्याग और क्षमा के बल से ही वह तप और विद्या का संचयन करता है। समाज भी इसी त्यागी का सम्मान करता है और उसके समक्ष नतमस्तक रहता है। ब्राह्मण तो बल एवं ऐश्वर्य को भी क्षत्रियों एवं वैश्यों को दान कर देता है। इसी ज्ञान, तप, विद्या आदि पर विश्व की व्यवस्था चलती है। जिन वस्तुओं को हमने प्रतिदान किया है उसी से हमारा अपमान किया जाये ऐसा किस प्रकार सम्भव है। यह हमारे जीवित रहते हुए सम्भव नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थितियों में तप और विद्या से काम नहीं चलता जो पाणिनी के मुख्य विषय हैं। इन स्थितियों में अर्थशास्त्र वैश्यों के लिए और दण्डविधान—क्षत्रियों के सुधार के लिए आवश्यक हैं। अतः वररुचि तुम इसमें (पाणिनी) व्यर्थ समय न गंवाओ।

विशेष—(१) चाणक्य के माध्यम से ब्राह्मणत्व धर्म का सुन्दर चित्र खींचा गया है। नाट्यकार ने ब्राह्मण के लिए क्षमा एवं त्याग आवश्यक गुण माने हैं। इन्हीं के आधार पर उसे सम्मान मिलता है।

(२) प्रसाद जी ने 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भी ब्राह्मण को 'त्याग और क्षमा' की प्रतिमूर्ति प्रतिपादित किया है।

(३) प्रसाद ने आधुनिक जीवन में पश्चिमी सभ्यता के कारण दो दोषों—सत्ता (लोहा) और आर्थिक शोषण (सोना)—की ओर भी इंगित किया है।

(४) भाषा में ओज एवं ओत को बाँधने की शक्ति है।

(१३) **महाराज ! मुझे दण्ड दीजिए……… दण्ड दीजिए ! मृत्यु दण्ड।**

(पृ० ८८)

संदर्भ— प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी द्वारा रचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के अष्ठम दृश्य से उद्धृत की गई हैं। सिल्यूकस का दूत अलका को बन्दी बनाना चाहता था। वह स्वयं ही अपने पिता के पास आ गई है। गांधार नरेश को अलका के अपमान का दुःख है। इस सबका कारण वह आम्भीक के कृत्यों को ठहराता है। अलका कह रही है कि—

व्याख्या—महाराज आप मुझे कठोर से कठोर दण्ड दीजिए। बन्दीगृह में बन्द करवा दीजिए अन्यथा मैं तो फिर वही कार्य करूँगी जो अब तक करती रही हूँ अर्थात् देशप्रेमियों की सहायता करूँगी। देश की रक्षा में हाथ बटाऊँगी। यह भारतभूमि अपने ही शूरवीर; योद्धाओं के रक्त से रंजित होगी। जो मातृभूमि देवी के समान पालक होती है अब वही राक्षसी का रूप धारण करके अपनी सन्तानों की हत्या करेगी, उनके रक्त से स्नान करेगी अर्थात् यहाँ के वीर युद्ध करेंगे और मरेंगे और उनके रक्त में यह भूमि रंजित हो उठेगी। वह आगे कहती है कि सभी लोग एक जैसे नहीं होते हैं। सभी लोग आम्भीक की भाँति देशद्रोही अथवा लालची नहीं होंगे। अनेकों वीर निश्चय ही आर्यावर्त के सम्मान के लिए—इस भूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे, क्योंकि वे देश का सम्मान अपना ही सम्मान समझते हैं। आप मेरी बात याद रखना कि अपने को विश्वविजयी समझने वाली यवनों की सेना ने आर्यावर्त्त को पददलित कहने का दुस्साहस किया तो आर्यावर्त्ती के वीर पुरुष निश्चय ही शत्रु को नाकों चने चबा देंगे, उनके आक्रमण को विफल बनाने में सफल होंगे और योद्धा जो युद्ध के पश्चात् विकलांग बचेंगे,

अपंग एवं निस्सहाय व्यक्ति गांधार नरेश को विश्वासघाती समझेंगे और कहेंगे कि यह देश आर्यावर्त्त का द्वार था और उसके राजकुमार ने स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर देशद्रोहियों का परिचय दिया है और देशद्रोहियों की पंक्ति में मेरे पिता का नाम सबसे ऊपर होगा। महाराज ! मैं वह सब कुछ सुनना नहीं चाहती। मुझे जीवित न छोड़िए और वह मृत्यु दण्ड की याचना करती है।

विशेष—(१) अलका को वीर क्षत्राणी के रूप में चित्रित किया गया है। उसे भारतीय वीरों पर अटूट विश्वास है। उसका आत्मविश्वास मुखर हो उठा है।

(२) विश्वासघाती के प्रति रोष एवं घृणा प्रकट की गयी है।

(३) भाषा ओजपूर्ण होकर नाटकोपयोगी है।

(१४) धर्म्म के नियामक······दोष ही क्या है। (पृ० ९०)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के नवम दृश्य से उद्धृत की गई हैं। आचार्य चाणक्य ने पर्वतेश्वर से आग्रह किया कि मगध उद्धार के लिए वह अपनी सेना भेजे। वह वहाँ चन्द्रगुप्त को शासनाधीन बनाना चाहते हैं पर्वतेश्वर ने चन्द्रगुप्त को वृषल कहा तो आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय सिद्ध किया और कहा कि—

व्याख्या—इनके क्षत्रिय होने में सन्देह नहीं। और महाराज धर्म का नियमन करने वाले ब्राह्मण ही हैं, वे मेधावान हैं। सभी स्थानों पर सभी कालों में उनके न्याय को मान्य समझा जाता है। मैं ब्राह्मण हूँ अतः मुझे पूर्ण अधिकार है कि मैं उचित-अनुचित पात्र देखकर उन्हें कार्य सौंपूँ। अर्थात् ब्राह्मण जिसे समाज की रक्षा के योग्य समझे उसे क्षत्रिय बनाये अर्थात् क्षत्रिय धर्म सौंपे। वह जिसे पोषण के योग्य समझता है उसे वैश्य और सेवा के योग्य व्यक्ति को शूद्र धर्म सौंपता है। ब्राह्मण सार्वभौम बुद्धि सम्पन्न है। अतः उसे यह अधिकार मिला हुआ है, जिसके आधार पर वह सामाजिक व्यवस्था का संचालन करता है। वह धर्म आदि की व्यवस्था व्यष्टि को ध्यान में रखकर नहीं अपितु समग्र मानवता को ध्यान में रखकर करता है। बुद्धि के आधार पर ही वह इतर धर्मों का संगठन करता है। वह किसी भी व्यक्ति को उसके गुणों के आधार पर राजा बना सकता है और चाणक्य चन्द्रगुप्त में राजन्य-संस्कृति के

गुण देखता है इसीलिए वह उसे राजा बनाने के पक्ष में है।

विशेष—(१) यहाँ ब्राह्मण को महत्त्व न दिया जाकर ब्राह्मणत्व पर बल दिया गया है, जो तप, त्याग और विद्या संचयन की तत्परता से प्राप्त होता है।

(२) प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को मौर्य वंशी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो चन्द्रगुप्त के नायक होने में सहायक है।

(३) ओजस्वी भाषा का वर्णन किया है।

(१५) **रे पददलित ब्राह्मत्व...... जाता हूं पौरव।** (पृ० ६१)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियां जयशंकर प्रसाद द्वारा प्रणीत नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के नवम् दृश्य से उद्धृत की गई हैं। चाणक्य पर्वतेश्वर की सभा में पर्वतेश्वर से सहायता के लिए कहता है। किन्तु वह तैयार नहीं होता। चाणक्य भी क्रोधाभिभूत होकर उसके गर्व के चूर होने और आर्यावर्त्त के यवनों द्वारा पदाक्रान्त होने की सम्भावना ही नहीं भविष्यवाणी भी करता है। इस पर पर्वतेश्वर ने चाणक्य से उसकी सीमा से बाहर हो जाने के लिए कहा तो चाणक्य आकाश की ओर देखकर कहता है—

व्याख्या—उसका ब्राह्मणत्व पहले भी पददलित हो चुका है (यहाँ वास्तव में चाणक्य के आत्मसम्मान को ठेस लगी है।) और आज भी उसे फिर निर्वासित किया जा रहा है। मगध सम्राट् शूद्रनन्द ने मेरी शिखा खिचवाई फिर मुझे कारागार में बंदी बनवा दिया था। अब पंचनद सम्राट् पर्वतेश्वर अपने देश की सीमा से बाहर हो जाने की आज्ञा दे रहा है। इस आज्ञा से चाणक्य के मन में एक ज्वाला धधकने लगती है। राजा की अवहेलनामयी वाणी से चाणक्य के हृदय में विद्रोह की अग्नि प्रचंड हो उठती है। वह अपने मन में दृढ़ संकल्प करता है कि अपने कृत्यों एवं प्रयत्नों से देश में एक ऐसी अग्नि प्रज्ज्वलित करेगा जिससे क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र निःसृत होंगे जो उनके (चाणक्य के) अनुकूल कार्य करेंगे। वह अपने प्रयत्नों से ऐसे क्षत्रियों को अवतरित करेगा जो ब्राह्मणत्व की रक्षा करेंगे, ऐसे वैश्य अवतरित करेगा जो उसका पालन-पोषण करेंगे और ऐसे शूद्र उत्पन्न करेगा जो उसकी सेवा करेंगे। ऐसा कहते हुए चाणक्य वहाँ से चला जाता है।

विशेष—(१) यहाँ चाणक्य का आत्मसम्मान बोल रहा है। उसकी प्रतिज्ञा से एक बार सहृदय को लगने लगता है कि यवन भारत में न टिकने पायेंगे और मगध की जनता को भी नन्द से छुटकारा मिल जायेगा।

(२) ओजमयी भाषा का प्रयोग किया गया है।

(१६) आर्य चाणक्य और........विचारों में मग्न हैं। (पृष्ठ ६४)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी द्वारा विरचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के दशम दृश्य के अन्त से ली गई हैं। चन्द्रगुप्त की सिंह से रक्षा करने के बाद, उसे चाणक्य के साथ, सिल्यूकस अपने शिविर में ले जाता है। उन्हें परस्पर मित्रता का व्यवहार करते हुए देखकर अलका चक्कर में पड़ जाती है। वह सोचती है कि कहीं ये लोग भी यवन आक्रमणकारियों की राजनीति के शिकार तो नहीं हो गये हैं। अलका के इस स्वगत कथन में इसी को अभिव्यक्ति दी गई है।

व्याख्या—ओह! यहाँ तो आचार्य चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त भी यवनों के साथ हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये भी इन आक्रमणकारियों के साथ मिल गये हैं। जब चारों ओर आपत्ति के मेघ मंडरा रहे हों फिर रक्षा कौन कर सकता है। जब तीव्रगति से वायु चल रही हो, ओले पड़ रहे हों या फिर वर्षा न होने से चारों ओर सूखा का प्रकोप हो और दावानल चारों तरफ सुलग रही हो फिर उस समय में देश की रक्षा कौन कर सकता है अर्थात् सभी विपरीत परिस्थितियाँ इस देश में विराजमान हैं तो इस देश का अहित होना, पदाक्रान्त होना निश्चित ही है। जिस प्रकार से शून्य आकाश में केवल प्रतिध्वनि लौट आती है उसी प्रकार इस देश की स्थिति है। चारों ओर खोखलापन ही खोखलापन है। मेरे हृदय से भी इस ज्वलन्त प्रश्न का कोई उत्तर प्राप्त नहीं होता कि इस देश की रक्षा किस प्रकार हो सकती है। जब चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त के समान विश्वासपात्र एवं वीर, योग्य योद्धा भी शत्रुओं से मिल गए हैं तो फिर रक्षा की कल्पना करना भी असम्भव ही है।

विशेष—(१) यहाँ अलका की नारी सुलभ शंका अभिव्यक्त है।

(२) अलका की राष्ट्रीयता, देशभक्ति एवं सजगता का प्रमाण भी मिलता है।

(३) भाषा आलंकारिक बन गई है। स्वगत कथन प्रायः भाषा की बोझिलता वहन करते पाये जाते हैं। यहाँ भी यही है।

(१७) भूमा का सुख.........नहीं जा सकता। (पृष्ठ ६५)

सन्दर्भ—प्रस्तुत कथन जयशंकर प्रसाद द्वारा प्रणीत नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य से उद्धृत किया गया है सिन्धु तट पर दाण्डयायन ऋषि का आश्रम है। सिकन्दर के दूत ने उनसे आकर कहा कि जगतविजेता सिकन्दर आपसे कुछ उपदेश ग्रहण करना चाहते हैं। 'जगद्विजेता' शब्द पर व्यंग्य करते हुए दाण्ड्यायन कहते हैं कि—

व्याख्या—जिस व्यक्ति को विश्व की नियामिका शक्ति अर्थात् विश्व का नियमन करने वाली शक्ति के महत्त्व का बोध हो जाता है, जिस प्राणी को सर्वव्यापी सत्ता के सुख की अनुभूति हो जाती है। हे समाचार वाहक ! उसे इस भौतिक जगत के आकर्षक से आकर्षक पदार्थ, लौकिक, अस्थिर तड़क-भड़क वाले पदार्थ भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते हैं। जिसे तत्वज्ञान हो गया है, जो तत्वदर्शी है उसे विश्व-विजेता अथवा शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट् भी अपना दास नहीं बना सकता। वह किसी की शक्ति के सामने झुक नहीं सकता, वह किसी के कहे अनुसार कार्य नहीं कर सकता। दाण्ड्यायन महात्मा है उसे किसी भी भौतिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं, न मोह एवं प्रलोभन का कोई कारण उसे आकर्षित कर सकता है; फिर उसे सिकन्दर के पास जाने की क्या आवश्यकता है ? आगे दाण्ड्यायन कहते हैं कि अभी तो तुम्हारे राजा ने झेलम नदी भी पार नहीं की है तो तुम उसे जगद्विजेता किस भाँति समझते हो या तुम विश्व के एक भाग को उससे अलग करके, विश्व को छोटा बना देना चाहते हो ? अभी तो वह भारत को भी विजित नहीं कर सका है। मैं किसी भी लोभ, सम्मान के आकर्षण अथवा किसी के भय से किसी के पास नहीं जाऊँगा। मुझे ये सब अभिभूत नहीं कर सकते हैं।

विशेष—(१) दाण्ड्यायन के माध्यम से नाट्यकार ने भारतीय ऋषियों का आदर्श प्रस्तुत किया है।

(२) यहाँ शैवागम की शब्दावली प्रयुक्त की गई है। जो प्रसाद जी का

प्रिय दर्शन है। इन पंक्तियों की कामायनी की निम्न पंक्तियों से तुलना की जा सकती है—

'विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही दुख-सुख विकास का सत्य;
यही भूमा का मधुमय दान।'

(३) कई टीकाकार 'भूमा' का अर्थ 'पृथ्वी' करते हैं जो अनुचित है। यहाँ भूमा से तात्पर्य विश्व की नियामका शक्ति से है जो सर्वशक्तिमान है इसी अर्थ में प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग किया है।

(४) ओजस्वी वाणी में कथन नाटकोचित बन पड़ा है।

समस्त आलोक चैतन्य·········नहीं हो सकता। (पृष्ठ ९६)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियां जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य से उद्धृत की गई हैं। सिकन्दर के दूत ऐनिसाक्रीटीज से दाण्ड्यायन ने जाने से इन्कार कर दिया तो ऐनी० ने कहा 'यदि न जाने पर देवपुत्र दण्ड दें!' तो इस पर बड़ी ही निर्भीकतापूर्वक दाण्ड्यायन ने उत्तर दिया—

व्याख्या—जिन वस्तुओं की मुझे आवश्यकता रहती है उनकी पूर्ति तो प्रकृति कर ही देती है फिर मुझे दूसरों का शासन मानने की क्या आवश्यकता है? यह सम्पूर्ण प्रकाश, चैतन्यता एवं प्राणशक्ति अर्थात् आवश्यक ऊर्जा आदि सभी ईश्वर ने दी हैं। वही इन्हें मृत्यु के रूप में वापिस ले लेता है। मनुष्य ने इनको जब दिया ही नहीं है तो वह इन्हें वापिस किस प्रकार ले सकता है? यदि मानव इन्हें छीनने की अनाधिकार चेष्टा करता भी है तो यह उसका व्यर्थ एवं झूठा घमण्ड है। मैं तो प्राकृतिक पदार्थों पर ही निर्भर करता हूं। प्राकृतिक वस्तुएँ मेरा भरण-पोषण करती हैं, मैं तृणशय्या पर ही सो रहता हूं। यह शरीर ईश्वर प्रदत्त है। वही उसे वापिस ले सकता है इसलिए मुझे किसी से डरने का कोई कारण नहीं है और न ही दूसरों को मुझसे डरने का कोई कारण है। यदि इन्हें वह (दूत) ले भी जायेगा तो भी केवल उसका शरीर ही ले जाया जा सकता है। उसकी आत्मा मुक्त है उस पर किसी का अधिकार

नहीं हो सकता अतः देवपुत्र अर्थात् सिकन्दर का भी उस पर अधिकार नहीं हो सकता।

विशेष—(१) प्रसाद जी ने दाण्ड्यायन के माध्यम से भारत के तत्वज्ञानी महात्मा का आदर्श प्रस्तुत किया है।

(२) दार्शनिक विचारों पर गीता का प्रभाव है। गीता की—'जायते भ्रियते वा कदाचित्' पंक्ति में आत्मा को अजर-अमर ही नहीं चिरन्तन भी कहा है।

(३) ओजस्वी भाषा सहृदय को अभिभूत किये बिना नहीं छोड़ती।

(१६) जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे ...... कल्याण में लगी। (पृष्ठ ९८)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'जयशंकर प्रसाद' के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य से उद्धृत की गई हैं। सिकन्दर, सिल्यूकस, कार्नेलिया, एनिसाक्रीटीज के साथ दाण्ड्यायन के आश्रम पर जाता है। दाण्ड्यायन ने अलक्षेन्द्र का स्वागत किया। किन्तु सिकन्दर तो आशीर्वाद में जयघोष सुनना चाहता था? इस पर दाण्ड्यायन ने निर्भीकता का परिचय देते हुए कहा—

व्याख्या—इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारा जयघोष नहीं कर सकता। वह मेरा नहीं तुम्हारे सेवकों एवं तुम्हारी प्रजा का कर्त्तव्य है जिसके तुम सम्राट् हो। क्योंकि जयघोष करने में मुझे आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि विजय का तात्पर्य है, रक्तपात, नरहत्याएँ, अग्निकाण्ड आदि को आमन्त्रित करना और इनके बिना यह सब सम्भव नहीं है और मुझे इन सबमें आनन्द भी नहीं आता है और सिकन्दर विजयरूपी कामना तो सदैव ही पराभव में विलीन होती है। यदि तुम वास्तव में यश प्राप्त करना चाहते हो तो अपने राज्य को सुव्यवस्था प्रदान करो, इसमें मंगलकारी कार्यों का आविर्भाव करते हुए प्रजा के कल्याण की कामना से कार्य में तत्पर रहो। अनवरत युद्धों और उनमें विजय प्राप्त करने से कभी भी यश नहीं मिलता। अतः कुमार्गों से बचकर, कुत्सित वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके प्रजा के कल्याण एवं समृद्धि की ओर ध्यान देना चाहिए। तभी वास्तविक यश की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष—(१) भारत के अनेक विद्वानों ने राजनीतिक रहस्यों का उद्घाटन किया है। दाण्ड्यायन ने भी अपना परिचय इस रूप में सुलझे हुए विचारों द्वारा दिया है।

(२) भारतीय राजनीति का सारतत्व एक-दो पंक्तियों में प्रस्तुत करके प्रसाद ने अपने आचार्यत्व का परिचय दिया है।

(३) भाषा प्रसंगानुकूल होकर प्रवाहमयी है।

(२०) लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रणकला का उपहास करना है। (पृष्ठ १०५)

सन्दर्भ---प्रस्तुत वाक्य 'जयशंकर प्रसाद द्वारा प्रणीत नाटक 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत किया गया है। चन्द्रगुप्त एवं सिकन्दर में वार्तालाप चल रहा है। चन्द्रगुप्त कुछ दिन यवन शिविर में रहकर उनकी रणनीति से परिचित हो गया है। सिकन्दर उसकी सहायता करना चाहता है तो चन्द्रगुप्त निर्भीकतापूर्वक उसे बतलाता है कि वह शासक बनना नहीं चाहता वह तो मगध का उद्धार करना चाहता है। उसे आम्भीक की भाँति लोभी समझने की भूल भी नहीं की जानी चाहिएं। वह यवनों को लुटेरा कहता है जिस पर सम्राट् सिकन्दर उसे डराना चाहते हैं किन्तु चन्द्रगुप्त निडर है, वीर है वह कहता है कि —

व्याख्या—उसने जो कुछ कहा है वह सत्य ही कहा है। यवन वास्तविक वीर नहीं हैं। वे वास्तव में लुटेरे हैं जिस भाँति लुटेरे अन्यान्य साधन अपना कर दूसरों का माल हड़प करना चाहते हैं। उसी प्रकार यवन भी लुटेरे हैं, वे हत्या करके, दूसरों को डरा कर उनका वैभव, सम्पन्नता अपहृत करना चाहते हैं। ये वीर नहीं हैं, ये वीरता के नाम पर कलंक हैं। ये रणकला का मजाक उड़ाते फिरते हैं। विश्व में वास्तविक वीर सदा कर्त्तव्य भावना के वशीभूत होकर ही युद्ध करते हैं राज्य, धन, दौलत आदि के वशीभूत होकर नहीं, लोभी बन कर नहीं। यवन भी इसी प्रकार भारतीय जनता को लूटते हैं, उस पर अत्याचार करते हैं, गरीब एवं निरीह प्रजा पर इस प्रकार के कहर ढाना वीरता का उपहास नहीं तो और क्या है? वीरता तो यह है कि सेना से लड़ा जाए। ये वीर नहीं ये वास्तविक लुटेरे हैं। वास्तविक वीर वे हैं जो प्रजा के कल्याण के लिए अत्याचार एवं अत्याचारी से युद्ध करते हैं। वे लोभी बनकर कभी भी नरहत्या नहीं करते हैं। वास्तविक वीर सदा मानव

कल्याण की बात सोचते हैं। यवनों को वास्तविक वीर कहना, वीरता एवं रणकौशल का उपहास करना मात्र है।

विशेष—(१) प्रसाद जी ने एक वाक्य में ही यवन रणनीति का जनाजा निकलवा दिया है।

(२) चन्द्रगुप्त की निर्भीकता, वीरता, साहस, स्पष्टवादिता आदि के दर्शन होते हैं।

(३) भारतीय वीरता का आदर्श भी अभिव्यंजित हुआ है।

(४) भाषा पर अपूर्व अधिकार का एक वाक्य में ही देखना हो तो यह वाक्य उद्धृत किया जा सकता है।

(२१) स्वच्छ हृदय भीरु कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य! देशद्रोही! आम्भीक! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है। (पृष्ठ १०६)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'प्रसाद जी द्वारा विरचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत की गई हैं। चन्द्रगुप्त ने यवन आक्रमण कारियों को लोभी एवं वीरता के नाम पर कलंक घोषित किया तो सिकन्दर आश्चर्य में पड़ गया और सिल्यूकस को आश्चर्यमिश्रित क्रोध से पुकारा तो चन्द्रगुप्त ने फिर निर्भीकता का परिचय देते हुए कहा—'सिल्यूकस नहीं, चन्द्रगुप्त से कहने की बात चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिए।" इसमें आम्भीक की अशिष्टता प्रतीत हुई और चन्द्रगुप्त ने शिष्टता का वास्तविक अर्थ समझाते हुए आम्भीक से कहा—

व्याख्या—तुम जो कहते हो कि मैं शिष्टता से बातें करूँ। क्या मैं अशिष्ट एवं दुर्विनीत हूँ। मेरा हृदय स्वच्छ है उसमें कोई भी दुर्भाव छिपा हुआ नहीं है। उसमें भीरुता एवं कायरता नहीं है। जिन लोगों में ये भाव पाए जाते हैं वे बनावटी शिष्टता का स्वांग रचते हैं किन्तु न मैं लोभी या कायर हूँ और न ही मेरे हृदय में कोई दुर्भाव है अतः में बनावटी शिष्टता का आवरण अपने व्यवहार पर नहीं डाल सकता। फिर मैं तुम्हारी भाँति देश-द्रोही नहीं हूँ। अनार्य भी नहीं हूं, नहीं किसी लालच धन-दौलत, राज्य, यश या बदला चुकाने के भाव से सिकन्दर के पास आया हूँ। न ही मेरे

ऊपर किसी घृणाजनक लोभ का अधिकार है तो फिर मैं दिखावे के लिए व्यवहार क्यों करूँ।

विशेष--(१) यहाँ चन्द्रगुप्त की राष्ट्रीयता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, आदि मुखर हैं तो आम्भीक की देशद्रोहिता एवं लोभी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति भी स्वतः हो गई है।

(२) भाषा परिष्कृत एवं सुस्पष्ट है।

(३) चन्द्रगुप्त से सहृदय का आकर्षण बढ़ता जा रहा है।

(२२) **पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं······चाहे कैसे ही हों।** (पृ० १०८)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के दूसरे अङ्क के दूसरे दृश्य से उद्धृत की गई हैं। मगध पर विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं। सिंहरण को यवन आक्रमण की सूचना प्राप्त हुई और वह चला आया। वह गुरुदेव चाणक्य की आज्ञा पाकर कर्त्तव्य में लग जाने के लिए तत्पर है। चाणक्य निश्चिन्त हैं। वह झेलम तट पर चन्द्रगुप्त एवं सिंहरण को अपनी नीति की रूपरेखा समझाते हुए कहता है कि—

व्याख्या—जिस प्रकार पौधे अंधकार में बढ़कर यौवन प्राप्त करते हैं, मेरी नीति रूपी लता भी विपत्ति-घनिष्ठतम् विपत्ति-रूपी अन्धकार में बढ़ती है, फलीभूत होती है। जब विपत्ति के मेघों की मात्रा अधिक होती है तभी उसका मस्तिष्क भी या बुद्धि और भी उत्तम नीतियों का निर्धारण करती है। वह इन विपत्तियों से विचलित नहीं होता अपितु और भी अधिक सूझ-बूझ का परिचय देता है। वह कहता है कि इस समय की परिस्थितियों को देखते हुए हम केवल वीरता और शौर्य के आधार पर सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि हमारे पास यवनों से टक्कर लेने के लिए पर्याप्त सैन्य-शक्ति का अभाव हैं अतः हमें जिस मार्ग से सफलता मिल सकती है उसे अपनाना चाहिए। वह अपना मत स्पष्ट करता है कि सफलता के लिये साधन चाहे जैसे अपनाये जायें किन्तु सफलता मिलनी चाहिए। उसकी नीति में सफलता या परिणाम आवश्यक है साधन को वह महत्त्व नहीं देता है। यह सिद्धि की प्राप्ति के लिए साधनों की नैतिकता को आगे नहीं रखता है। उसे जैसे भी हो सफलता मिलनी चाहिए।

विशेष—(१) यहाँ चाणक्य की राजनीति स्पष्ट मुखर हुई है। वह मगध का उद्धार और यवन आक्रमणकारियों से देश की रक्षा चाहता है। इससे आगे उसने अलका, सिंहरण और चन्द्रगुप्त को छद्मवेश धारण करके यवन सेना में अवरोध उत्पन्न कराया है। स्वयं भी ब्रह्मचारी बनकर इसमें भाग लेता है।

(२) चाणक्य का राजनैतिक या नीति निर्धारक रूप मुखरित हुआ है।

(३) भाषा प्रभावशाली एवं आलङ्कारिक है। उपमा के सहारे कथन में लोच उत्पन्न किया है।

(२३) **फूल हँसते हुए आते हैं ··· चला जाता है।** (पृ० ११७)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य से उद्धृत की गई हैं। सिन्धु देश की कुमारी मालविका मालव में सिंहरण की वाटिका में चन्द्रगुप्त के विरह में निमग्न है। उसका मन उदास है। वह अपने मन के अनुकूल ही प्राकृतिक उपकरणों में निराशापूर्ण प्रतिबिम्ब देखती है। वह विचार करती है—

व्याख्या—विश्व में सभी पुष्प मुसकराते हुये, हँसते हुए आते हैं और मकरन्द गिराकर अर्थात् वातावरण को सुगन्धित करके फिर मुरझा जाते हैं अर्थात् इनका जीवन अत्यंत ही करुणापूर्ण है। एक क्षण में मुस्कराते हैं, तो दूसरे ही क्षण वे मुरझा कर गिर पड़ते हैं। वह महसूस करती है कि ये पुष्प ओस के रूप में अपनी व्यथा के अश्रु गिराते हैं और समाप्त हो जाते हैं। वह इसी प्रकार की दशा पवन की भी सोचती है कि पवन का अत्यन्त कोमल झोंका आता है, प्रफुल्ल होकर आता है किन्तु निःश्वास लेता हुआ यहाँ से चला जाता है। पवन के इस प्रकार दीर्घ श्वास छोड़ने में ऐसा विदित होता है मानो वह जगत के प्रति दुःखात्मक भाव प्रकट करता है। वह आगे सोचती है कि क्या वास्तव में यह सम्पूर्ण विश्व, यहाँ के सभी प्राणी एवं पदार्थ रोने के लिये नहीं हैं किन्तु अगले ही क्षण वह सोचती है कि नहीं ऐसा नहीं है। सभी के लिये एक जैसे नियम नहीं हैं। यदि किसी के भाग्य में रोना अर्थात् कष्ट सहन करना लिखा है तो किसी के भाग्य में हर्ष अर्थात् सौभाग्य,

आनन्द आदि लिखा है। किन्तु वह सोचती है कि उसके भाग्य में तो रोना ही रोना लिखा है।

विशेष—(१) मालविका के चरित्र एवं उसके विचारों का उद्घाटन किया गया है।

(२) मालविका के मन में चन्द्रगुप्त के प्रति सोई भावना वातावरण पाकर जाग्रत हो उठी है।

(३) यह पंक्तियाँ गद्यगीत का सुन्दर उदाहरण हैं।

(४) प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप में मालविका अपने मनोगत भावों से साम्य स्थापित करके देखती है।

(२४) स्नेह से हृदय चिकना ...... भय भी होता है (पृ० १२१)

सन्दर्भ—प्रस्तुत वाक्य जयशंकर प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य के अन्तिम भाग से उद्धृत किया गया है। मालविका अन्य देशों को घूमने की इच्छा से आई थी किन्तु वह अलका के स्नेह से प्रभावित होकर तक्षशिला में रहने लगी। वह चन्द्रगुप्त के इन्द्रजाली रूप पर विमुग्ध हो जाती है। वह एक सरल हृदया नारी है जिसके कारण चन्द्रगुप्त उससे प्रभावित है। वह इस भाव को मालविका से स्पष्ट करके चला जाता है। मालविका का सोया प्रेमांकुर प्रस्फुटित हो उठा। वह कह उठी—

व्याख्या—यह वास्तविक एवं प्रेम संसार का तत्त्व है कि प्रेम हृदय को कोमल एवं स्निग्ध बना देता है किन्तु यह भी तथ्य ही है कि जहाँ चिकनापन होता है वहाँ विछलन भी आ जाती है। यही कारण है कि प्रेम मार्ग पर चलते समय विचलित होने का भय सर्वदा बना रहता है। वास्तविकता यह है कि मालविका को चन्द्रगुप्त से शंका रहती है कि वह प्रेम मार्ग में विचलित न हो जाये और उससे सम्बन्ध स्थापन में यही भय रहता है।

विशेष—(१) यहाँ मालविका के निश्छल हृदय का दर्शन होता है।

(२) 'स्नेह' शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ होते हैं। प्रेम एवं तेज। प्रेम को चिकना माना जाता है। इससे हृदय चिकना होता है। बिहारी का निम्न दोहा देखिए—

जो चाहे चटक न घटै मैलो होय न मित्त ।
रज राजस न छुआइय नेह चीकने चित्त ।।

(२५) पौरव ! ब्राह्मण राज्य ····· का पालन ही । (पृ० १४३)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य से उद्धृत की गई हैं । पर्वतेश्वर एक वीर एवं साहसी योद्धा है किन्तु वह अलका से पराजित होता है । वह भावना—आत्मग्लानि के भाव—से अभिभूत होकर आत्महत्या करने पर तुला है किन्तु चाणक्य उचित अवसर पर पहुँच कर उसे बचा लेता है । पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त से भी प्रसन्न है वह जब कहता है कि "मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकछत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है ।" तो चाणक्य कहता है कि—

व्याख्या—पवतेश्वर ! ब्राह्मण कभी भी राज्य करना नहीं जानता है और न ही उसकी इच्छा राज्याधिकार सुख भोगने की होती है । वह इससे कठिनतर कार्य करने की स्थिति में होता है । वह राजाओं का मार्गदर्शक अवश्य ही होता है । वह उपयुक्त व्यक्ति पहचानने में दक्ष होता है और योग्य व्यक्ति मिलने पर राजा बना सकता है । उसे ज्ञात है कि अभी तुम्हें राजा बना रहना चाहिए और क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए राज्य का संचालन करो । तुम्हारा जो अपमान यवनों द्वारा हुआ है उसका बदला लेना आवश्यक है । भारत का जो गौरव खो गया है उसे वापिस प्राप्त करने के लिए तुम्हें क्षात्र-धर्म का पालन करना आवश्यक है ।

विशेष—(१) चाणक्य के समक्ष भारत का सम्मान सदा रहता है । वह सदा इसी की रक्षा के लिए तत्पर दिखाई देता है । यहाँ भी यही है ।

(२) वह कुशल राजनीतिज्ञ है । यह भी मुखर हो उठा है ।

(२६) मनुष्य अपनी दुर्बलता·········तुम राज्य करो । (पृ० १४३)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद के प्रसिद्ध ऐतिहीसिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य से उद्धृत की गई हैं चाणक्य ने पर्वतेश्वर के गए सम्मान को पुनः प्रतिष्ठित करने की बात कही तो पवतेश्वर ने उसे असम्भव कहा । चाणक्य को अप्रिय लगा और उसे समझने के भाव से कहने लगे—

व्याख्या—वीर व्यक्ति के लिए इस विश्व में कोई भी कार्य असम्भव नहीं है। यदि मानव में सच्ची वीरता, साहस और लगन है तो वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। यह मानव मन की दुर्बलता है कि उसे अपनी शिथिलताएँ एवं कमजोरियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु इसके साथ-साथ उसे अपने बल एवं सामर्थ्य का भी ज्ञान होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने से पूर्व उसे शिथिल विचार मन में नहीं लाने चाहिए और न ही पथ से विचलित होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि किसी कार्य की क्लिष्टता को देखकर उसे असंभव कहकर नहीं छोड़ देना चाहिए अपितु उसकी परिस्थितियों को समझकर दृढ़ता से कृतसंकल्प होकर उसे करना चाहिये। पहले तुम अपनी शक्ति का अनुमान करो, उसे अच्छी प्रकार परखो। वास्तव में सिकन्दर ने अपने जीते हुए स्थानों पर जिन छत्रपों को नियुक्त किया है, जिसे वह अपनी विजय समझता है, जिन व्यवस्थाओं एवं सन्धियों को प्रगतिशील मानता है, जिन नृशंस हत्याओं पर वह अपना साम्राज्य विस्तृत करना चाहता है, वह मेरे रहते हुए तो कम से कम संभव नहीं है। चाणक्य यह सब सम्भव नहीं होने देगा। इसलिये तुम्हें निश्चिन्तता पूर्वक राज्य करना चाहिए।

विशेष—(१) यहाँ चाणक्य के माध्यम से कर्मवाद का वर्णन किया गया है।

(२) यहाँ प्रसाद जी का जीवन-दर्शन मुखरित हुआ है।

(३) आलङ्कारिक भाषा होते हुए भी दुरूहता नहीं है। सहृदय भाषा से बँधा रहता है।

(२७) नहीं चन्द्रगुप्त ······ मानवता की जन्मभूमि है। (पृ० १४५)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' के तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य से उद्धृत की गई हैं। कार्नेलिया भारतीय संस्कृति एवं चन्द्रगुप्त से प्रभावित है। उसे अपने ग्रीक देश स्मृति भी बनी रहती है। चन्द्रगुप्त कार्नेलिया से भारत देश के साथ-साथ चन्द्रगुप्त को भुलाने की पेशकश करता है तो कार्नेलिया कहती है।

व्याख्या—चन्द्रगुप्त ऐसा नहीं हो सकता, वह भारत को नहीं भूल सकती।

भारत देश उसे अपनी मातृभूमि की भाँति लगने लगा है। मुझे इसमें स्नेह होता जा रहा हैं। इस देश के हरे-भरे वन, सघन कानन, फली-फूली क्यारियाँ, पर्वत-श्रेणियों पर कलकल ध्वनि करती हुई अमृत के समान जल वाली नदियाँ, जो ऐसी लगती हैं, मानों पर्वतों के गले की हार हों, वर्षा से उत्पन्न होने वाली हरियाली, ग्रीष्म ऋतु की कोमल चाँदनी, शीतकाल में मधुर लगने वाली सुन्दर धूप, यहाँ के अत्यन्त मृदुल स्वभाव वाले निष्कपट कृषक और प्राकृतिक सौन्दर्य में नैसर्गिक सौन्दर्य लिए कृषक बालिकाएँ बहुत प्रिय लगते हैं। इन सबके बारे में बचपन में कहानियाँ सुनी थीं। मन में कुछ कल्पनाएँ थीं वे सबकी सब यहाँ साकार रूप में देखने को मिलती हैं। इस देश का सुख-सौन्दर्य स्वप्न के समान आकर्षक है अर्थात् यह देश सुख-सम्पदा से परिपूर्ण है। इस देश का प्रत्येक निवासी ज्ञान का आगार है। त्याग की प्रतिमा है। इस देश ने सदैव ज्ञान की रक्षा की है, यह ज्ञान का पोषक (पालने वाला) है और सदा दूसरों को ज्ञान का दान दिया करता है। यहाँ के प्रत्येक मानव का हृदय प्रेम से भरा हुआ है, सभी का व्यवहार सौहार्द्रपूर्ण होता है। क्या ऐसी मनमोहक एवं स्नेहशील, प्रणयपूर्ण भूमि-भारत को भुला पाना सम्भव है? यह भूमि कभी भी नहींभुलाई जा सकती। भारत से इतर देश केवल स्त्री-पुरुषों को जन्म देते हैं किन्तु भारत में मानव के साथ-साथ मनवोचित गुणों को भी जन्म दिया जाता है अर्थात् यहाँ के मानव मानवीय गुणों से परिपूर्ण हैं।

विशेष—(१) भारतीय प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया गया है।

(२) प्रसाद जी की राष्ट्रीयता की भावना चरमोत्कर्ष पर है। किसी विदेशी से भारत की महिमा का गान कराना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(३) भारत में मानवीय गुणों का जन्म दिखाकर तो भारतीय संस्कृति एवं यहाँ के महानुभावों के गौरव को अत्यन्त उच्च भूमि पर पहुंचा दिया है।

(४) सम्पूर्ण कथन में माधुर्य-गुण दर्शनीय है। गद्यगीत का सुन्दर उदाहरण यह पद बन पड़ा है।

(५) रूपक अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

(२८) सिकन्दर ने भारत……और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।

(पृ० १४६)

संदर्भ—प्रस्तुत भावनापूर्ण कथन प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य से उद्धृत किया गया है कार्नेलिया को ज्ञात है कि चन्द्रगुप्त और सिकन्दर का युद्ध अवश्य होगा। वह इनके पारस्परिक युद्ध के प्रति अपने निष्कर्ष को बताते हुए चन्द्रगुप्त से कहती है कि—

व्याख्या—सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया है किन्तु उसने (कार्नेलिया ने) भारत के विषय में अध्ययन किया है। मैंने इसे, इसके निवासियों को, यहाँ की संस्कृति को अध्ययन से जानने का प्रयास किया है। ग्रीक निवासी होने के कारण मैं वहाँ से तो पहले ही अच्छी तरह परिचित हूं। यह जो ग्रीक एवं भारतीयों का युद्ध है, यह केवल बाहुबल और अस्त्र-शस्त्रों का ही युद्ध नहीं है अपितु यहाँ बुद्धियों का युद्ध भी है। वास्तव में यहाँ दो देशों के दो विशिष्ट मनीषी-बुद्धिमान—अरस्तू एवं चाणक्य - की बुद्धियाँ भी युद्ध रत हैं। ग्रीक की मनीषा का प्रतिनिधित्व कर रहा है सिकन्दर और भारतीय बुद्धि कौशल का प्रतिनिधित्व कर रहा है चन्द्रगुप्त। वास्तव में युद्ध तो अरस्तू और चाणक्य की बुद्धियों का है। सिकन्दर एवं चन्द्रगुप्त तो इन दोनों के इशारे पर युद्ध करने वाले हैं अर्थात् ये दोनों इनकी युद्धनीति से युद्ध करते हैं अर्थात् चन्द्रगुप्त की शक्ति एवं नीति का निर्धारण चाणक्य के अनुसार है तो सिकन्दर अरस्तू की नीति पर कार्य कर रहा है। वास्तव में यहाँ सैन्य बल के साथ-साथ कूटनीति का भी संघर्ष है।

विशेष—(२) यहाँ ग्रीक एवं भारत की तुलना की गई है।

(२) कार्नेलिया के मस्तिष्क में युद्ध की प्रतिक्रिया का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है।

(३) यहाँ चाणक्य भारतीय विचारधारा और अरस्तू ग्रीक की विचारधारा के प्रतीक बन कर आये हैं।

(४) भाषा में ओजगुण के साथ-काथ नाटकोचित प्रवाह भी है।

(२९) धन्य हैं आप······जाना चाहता हूं। (पृ १४९-१५०)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियां 'प्रसाद जी' के ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य से उद्धृत की गई हैं। सिकन्दर भारत से वापिस जा

रहा है। उसमें और चन्द्रगुप्त में वार्तालाप चल रहा है। इसी समय सिल्यूकस चाणक्य से सिकन्दर का परिचय कराता है। वह (सिकन्दर) भारतीय वीरों से तो प्रभावित है ही उनके संगठनकर्त्ता से भी पूर्ण प्रभावित है। सिकन्दर भारतीयों की गुण-गरिमा का गान करते हुए चाणक्य कहता है कि—

व्याख्या—आप, भारतवासी धन्य हैं। मैं आक्रमणकारी के रूप में अपने हाथों में तलवार लेकर आया था किन्तु उसने (सिकन्दर) जिस अदम्य वीरता, साहस एवं शौर्य का दर्शन किया और यहाँ के जनों में जिस सहृदयता, और मानवीयता के दर्शन किये उससे मैं निश्चय ही आश्चर्यचकित हुआ हूँ। मैं जिस आक्रमणकारी हृदय को लेकर आया था, वह भाव ही समाप्त हो गया है। भारतीयों ने मेरा हृदय जीत लिया है। हृदय तो मेरा यहीं रहेगा अर्थात् भारतीयों का व्यवहार उसे जीवन भर याद रहेगा। युद्धक्षेत्र में जिन लोगों से तलवारों की भिड़न्त हुई है, उनसे मैं मैत्री का हाथ मिलाकर जाना जाहता हूँ क्योंकि मेरा हृदय इन वीरों से गद्गद् हो गया है। इनसे मैत्री करके जाना ही मेरे लिए सम्भवमात्र है।

विशेष—(१) प्रसाद जी की राष्ट्रीयता अपने चरमोत्कर्ष पर है। भारतीय वीरों का आदर्श विदेशी—वह भी महान् योद्धा—से कराना इस बात का प्रमाण है।

(२) भाषा का प्रवाह एवं ओज अभिनन्दनीय है।

(३०) **समझदारी आने पर ...... मरुभूमि बना देती है।** (पृ० १५८)

सन्दर्भ—यह कथन जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' के तृतीय अंक के छठवें दृश्य से उद्धृत किया गया है। कुसुमपुर में मालविका एवं अलका चली जाती हैं तो चाणक्य के विचारों की बाढ़ आ जाती है। उसके यौवन में प्रेम की अनेकानेक तरंगें आ रही थी वह अपने प्रिय पात्र के प्रति समर्पित रहने के लिए उन्मुक्त रहता था। किन्तु राजनीतिक दाँव-पेंचों ने उसके सभी भावों को कुचले रखा। किन्तु उसी समय वह एक सुन्दरी-सुवासिनी के सम्पर्क में आया था किन्तु उसे भी नन्द के दुर्व्यवहार ने कुचल दिया। इन पंक्तियों में चाणक्य इन्हीं कल्पनाओं एवं वास्तविक यथार्थपूर्ण जीवन पर विचार करता हुआ कहता है कि—

व्याख्या--यौवनागम में जीवन पर बुद्धि का कोई अंकुश नहीं रहता है किंतु जीवन के अनेक कटु अनुभवों ने उसे सिखा दिया कि सभी व्यक्ति प्रेम के पात्र नहीं होते हैं। यौवनावस्था में बुद्धि पर कोई अंकुश नहीं होने के कारण वह बिना बाधा के सरिता के समान बहती है अर्थात् उसे अच्छे-बुरे का तनिक भी ज्ञान नहीं रहता है किन्तु जब मानव की बुद्धि प्रौढ़ होती है, समझदारी आती है, तब तक यौवन के उमंग से परिपूर्ण दिन भी व्यतीत हो चुके होते हैं। प्रौढ़ावस्था में किसी के प्रति समर्पित होने का भाव भी चला जाता है जिस प्रकार से पुष्प माला में गुंथने से पूर्व सम्पूर्ण वातावरण को सुगन्धित रखते हैं किन्तु माला में गुंथने पर वे भी मुरझा जाते हैं --उनकी चमक-दमक एवं पराग आदि नष्ट हो जाते हैं। चाणक्य की अपनी स्थिति भी ऐसी ही है। यदि वह चाहे तो सुवासिनी को प्राप्त कर सकता है। किन्तु राजनीतिक दाँव-पेंचों, कर्त्तव्य-भावना आदि ने उसे (चाणक्य को) सुवासिनी के लायक नहीं छोड़ा है और उसके जीवन का सौरभ आदि सब कुछ समाप्त हो गया है। उसके हृदय से प्रेम भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। अब जब प्राप्ति का अवसर आया तो क्रूर भावनाओं ने उसके कोमल एवं स्निग्ध भावों को कुचल दिया है। समय आने तक विपरीत भाव एक-दूसरे से उलझते रहते हैं और कठोर का ही प्रभुत्व अवशेष रह जाता है। मानव के कर्त्तव्यपरायण होने पर कठोर भाव आकर कोमल भावों को विस्थापित कर देते हैं और मानव हृदय शुष्क होकर मरुभूमि बनकर रह जाता है।

विशेष—(१) चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व मुखरित हुआ है।

(२) प्रसाद जी ने यथार्थ जीवन के दर्शन का दर्शन यहाँ कराया है।

(३) इन पंक्तियों में गद्य गीत की कोमलता, माधुर्य, शब्द-विन्यास आदि के दर्शन होते हैं। भाषा काव्यात्मक एवं आलंकारिक बन पड़ी है।

(३) तुम सहायता करोगे·······तुम भूखे भेड़िए। (पृष्ठ १५६)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के तृतीय अंक के छठवें दृश्य से उद्‌धृत की गयी हैं। शकटार बनमानुष की भाँति एक मिट्टी के ढेर से बाहर निकल कर आता है। प्रकाश में उसकी आँखें चौंधिया रही हैं। उसके सात पुत्रों की हत्या का दोष नन्द के सिर पर है। वह इस

अन्धकूप में अत्यन्त कष्टमय जीवन व्यतीत करके बाहर निकला है। वह अचेत हो जाता है। चाणक्य उसे दुःखी मानव समझ कर उसे जल पिलाकर सचेत करता है और उसकी सहायता के लिए प्रस्तुत है। इस पर शकटार कहता है कि—

व्याख्या—मानव-मानव की सहायता करेगा। इसमें उसे आश्चर्य होता है। (वह चाणक्य से परिचित नहीं है)। शकटार भी मानव है और नन्द भी मानव है, नन्द ने मानव होकर एक मानव को इतनी यातनाएँ दीं और अन्धकूप में डलवा दिया। अतः वह (शकटार) यह मानने को तनिक भी तैया रनही कि एक मानव दूसरे मानव की सहायता करेगा। वह तो (मानव) मानव को जंगली, खूँख्वार पशुओं की भाँति नोंच डालने का प्रयत्न करता है। अतः उसे विश्वास है कि यह पुरुष (चाणक्य) उसकी क्या सहायता करेगा। वह आगे कहता है कि यह सम्भव है कि वह जंगली जानवर की भाँति एक साथ उसे न नोंच कर उस प्रकार से उसे सताये जिस प्रकार से जोंक एक मानव से चिपक कर धीरे-धीरे उसका रक्त चूसकर उसे समाप्त करती है। शकटार का विश्वास है कि मानव-मानव से स्वार्थ का नाता रखता है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो निःस्वार्थ भाव से किसी की भलाई कर सके। वह चाणक्य को दुत्कारता हुआ कहता है कि वह भी उसका भूखे भेड़िये…नन्द की भाँति रक्त चूसेगा।

विशेष—(१) प्रतिहिंसा की अग्नि व्यक्ति को कितना कठोर एवं अविश्वासी बना देती है। यह इस कथन से द्रष्टव्य है।

(२) नन्द के अत्याचारों में एक कड़ी और जुड़ जाती है।

(३) भाषा प्रवाहपूर्ण एवं ओजस्वी है।

म की

याँ